

मृत्यु की करतक

प्राचीन शास्त्र एवं आधुनिक ज्ञान



संपादक
बैद्यनाथ सरस्वती
रमलखन मौर्य

जीवात्मा के लिए सबसे बड़ा सत्य है मृत्यु। जीवन में केवल मृत्यु ही अवश्यभावी है क्योंकि यही एक स्थिति है जो जोगी और भोगी, राजा और रंक, शासक और शासित — किसी भी वर्ग में भेदभाव नहीं रखती। अलग-अलग धर्मों और दर्शनों ने अपने ही दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की है।

एन. के. बोस मेमोरियल फाउण्डेशन, वाराणसी, द्वारा आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये विचारों को एकत्रित करके श्री बैद्यनाथ सरस्वती एवं श्री रामलखन मौर्य ने पाठकों के समक्ष मृत्यु के स्वरूप को विस्तृत रूप में रखने का प्रयास किया है। "मृत्यु की दस्तक" में विभिन्न वर्गों के प्रबुद्ध जनों ने मृत्यु की अवधारणा और उसके धार्मिक एवं दार्शनिक अभिप्राय का अवलोकन किया है। केवल हिन्दू मत ही नहीं, ईसाई, मुस्लिम, जैन, बौद्ध और सिख धर्मों में किस दृष्टि से मृत्यु को देखा गया है — क्या वह अल्प-विराम है या पूर्ण-विराम? इन सब विषयों पर विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। मृत्यु के पश्चात् हर धर्म में विस्तृत कर्मकाण्ड होते हैं। यहाँ मुख्यतः हिन्दू धर्म में मृत्योपरान्त क्रमागत श्राद्ध कर्मों, उनकी विधि तथा कर्त्ता की योग्यता पर भी प्रकाश डाला गया है।

हर युग में हर संस्कृति ने मृत्यु-सम्बन्धी अनेक प्रकार के प्रश्नों को उठाया है। जहाँ जीव-विज्ञान और औषधि-विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि लुप्त जीव भी "क्लोनिंग" से पुनर्जीवित किया जा सके, वहाँ मृत्यु का सामाजिक और वास्तविक अभिप्राय क्या रह जाएगा? ऐसे और अन्य सवालों के उत्तर पाने के लिए यह पुस्तक सभी वर्गों द्वारा पठनीय है।



मृत्यु की दस्तक

मृत्यु की दस्तक

प्राचीन शास्त्र एवं आधुनिक ज्ञान

संपादक
बैद्यनाथ सरस्वती
रामलखन मौर्य



डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि.
नई दिल्ली



निर्मल कुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान
वाराणसी

Cataloging in Publication Data — DK

[Courtesy: D.K. Agencies (P) Ltd. <docinfo@dkagencies.com>]

**Saṅgoshṭhi: Mṛtyu kī Avadhāraṇā : Prācīna Śāstra aur
Ādhunika Jñāna (2002 : Varanasi, India)**

Mṛtyu kī dastaka : prācīna Śāstra evaṁ ādhunika
jñāna / sampādaka, Baidyanātha Sarasvatī, Rāma
Lakhana Maurya.

p. 23 cm.

In Hindi.

Seminar papers on the concept of death according to the
various religions and sacred works; mostly in Indian context.

Includes bibliographical references.

ISBN 8124603146

1. Death — Congresses. 2. Death — Religious aspects
— Congresses. 3. Philosophy, Indic — Congresses.
- I. Sarasvatī, Baidyanātha. 1932- II. Maurya, Rāmalakhana.
- III. Title.

DDC 291.564 24 21

ISBN 81-246-0314-6

प्रथम संस्करण, 2005

© निर्मल कुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान

इस पुस्तक का, या इसके किसी भी भाग का अनुवाद, या किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुतीकरण (सिवाय छोटे-छोटे उद्धरण के) के लिए कापीराइट धारक तथा प्रकाशक से लिखित रूप में अनुमति लेना अनिवार्य है।

प्रकाशक —

डी. के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि.

पंजीकृत कार्यालय : 'श्री कुञ्ज', एफ-52 बाली नगर,

नई दिल्ली - 110 015

दूरभाष: (011) 2545 3975, 2546 6019; फ़ैक्स: (011) 2545 5926

ई-मेल : dkprintworld@vsnl.net

वेब : www.dkprintworld.com

एवं

निर्मल कुमार बोस समारक प्रतिष्ठान

बी - 8/9, बाड़ा गम्भीर सिंह, वाराणसी - 221 001 (उ. प्र.)

दूरभाष: (0542) 2275289

ई-मेल : nkbfoundation@yahoo.com

मुद्रक : डी. के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., नई दिल्ली

विषय-सूची

प्रस्तावना

1

खण्ड 1 : मृत्यु धर्म के परिप्रेक्ष्य में

1. वीरशैव धर्म में मृत्यु का विचार 17
– चन्द्रशेखर महास्वामी
2. बौद्ध धर्म: मृत्यु की अवधारणा 21
– रामशंकर त्रिपाठी
3. मृत्यु महोत्सव : जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में 26
– मुन्नी पुष्पा जैन
4. जैन दर्शन में मृत्यु विज्ञान : संथारा के परिप्रेक्ष्य में 30
– अनेकान्त कुमार जैन
5. आराधना की जैन अवधारणा एवं संल्लेखना 34
– सुधीर कुमार राय
6. जैन धर्म में जन्म और मृत्यु 38
– सियाशरण पाण्डेय
7. सिख धर्म में मृत्यु का स्वरूप 44
– रेणु द्विवेदी
8. मृत्यु की अवधारणा : इस्लाम की दृष्टि में 50
– मुक्तदा हसन अजहरी

खण्ड 2 : मृत्यु शास्त्रों में

9. मृत्यु के नाना प्रकार 63
– ब्रजवल्लभ द्विवेदी

- | | | |
|--|--|-----|
| 10. | उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीता में मृत्यु की अवधारणा
— प्रभुनाथ द्विवेदी | 69 |
| 11. | मृत्यु विमर्श : विष्णु पुराण तथा अग्नि पुराण में विद्यमान
यमगीताओं के संदर्भ में
— कपिलदेव पाण्डेय | 78 |
| 12. | गीता में मृत्यु की संकल्पना
— बंशीधर त्रिपाठी | 83 |
| 13. | मृत्यु की अवधारणा : भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में
— रघुनाथ गिरि | 87 |
| 14. | मृत्यु की अवधारणा : एक अनुचिन्तन
— वशिष्ठ नारायण सिन्हा | 93 |
| 15. | ज्योतिष शास्त्र में मृत्यु विचार
— त्रिलोकनाथ मिश्र | 100 |
| 16. | मृत्यु का कर्मकाण्ड
— संतोष कुमार मिश्र | 110 |
| खण्ड 3 : मृत्यु और आधुनिक ज्ञान | | |
| 17. | मृत्यु की अवधारणा : प्राचीन शास्त्र और आधुनिक ज्ञान
— भानुशंकर मेहता | 127 |
| 18. | मृत्यु : सच्ची या झूठी
— विजय कुमार राय | 136 |
| 19. | मृत्यु : आध्यात्मिक दृष्टिकोण
— मिनती | 148 |
| 20. | अमरत्व पर विषरूपी मृत्यु का तांडव
— अजय कुमार श्रीवास्तव | 159 |
| 21. | भारतीय परम्परा में मृत्यु प्रसंग विचार
— हेतुकर झा | 166 |
| 22. | मृत्यु की अवधारणा : समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में
— कुसुम गिरि | 171 |

23.	मृत्यु की अवधारणा : एक समाजशास्त्रीय अनुदृष्टि — सुषमा खन्ना	176
24.	मेलान : एक लोक अवधारणा — राघवेन्द्र प्रताप सिंह	180
25.	जन्म, जीवन एवं मृत्यु — दीनानाथ झुनझुनवाला	183
26.	जीवन की मृत्यु सहेली है — रामप्रवेश शास्त्री	187
27.	मृत्यु के आनन्दमयी उत्तम स्वरूप विधायक प्रतीक व्यक्तित्व : महात्मा कबीर — रमेश नारायण	192
	सहयोगी लेखकों का परिचय	196
	अनुक्रमणिका	198

प्रस्तावना

— बैद्यनाथ सरस्वती

— राम लखन मौर्य

वाराणसी, 1-3 नवम्बर 2002। निर्मल कुमार बोस प्रतिष्ठान की ओर से बोस स्मृति संगोष्ठी का आयोजन। विषय था "मृत्यु की अवधारणा : प्राचीन शास्त्र और आधुनिक ज्ञान।" विभिन्न विद्याओं के चालीस विद्वानों ने इस संगोष्ठी में भाग लिया। उनमें से कुछ ने आंग्ल भाषा में अपने विचार प्रस्तुत किये, जिन्हें अलग से "Voice of Death : Traditional Thought and Modern Science" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया है। प्रस्तुत अंक में हिन्दी भाषा के 27 लेखों का संकलन है।

विषय प्रतिपादन

मृत्यु सार्वभौमिक है। जन्म भी सार्वभौमिक है। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से क्या ये दोनों समान हैं? अथवा मृत्यु के अपने सिद्धांत हैं और जीवन के इससे भिन्न? क्या इन दोनों का प्रारम्भ एक साथ हुआ था? अथवा एक दूसरे के बाद? ये किसमें स्थित हैं? किस प्रकार प्रकट होते हैं? मीमांसा की दृष्टि से क्या ये दोनों एक ही प्रकार के सत्य हैं? क्या ये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की प्रक्रिया में समान रूप से आवेष्टित हैं? जीवन और मृत्यु से परे क्या कोई तीसरा भी सत्य है? यदि हां तो क्या मनुष्य उस तीसरे सत्य का अनुभव कर सकता है? क्या सिर्फ मनुष्य को ही इसकी अनुभूति हो सकती है? अथवा अन्य प्राणियों को भी? क्या अमरत्व का बोध मरणोपरान्त ही होता है? कैसे? क्या जीवन और मृत्यु का चक्र एक दिन अपने आप सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगा? इस प्रकार की परिकल्पनाओं का आधार क्या है?

परम्परागत संस्कृतियों ने मृत्यु से सम्बन्धित अनेक प्रकार के प्रश्न उठाये हैं। समीचीन उत्तर देने का प्रयास भी किया है। हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार मृत्यु किसी पाप का परिणाम नहीं है। अपितु प्रत्येक जीव की यह एक अपरिहार्य अवस्था है। ऐसा कहा गया है कि मृत्यु प्रकाश में आप्लावित है। मृत्यु से ही जीव अमरत्व प्राप्त करता है। पार्थिव शरीर में अमरत्व प्राप्त नहीं हो सकता। मृत्यु अपने आप में अनिष्टकारी नहीं है। यह मनुष्य को देवलोक और

देव को मनुष्यलोक में पहुंचाती है। हिन्दुओं में एक और लोक की कल्पना है। वह है पितरलोक। पारमार्थिक दृष्टि से मृत्यु विश्व-व्यवस्था को उजागर करने वाली द्विगुण सत्य है। यह पार्थिव मार्ग की विपदा का अन्त करती है और आकाशीय मार्ग का द्वार खोलती है। मृत्यु एक ऐसा दृश्य-प्रपंच है जिससे समस्त विश्व में नैसर्गिक एकत्वता बनी रहती है। विश्व के रूपान्तरण में भी इसकी अहम् भूमिका है। यह परिवर्तन के द्वारा निरन्तर नवजीवन प्रदान करती रहती है। बौद्ध और जैन धर्मों में भी मृत्यु के इस पक्ष पर गहन विचार किया गया है। इसी आधार पर इन धर्मों का वैदिक, औपनिषदिक और पौराणिक परम्पराओं से सामंजस्य स्थापित होता है।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों ने भी मृत्यु का रहस्योद्घाटन किया है। इनके अनुसार ईश्वर (गॉड) में स्थित रहकर ही मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। ईश्वर का अवतार लेना और दुःख एवं मृत्यु को वरण करना ऐसी घटना है जिससे यह रहस्य स्पष्ट होता है। सूली पर चढ़कर ईसा मसीह ने मानव मृत्यु का हरण किया था। ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य को पाप से मुक्त करने के लिए वे स्वयं पुनर्जीवित हुए। सेमाइटी में यह आम विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य के जीवनकाल में भी विद्यमान रहता है। हिन्दू धर्म भी इस अवधारणा को स्वीकार करता है। इसके अनुसार ईश्वर समय-समय पर मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु के रूप में भी अवतरित होता है। सभी धर्मों में शरीर और आत्मा का भेद दर्शाया गया है तथा एक अथवा एक से अधिक ईश्वर के अवतरित होने की बात कही गयी है।

आदिमजातीय संस्कृति में मृत्यु की कल्पना अन्य संस्कृतियों से भिन्न है। उनकी ऐसी मान्यता है कि पार्थिव जीवन और मरणोपरान्त की अवस्था में कोई बहुत बड़ा (मौलिक) अन्तर नहीं है। वे यह भी मानते हैं कि परलोक का जीवन पृथ्वीलोक के जीवन से अधिक सुखद और सुन्दर है। उनकी दृष्टि में मृत्यु की स्थिति जीवन के अन्य परिवर्तनों से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। भिन्नता है नाममात्र की। पार्थिव शरीर परिवर्तनशील है। जीवात्मा मृत्यु से सातत्य बनाये रखती है। आदिमजातीय जीवन में समयबद्धता की प्रधानता है। व्यक्ति प्रत्येक संयोजन में स्वभावतः परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार की विश्वदृष्टि में यह मान्य है कि प्रत्येक जीव को मृत्यु और पुनर्जन्म का जोखिम बना रहता है। इस तथ्य को आध्यात्मिक सिद्धांत के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। आदिम संस्कृतियों की दृष्टि में मृत्यु जीव का निरन्तर साथी है। इनमें कर्मकाण्ड का महत्त्व है। मरणोपरान्त जीवन की कल्पना ऐसी है जो मनुष्य को अन्य प्राणी से अभिन्न तथा समस्त ब्रह्माण्ड के बीच उसे एकत्वता का बोध कराती है।

सिद्धान्ततः आधुनिक संस्कृति ऐहलौकिक जीवन पर ही केन्द्रीभूत है। इसमें मरणासन्न एवं मृतक के लिये किसी प्रकार की सम्बद्धता नहीं है। आधुनिकता की मनोवृत्ति वाले लोग परम्परागत समाज के विचार-व्यवहार से सर्वथा भिन्न हैं। प्राचीन समाज के लिये जन्म और

मृत्यु दोनों ही अपरिहार्य अनुष्ठान हैं। आधुनिकतावाद में ऐहिक व्यवस्था की प्रधानता है। इसमें शरीर का मोल है। आजकल अस्पतालों में मृतक शरीर को कृत्रिम रूप से "जीवित" रखने की व्यवस्था की जाती है। ऐसा करने का उद्देश्य क्या है? क्या अमरत्व का अर्थ है शरीर से चिपके रहना? यदि मृत्यु नहीं तो जीवन कैसा? अंधकार नहीं तो प्रकाश कैसा?

"मृत्यु" जीवन से कहीं अधिक व्यापक है। हिन्दू धर्मशास्त्र में इसके अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जैसे "शिव", "शुभ", "महाकाल" (प्रलय के देवता)। मृत्यु एक निरपेक्ष सिद्धांत है, आकस्मिक घटना है। "महाकाल" अपनी "तीसरी आंख" से सृष्टि का अन्त करते हैं। चीनी भाषा के शब्द "शिः" काल के लिये प्रयुक्त होता है। इसका तात्त्विक अर्थ है गुणात्मक काल। सृष्टि का प्रारम्भ और अन्त निर्दिष्ट काल से ही होता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का काल, विष्णु और महेश के काल से छोटा है। इस प्रकार का विश्वबोध सेमाइटी धर्मों तथा विकासवादी सिद्धांतों से सर्वथा भिन्न है।

विकास वैज्ञानिक और अनास्थावादी विद्वान् दोनों ही जन्म और मृत्यु के प्रश्न को अनासक्त भाव से देखते हैं। सृष्टि के विकास के क्रम में मनुष्य एक नवीन जीव है। अनास्थावादियों ने मनुष्य को संसार का सम्राट् मान लिया है। वे यह भी मानते हैं कि यह सम्राट् अस्थायित्व को प्रोत्साहित करता है। अर्थात् वे भौतिक वस्तु की क्षणभंगुरता को स्वीकार करते हैं। परस्पर व्यवहार में मानवीय सम्बन्ध भी क्षणिक हैं। इधर कुछ वैज्ञानिक निर्वापण (एक्सटिंक्विशन) के सिद्धांत की चर्चा करने लगे हैं। इनके अनुसार बहुतेरे प्राणी काल-क्रम से सदा-सर्वदा के लिए विलुप्त हो चुके हैं। प्रश्न उठता है — ऐसा क्यों? इनके निर्वापण का क्या कारण था? क्या खराब जीन (जीवाणु कोशतत्त्व)? अथवा कुछ और? क्या "निर्वापण" शाश्वत् विधान है? यदि हां, तो इस प्रकार प्राणियों में अस्तित्व (जीने की क्षमता अथवा आयु का) भेद क्यों? क्या यह भिन्नता दैहिक (फिजियोलॉजिकल) है अथवा आकृतिक (मारफोलॉजिकल) कारणों से है? क्या पेड़, पौधे, पक्षी एवं अन्य प्राणियों का जीवनकाल उसकी संरचना पर ही आधारित है? हिन्दू धर्म के अनुसार जन्म और मृत्यु दोनों ही काल और स्थान की विशेषता से जुड़े हुए हैं। इसमें शुभ और अशुभ का भी विचार किया गया है। इस प्रकार की धारणा का जैविकी से क्या सम्बन्ध है? धर्म और विज्ञान एक-दूसरे से कितना दूर और कितना निकट हैं?

उपरोक्त प्रश्नों के संदर्भ में विद्वान् लेखकों ने जो अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं उसे तीन खंडों में प्रस्तुत किया गया है — धर्म, शास्त्र और आधुनिक ज्ञान। प्रायः सभी लेख सिद्धांत प्रधान हैं।

प्रथम खण्ड — धर्म

प्राचीन लोगों के विचार में, "मृत्यु" धर्म की धारणा से सम्बन्धित है। प्रथम आठ निबन्धों में वीरशैव, बौद्ध, जैन, सिख और इस्लाम की दृष्टि से मृत्यु की अवधारणा को समझने का

प्रयास किया गया है। प्रस्तुत आठों लेख धर्म, ग्रन्थ और धर्माचार प्रवर्तकों के विचार पर आधारित हैं।

वीरशैव धर्म (लिंगायत सम्प्रदाय) के आचार्य श्री चन्द्रशेखर महास्वामी जी ने शैव सिद्धांत के आधार पर मृत्यु की व्याख्या की है। वीरशैव के प्रमुख ग्रंथ *श्री सिद्धांतशिखामणि* के अनुसार जीव के जन्म और मरण की निरन्तर आवृत्ति ही संसार-चक्र है। षडविधा विकारों से जीव निरन्तर चलायमान होता रहता है। *स्कन्द पुराण* में भी उल्लेख है कि जीवात्मा को अपने प्रारब्ध कर्म के भोग के लिये चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। प्रारब्ध कर्म का क्षय होते ही जीवात्मा शरीर का त्याग करता है, जिसे मरण कहते हैं। अट्ठाइस शैवागमों पर आधारित वीरशैव सिद्धांत पारमेश्वरागम में पुनर्जन्म का निषेध है। एक सौ एक स्थलात्मक साधना द्वारा साधक परशिव ब्रह्मा के साथ समरसता अनुभव करने लगता है, जिसके फलस्वरूप वह जीवनमुक्त हो जाता है। इस प्रकार साधक का पुनर्जन्म नहीं होता।

श्री रामशंकर त्रिपाठी ने बौद्ध दृष्टि में मृत्यु की अवधारणा का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत किया है। आत्मा और आत्मीय के अस्तित्व को नकारते हुए उन्होंने मरण के भेद एवं मृत्यु के कारणों (आयुःक्षय, कर्मक्षय, उपभयक्षय एवं उपच्छेदक कर्म) की विषद चर्चा की है। लेख के अन्त में, मृत्यु के समय होने वाले किसी भी प्रकार के भय एवं कष्ट से मुक्ति के लिये मरणानुस्मृति की भावना करने का निर्देश एवं भावना विधि का उल्लेख किया गया है।

सुश्री मुन्नी पुष्पा जैन ने जैन धर्म में मृत्यु महोत्सव की चर्चा की है। इसमें शरीर त्याग जैसे अटल सत्य के तीन भेद किये गये हैं - (1) *व्युत्* - आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटना, (2) *व्यक्ति विषय क्षण* - निमित्त कारणों से शरीर छोड़ना अर्थात् आत्मघात, और (3) *त्यक्त* - विवेक सहित संन्यासस्य परिणामों से शरीर छोड़ना। इनमें *त्यक्त* को ही सल्लेखनापूर्वक मरण कहते हैं। जीवन जीना ही कला नहीं, मृत्यु के क्षणों में विवेकपूर्वक स्वयं को सम्भाले हुए धर्म के साथ मरना उससे भी बड़ी कला है। जैन शास्त्रों में सल्लेखना द्वारा समाधिमरण को शाश्वत् सुख देने वाला कल्पवृक्ष के समान बताया गया है। इसमें जीवन का मोह, मरण का भय दोनों समाप्त हो जाते हैं। लेखिका ने सल्लेखना के साधक की मानसिक तैयारी तथा पुण्य यज्ञ में सहायकों की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

श्री अनेकान्त जैन ने जैन धर्म द्वारा स्वीकृत मृत्यु के स्वेच्छाकरण के संप्रत्यय संथारा अथवा सल्लेखना पर प्रकाश डाला है। मृत्यु अवश्यमभावी है। धैर्यवान, अधैर्यवान दोनों को मरना है। शीलवान भी मृत्यु को प्राप्त होंगे और अशीलवान भी। मृत्यु की अवश्यमभावी स्थिति में धैर्य और शीलपूर्वक मृत्यु का वरण करना सल्लेखना का वैचारिक आधार है। आत्मा को दुःख देने वाले चार कषायों (क्रोध, मान, माया, और लोभ) का क्षरण करना सल्लेखना का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है। अतः सल्लेखना द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना एक धार्मिक साधना है। जैन धर्म ने उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा अथवा रूग्ण स्थिति में (जब मृत्यु प्रतिकाररहित और

असाध्य हो तो) साधक को सल्लेखना करने का निर्देश दिया है। आत्महत्या और सल्लेखना में अन्तर स्पष्ट करते हुए लेखक ने मृत्यु के इस स्वेच्छावरण को परम आध्यात्मिक भावपरिष्कार की चिकित्सा की संज्ञा से अभिहित किया है।

श्री सुधीर कुमार राय ने जैनाचार्य शिवार्थ रचित *भगवती आराधना* के आधार पर समाधि-मरण की व्याख्या प्रस्तुत की है। इसके अनुसार मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है। मरते समय जो आराधक होता है उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और तप की साधना को "आराधना" कहा जाता है। तीर्थकरों द्वारा *जिनागम* में उल्लेखित मरण के सत्रह प्रकार बताये गये हैं जिन्हें संक्षिप्त कर *भगवती आराधना* के ग्रंथकार ने पांच तक सीमित किया है। *व्याख्या प्रज्ञप्ति* तथा *स्थानांग* में मरण के दो-दो भेद बताये गये हैं। इन मरण प्रकारों के क्रमशः बारह तथा अन्त में दो की भी चर्चा की गयी है। अन्त में लेखक ने सल्लेखना के विधि-विधानों का विस्तार से उल्लेख किया है।

श्री सियाशरण प्राण्डेय ने चिकित्सा विज्ञान एवं जैन धर्म की दृष्टि से जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। विज्ञान आत्मा की मरणता और पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता तथा मृत्यु को जीवन का सर्वथा अन्त मानता है। धार्मिक आध्यात्मिक दृष्टि में मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, मात्र शरीर का परिवर्तन है। जैन धर्मानुसार आत्मा और पुद्गल का संयोग ही जीवन का मूल तत्त्व है। पुद्गल द्वारा जीव को आवृत्त कर लेना ही बंधन है, तथा इनका संबंध-विच्छेद ही मृत्यु। ओज-आहार और आयुष्य का क्षीण होना मृत्यु है। लेखक ने अन्त में पुनर्जन्म की जैन अवधारणाओं पर प्रकाश डाला है। प्राणी के तीन शरीर — औदारिक, तेजस और कर्मण में अंतिम दो सूक्ष्म हैं जो मृत्यु के पश्चात् भी रहते हैं। इनसे युक्त रहते हुए आत्मा को औदारिक (स्थूल) शरीर को त्यागकर पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

सुश्री रेणु द्विवेदी ने सिख धर्म में मृत्यु के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। जीवन मृत्यु की सत्ता का आधार है। जन्म और मृत्यु के चक्र में फंसे इस संसार में मृत्यु अवश्यभावी है। किन्तु मृत्यु पंचभौतिक शरीर की होती है, जीव तो अविनाशी है। धर्मशास्त्रों की आध्यात्मिक दृष्टि को सिख धर्म में भी मान्यता मिली है। लेखिका ने जीव की अमरता तथा पूर्व एवं पूर्व जन्म की अवधारणा को रेखांकित करते हुए सिख धर्म के आदि प्रवर्तक गुरु नानक की रचनाओं में जन्म और मृत्यु के विचार की तलाश का प्रयास किया है। सिख धर्म गुरुओं का विचार है कि जीव अपने "किरत धर्म" अर्थात् किये गये कर्मों के अनुसार ही जन्म ग्रहण करता है और मृत्यु को प्राप्त करता है। माया के कारण कर्मोपभोग के लिए जीव शरीर धारण करता है, कर्मोपभोग पूर्ण हो जाने पर शरीर का त्याग कर देता है। मृत्यु के निश्चित होने पर भी जो ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लेता है वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, और जन्म-मरण के चक्र से छूटकर ईश्वर में समा जाता है। सिख धर्म में इसी अवस्था को जीव की अमरत्व प्राप्ति की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

श्री मुक्तदा हसन अज़हरी ने *कुरआन* और *हदीस* के आधार पर मृत्यु की विवेचना प्रस्तुत की है। इनके अनुसार मृत्यु अपरिहार्य सत्य है और उसके बाद नये जीवन का आगमन होता है। उन्होंने मृत्यु के बाद आत्मा की अवस्था, कब्र की अवस्था तथा सकयत् (मरणासन्न) अवस्था के प्रत्ययों की विवेचना करते हुए इमामगजाली, शाहवलीउल्लाह, और इमामइब्न कय्यूम के कथनों को उद्धृत किया है। इस्लाम की आस्था है कि मृत्यु के पश्चात् जब न्याय का दिन स्थापित होगा तब सम्पूर्ण मानव एवं जिन्न को जीवित करके उन्हें एकत्र किया जायेगा और उनके कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नर्क का अधिकारी बनाया जायेगा, जहाँ मनुष्य दण्ड या अच्छा प्रतिफल भोग करेगा।

द्वितीय खण्ड – शास्त्र

दूसरे खंड में धर्म की धारणा को स्पष्ट करने के लिये प्राचीन शास्त्रों, विशेषकर उपनिषद्, पुराण, तंत्र, ज्योतिष और कर्मकाण्ड, के आधार पर मृत्यु-सम्बन्धी विचार प्रतिपादित किये गये हैं।

तंत्र विद्या के आचार्य श्री ब्रजबल्लभ द्विवेदी ने शास्त्रों में मृत्यु के नाना प्रकार की व्याख्या की ओर ध्यान आकर्षित किया है। *नित्याषोडशिकार्णव* नामक त्रिपुरा-तेज की टीका के आधार पर बताया गया है कि काल, मृत्यु, यम और व्याधि वास्तव में एक ही तत्त्व के पर्यायवाची शब्द हैं। *कठोपनिषद्* में यम और नचिकेता का संवाद है। इसमें मृत्यु को ही वैवस्वत और अंतक भी कहा गया है। ये दोनों यम के ही नाम हैं। *योग शास्त्र* में भी काल शब्द मृत्यु का ही सूचक है। मृत्यु के रहस्य को जानने की नचिकेता की उत्कट अभिलाषा को देखकर यमराज इस पूरे उपनिषद् में इसके रहस्य को समझाते हैं। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि जो परलोक को नहीं मानता, वह जन्म-मृत्यु के निरन्तर गतिशील चक्र में चक्कर काटता रहता है। आगे इस पूरे उपनिषद् में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की पद्धति वर्णित है। पूरा उपनिषद्-साहित्य मनुष्य की मृत्यु पर की गई विजय-यात्रा का दस्तावेज है। समस्त उपनिषदों में भारतीय दर्शनों एवं धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक पुरुषार्थों की विशद व्याख्या मिलती है। मुक्त जीव किस शाश्वत स्थिति में रहता है, इस विषय पर प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी मान्यता है, किन्तु मृत्यु के पाश से वह सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाता है, इस विषय में सभी दर्शन एकमत हैं। जन्म और मृत्यु का चक्र सदा-सर्वदा के लिये कभी नहीं रुकता।

श्री प्रभुनाथ द्विवेदी ने उपनिषदों और *श्रीमद्भगवद्गीता* के आधार पर मृत्यु की अवधारणा पर प्रकाश डाला है। *छान्दोग्योपनिषद्* में एक आख्यान के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि सभी इन्द्रियों में प्राण श्रेष्ठ है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थों में मृत्यु को नाना रूपों में परिभाषित किया गया है – अग्नि मृत्यु है, प्राण मृत्यु है, अवांग प्राण मृत्यु है, संवत्सर मृत्यु है, बुभुक्षा मृत्यु है, प्रजापति मृत्यु है, श्रम मृत्यु है, आदित्य भी मृत्यु है, दिन

और रात्रि मृत्यु हैं, अग्नि, वायु, सूर्य और चन्द्रमा मृत्यु हैं। यहां जिसे मृत्यु कहा गया है वे मृत्यु के हेतु हैं। कारण और कार्य में अभेद मानकर उनकी मृत्यु रूपता प्रतिपादित की गयी है। *कठोपनिषद्* में मृत्यु को परमेश्वर (अनिर्वचनीय देवी) के उपसेचन (भोज्य वस्तु के साथ लगाकर खाने वाला व्यंजन) कहा गया है। *ऐतरेयोपनिषद्* में मृत्यु को अपान रूप कहा गया है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं को यम, काल और मृत्यु कहा है।

श्री कपिलदेव पाण्डेय ने *विष्णु पुराण* तथा *अग्नि पुराण* में विद्यमान यम गीताओं के संदर्भ में मृत्यु की व्याख्या की है। आयुष्य-समाप्ति का नाम मृत्यु है। मृत्यु के देवता यम माने गये हैं। यम के चौदह पर्यायवाची शब्दों में तीन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं — यम, काल और वैवस्वत। विद्वान् लेखक ने इसकी व्याख्या की है। यमराज अर्थात् मृत्यु देवता को सूर्य का पुत्र वैवस्वत बताया गया है। काल का एक अर्थ समय भी होता है, जो सूर्य से ही उद्भूत होता है। सूर्य की गति से ही दिन-रात, सौरमास, संक्रान्ति, वर्ष, अयन्, युग और कल्प बनते हैं। लोक व्यवहार में मृत्यु को व्यक्ति विशेष के कार्याजीव का काल आ जाने की बात कही जाती है। परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत शरीरापचय हेतु काल उपस्थित होने पर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के दो पर्याय हैं — मरण और यम। इस लोक में जो कुछ भौतिक या स्थूल है उसकी मृत्यु होती है तथा जो देश-काल एवं कारण-कार्य-नियम से परे है उसकी कभी मृत्यु नहीं होती, वह मृत्युरहित है, वह अमर है। शरीर की मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। *यमगीता* में बताया गया है कि विष्णु की भक्ति ही जन्म-मृत्यु के चक्र से किसी को मुक्ति दिला सकती है और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर प्रवृत्त कर सकती है।

श्री बंशीधर त्रिपाठी ने *गीता* के संदर्भ में प्रकृति, पुरुष एवं मृत्यु की व्याख्या की है। *गीता* स्वयं उपनिषद् है, विद्या है, योगशास्त्र है। *गीता* में जहां कहीं भी आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है, उसमें बार-बार यह बात कही गयी है कि आत्मतत्त्व नित्य है, अविनाशी है, अप्रमेय है, अछेद्य है, अजर है, अमर है, त्रिगुणातीत है, किंवा स्वयं परमात्म तत्त्व है। जीव रूप में देह में स्थित है। आत्मतत्त्व का ही दूसरा नाम पुरुष है। प्रकृति आत्मतत्त्व से भिन्न सत्ता है। पुरुष जब प्रकृति से संयोग की स्थिति में आता है तो वह देहगत हो जाता है। जब पुरुष अथवा जीव देह से पृथक् होता है तो इस स्थिति को ही मृत्यु कहते हैं। पार्थक्य के इस क्रम में मृत्यु देह की होती है, जीव की नहीं, देह की मृत्यु भी देह के विनाश के अर्थ में नहीं होती। मृत्युक्रम में पंचभूतों से निर्मित देह तत्त्व भूतों में लौट जाते हैं। भूतों का लौटकर अपनी मूल स्थिति में जाना ही मृत्यु है। मृत्यु की घटना पुराने वस्त्रों को उतारने जैसी है। पुनर्जन्म की घटना नये वस्त्रों को धारण करने जैसी है। गोस्वामी तुलसीदास जी *मानस* में जीव और देह के सम्बन्ध को लेकर जो रूपक बांधते हैं, उसका स्वर *गीता* से भिन्न है। गोस्वामी जी मानते हैं कि प्रकृति जड़ है और जीवन चेतना। इन दोनों के बीच मिलन की एक गांठ बन गयी है। यह गांठ इतनी उलझ गयी है कि इसे सुलझाना सब जीवों के बस की बात नहीं है। गोस्वामी जी के अनुसार देह में जीव की स्थिति वही है

जैसी पिंजड़े में तोते और मदारी की डोर से बंधे बन्दर की होती है। *गीता* का जीव ऐसी दासता की स्थिति में नहीं है। कबीर देह को घट और जीव को घटजल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। घटजल का दृष्टान्त और *गीता* का जीव एक-दूसरे से भिन्न हैं। घटजल में पुरुषार्थ का नितान्त अभाव रहता है जबकि *गीता* के देहस्थित जीव में पुरुषार्थ की प्रधानता रहती है। *गीता* में जीव और देह की जो संकल्पना की गयी है, वही जन्म एवं मृत्यु की गुत्थियों को सुलझाने में सक्षम है।

श्री रघुनाथ गिरि ने भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मृत्यु की अवधारणा पर विचार किया है। ऋग्वेद *संहिता* के नासदीय सूक्त में यह उल्लेख मिलता है कि एक समय ऐसा भी था जब न असत् था और न सत् था, न मृत्यु थी और न अमृत था, न दिन था और न रात्रि थी। इस कथन से तार्किक दृष्टि से एक और तथ्य उद्घाटित हो रहा है कि मृत्यु और जीवन में तार्किक विरोध नहीं है, अपितु मृत्यु एवं अमृतत्व में तार्किक विरोध है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में यह स्पष्ट निर्देश है कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मरेगा उसका जन्म होना अनिवार्य है। इस कथन का पूर्वार्द्ध सार्वभौम और निर्विवाद है किन्तु अन्तरार्द्ध शास्त्र प्रमाण या श्रद्धा एवं विश्वास के आधार पर ही मान्य हो सकता है, साथ-साथ यह निर्विवाद भी नहीं है क्योंकि विश्व में अनेक ऐसी धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यतायें हैं जिनमें मृत्यु के बाद जन्म होने की बात स्वीकृत नहीं है। भारतीय चिन्तन में उस पद, स्थिति, अवस्था का निर्देश किया जाने लगा कि मृत्यु के प्रभाव से सदा के लिये विनिर्मुक्ति है जिसे मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग, परमपद, निर्वाण, निःश्रेयस आदि शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाने लगा और उसकी प्राप्ति के उपायों पर चिन्तन, आचरण एवं अनुष्ठान का आरम्भ हुआ। यह पद आकर्षक तो है किन्तु श्रद्धा, विश्वास एवं शास्त्र प्रमाण के अतिरिक्त इसको मानने के लिये कोई दृढ़ आधार नहीं है। जिसकी मृत्यु होती है उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है? इस स्वाभाविक प्रश्न के उत्तर के लिये भारतीय तत्त्व मीमांसा की दो धारायें हैं — एक है नित्यवादी और दूसरी अनित्यवादी। दोनों धाराओं में मृत्यु के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार किया गया है। विश्व में एक ओर ऐसे प्राणी हैं जिनकी आयु कुछ क्षण से कुछ माह तक सीमित होती है, और दूसरी ओर कुछ ऐसे प्राणी हैं जिनकी आयु कुछ वर्षों से लेकर हजारों वर्ष तक की होती है। दर्शन-शास्त्र इसका कारण भोग की मात्रा को मानता है। भारतीय दर्शन में मृत्यु से सदा के लिये छुटकारा प्राप्त होने वाली जिस स्थिति की चर्चा की जाती है वह मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस् आदि नामों से जाना जाता है।

श्री वशिष्ठ नारायण सिन्हा के अनुसार मृत्यु की अवधारणा निरूपित करना कठिन है क्योंकि मृत्यु-सम्बन्धी न तो कोई अनुभव होता है और न किसी प्रकार की अनुभूति ही। इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुमान उसी का होता है जिसका कभी-न-कभी प्रत्यक्षीकरण हुआ रहता है। पाश्चात्य दार्शनिक सार्त्र ने कहा है कि "आदमी की कोई अवधारणा नहीं बनती है क्योंकि मनुष्य सदा होने की स्थिति में रहता है। अव-

धारणा तो उसी की बनती है जो पूरा हो चुका होता है।" सबसे विचारणीय बात तो यह है कि मृत्यु होती किसकी है? क्योंकि शरीर जड़ होता है और आत्मा अभय। अतः विद्वान् लेखक को ऐसा नहीं लगता है कि मृत्यु की कोई अवधारणा बनती भी है। फिर भी उन्होंने मृत्यु-सम्बन्धी कई आयाम उपस्थित किये हैं, जैसे मृत्यु के लिए प्रयुक्त प्रमुख शब्द महाप्रयाण, विदेह-मुक्ति, चिरनिद्रा, स्वर्गवास, मरना-मारना। प्राण के दस भेद, मृत्यु की कामचलाऊ अवधारणा, मृत्यु के चार प्रकार, जीवन और मृत्यु एक-दूसरे के पूरक, मृत्यु निश्चित अथवा अनिश्चित तथा मृत्यु साध्य या साधन। दार्शनिक लेखक ने इस प्रकार के कई प्रश्न उठाये हैं।

श्री त्रिलोकनाथ मिश्र ने ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार मृत्यु पर विचार किया है। ज्योतिष के दो प्रमुख विभाग हैं। एक गणित और दूसरा फलित इन दोनों का वही सम्बन्ध है जो शब्द और अर्थ का। *सूर्य सिद्धांत* ज्योतिष का आर्स ग्रन्थ है। इसके अनुसार मृत्यु के कई प्रसंग और पक्ष हैं। शुभ और अशुभ ग्रहों के अस्तित्व के अनुसार मृत्यु का विचार किया जाता है। जैसे जातक के जन्म अनुसार माता और पिता की मृत्यु का समय, स्त्री की मृत्यु, सन्तान की मृत्यु, ग्रह-स्थिति के अनुसार अल्पायु का विचार, मारकेश का विचार, मृत्यु समय के लग्न का ज्ञान, मृत्यु का स्थान, ग्रहयोगानुसार मृत्यु कारण तथा ग्रहों से मृत्युकारी रोगों का अनुमान। ज्योतिष से भिन्न अन्य शास्त्रों में भी मृत्यु पर विचार किया गया है। *गरुड पुराण* में मृत्यु के अंतिम क्षण तथा मृत्यु के पश्चात् मृतक की आत्मा की यात्रा और तत्सम्बन्धी अनुभव का विषद वर्णन है। ज्योतिष-शास्त्र में मृत्यु की अवधारणा दैहिक स्तर तक ही सीमित है। उपनिषद् और पुराण ने इसकी अवधारणाओं को और अधिक व्यापक बनाया है। *गरुड पुराण* मृत्यु के कर्मकाण्ड का एक आवश्यक अंग है। ज्योतिष भी कर्मकाण्ड का अंग है।

श्री संतोष कुमार मिश्र ने मृत्यु के कर्मकाण्ड पर प्रकाश डाला है। मृत्यु सार्वभौमिक है, अपरिहार्य है। मोक्ष (मुक्ति) दुर्लभ है। किसी को ही मिलता है, इसके लिये प्रभुकृपा तथा कठिन तपस्या की अपेक्षा है। मृत्यु के बाद जन्म लेने की बाध्यता है। मोक्ष जन्म-मरण दोनों से मुक्ति है। हिन्दू संस्कार मोक्ष के साधन हैं। इस लोक की अपेक्षा परलोक का मूल्य अधिक है। मरणोत्तर संस्कार परलोक में मृतक के भावी सुख एवं कल्याण के धारक हैं। इसीलिये इनका मूल्य है। मृत्यु के पश्चात् अपने विशिष्ट स्थान की प्राप्ति में मृतक की सहायता करना जीवित सम्बन्धियों का पावन कर्तव्य है। मृत्यु संस्कार — पूर्वा, मध्यमा तथा उत्तरा — तीन चरणों में सम्पन्न होते हैं। लेखक ने इसकी सविस्तार प्रस्तुति की है। पूर्वा में वैतरणी, भूमियोग, शवयात्रा, सभी विधि के दाह संस्कार से लेकर अशौच, अस्थि संचय, दशगात्र, श्राद्धकर्म तथा पंचनख तक समाहित किया गया है। दशगात्र के पश्चात् सपिण्डीकरण तक के श्राद्ध कर्मों का उल्लेख मध्यमा क्रिया में वर्णित है। उत्तर क्रिया व्यापक है। इसमें सभी श्राद्ध कर्मों का विस्तार से वर्णन है। अन्त में लेखक ने पितरों से सम्बन्धित पर्वों का भी उल्लेख किया है।

तृतीय खण्ड — आधुनिक ज्ञान

तीसरे खंड में चिकित्सा विज्ञान, समाज विज्ञान और सांस्कृतिक विश्लेषण के आधार पर मृत्यु की अवधारणा को सहज रूप से प्रस्तुत किया गया है।

काशी के प्रसिद्ध चिकित्सक श्री भानुशंकर मेहता यह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने बड़ी प्रगति की है, बहुत से रहस्य खुले हैं, जीवन की अवधि बढ़ी है, अकाल मृत्यु की घटनाएं कम हुई हैं फिर भी मृत्यु कब, क्यों और कैसे आयेगी, कोई नहीं जानता। नास्तिक और विज्ञानवादी के लिये मृत्यु का अर्थ है जीवन के हलचल की परिसमाप्ति, सांस के चरखे का रुक जाना। मृत्यु कब होती है? अनुसंधान से ज्ञात होता है कि मृत्यु एक क्षण नहीं होती है। चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से मस्तिष्क मूल (ब्रेनस्टेम) के कार्यकलाप बंद होने को मृत्यु कह सकते हैं क्योंकि इसी क्षेत्र में श्वास और हृदय संचालन, रक्त-संचार के केन्द्र होते हैं, यही वह केन्द्र है जो चेतना का द्वार है। यह बंद हुआ तो अटूट बेहोशी हो जाती है। शरीर में स्वचालित तंत्रिका (सिम्पैथेटिक) प्रणाली है जो शरीर के सभी कार्य संपादित करती है। वह भी इसी मार्ग में है। मस्तिष्क मूल ठप्प हुआ तो चेतना, बुद्धि, ज्ञान सभी का संयास हो जाता है। यह "मूल" क्यों काम बंद करता है इसका विस्तृत अध्ययन किया गया है। अब "हार्ट लंग" मशीन बन गयी है। रोगी को इस मशीन से जोड़ देने पर वह "जीवित" रहता है। (वर्षों जीवित रह सकता है)। मस्तिष्क के कोष बिना रक्त के, बिना ओषजन के तीन मिनट जीवित रहते हैं। अतः रक्त-संचार पुनः प्रारम्भ करने, हृदय की धड़कन में इससे अधिक विलम्ब हुआ तो रोगी जीवित तो हो जाता है पर चेतना- रहित, उद्भिज जैसा हो जाता है (वेजिटेटीव लाइफ)। हवा, पानी, भोजन देते रहे तो वह जीवित रहेगा पर निष्क्रिय। अब इसे मृत्यु कहें या जीवन? विद्वान् लेखक ने मृत्यु से सम्बन्धित अनेक-नये और पुराने प्रश्न उठाये हैं। अपने लेख के अन्त में कहते हैं — जीवन-मरण का खेल समझने में, पुरातन और मूल का नहीं चश्मे का फर्क है। आइये कबीर के शब्दों में ललकारें "हम न मरै मरिहै संसारा" और नाटक में अपनी भूमिका निभाने के बाद महानिद्रा में खो जायें। यह लेख एक कार्य-वैज्ञानिक और दार्शनिक के चिन्तन का निचोड़ है।

गणित के अध्यापक श्री विजय कुमार राय ने प्रश्न उठाया है — मृत्यु सच्ची या झूठी? उनका मानना है कि जन्म और मृत्यु परस्पर विरोधी नहीं हैं। जीवन जीव की अपरिमित यात्रा है। सजीव का प्रारम्भिक छोर जन्म और अंतिम सिरा है मृत्यु। न्याय-दर्शन तथा आधुनिक प्राणि-विज्ञान की जीन्स और गुण-सूत्रों के सिद्धांत के आधार पर लेखक ने आत्मा की अमरता, कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के भारतीय मत को पुष्ट करने का प्रयास किया है। कर्मवाद और जन्मान्तरवाद एक-दूसरे के पूरक हैं। जन्म-मृत्यु, कर्म, कर्मफल तथा आत्मा की अमरता संबंधी पूर्वी देशों की सदियों पुरानी धारणा को आज की आधुनिक जननिक एवं आनुवंशिक विद्या सत्य सिद्ध कर रही है। इस संबंध में भारत के पुनर्जन्मवादी और आधुनिक

विकासवादी एक-मत के हैं। इनके अनुसार हमारे अनुभव नष्ट नहीं होते। अपने परिणाम से प्रवृत्ति का रूप धारण कर प्रकट हो जाया करते हैं। प्रवृत्ति और कुछ नहीं, पिछले जन्मों की कृतियों के संस्कार हैं। यह लेख जीवन और मृत्यु की गुत्थी को उनकी समग्रता में सुलझाने का एक वैज्ञानिक किन्तु भावपूर्ण प्रयास है।

सुश्री मिनती ने आध्यात्मिक विज्ञान के दृष्टिकोण से मृत्यु पर विचार किया है। यह ध्रुव सत्य है कि शरीर क्षणभंगुर है, विनाशी है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। मृत्यु जीवन का आधार है, नींव है। मृत्यु नहीं तो जीवन कहाँ? जिस प्रकार हम गाड़ी नींद में अपने शरीर एवं सम्पूर्ण संसार को एकदम भूल जाते हैं – जिसे हम छोटी मृत्यु कहते हैं, उसी प्रकार मृत्यु को मृत्यु की "लम्बी नींद" कह सकते हैं। संसार का विस्मरण ही मृत्यु है न कि चेतन सत्ता का अभाव। मृत्यु का भय अन्य किसी भी भय से अधिक बलवान है। *योगवाशिष्ठ* के अनुसार कीट और इन्द्र की जीने की आकांक्षा तो समान है ही, उनमें मृत्यु का भय भी समान है। मृत्यु की भावना या भय से मुक्त होने के हेतु गुरुदेव रविन्द्रनाथ ठाकुर का कहना है कि हमें उस महान् पुरुष को जानना होगा जो अंधकार से सर्वथा परे है, परम ज्योतिर्मय है, नित्य है और शाश्वत् है। कबीरदास जी ने कहा था – "जे ही डर को सब लोग डरे है, सो डर हमरे नाहिं"। क्या मृत्यु-चिन्ता महामुक्ति का मार्ग है? मृत्यु-चिन्ता से कई बड़े एवं महान् सन्तों का आविर्भाव हुआ। मृत्यु-चिन्ता से ही वैराग्य प्राप्त कर सिद्धार्थ को "बुद्धत्व" प्राप्त हुआ। मृत्यु-चिन्ता से ही शंकर बाल्यकाल से ही संन्यासी हुए और इस मृत्यु से ही रमण महर्षि सत्रह साल में ही महान् सन्त के रूप में जाने गये। डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है – "आदि से अंत तक हमारा जीवन एक प्रकार की मृत्यु है।" योगी श्री अरविन्द ने अपनी अमर कृति *सावित्री* में सांकेतिक रूप से कहा है – "मृत्यु संग एकाकी निकट विनाश होड़ के, अप्रतिम महिमा उसकी, अंतिम रौद्र दशा में करना होगा पास उसे ही निपट अकेले।" मृत्यु का ध्यान आध्यात्मिक उन्नति के लिये मुख्य साधनाओं में से एक है। कबीर स्पष्ट रूप से कहते हैं –

जे ही मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।

कब मरिहा कब पाइयो, पूरन परमानन्द।।

सुकरात को ज़हर दिये जाने के समय उसके सभी सगे-सम्बन्धी वहां आँसू बहा रहे थे, जबकि कटुतारहित उनके मुख-मण्डल पर प्रसन्नता, प्रफुल्लता परिलक्षित हो रही थी। ऐसा लगता था कि मानो अंतस्म में किसी प्रियजन से मिलने की उमंगें उठ रही हों।

श्री अजय कुमार श्रीवास्तव ने अमृत शब्द के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश डाला है। शास्त्रों का मत है कि आत्मा ही अमृत है। अर्थात्, अमृत कहते हैं मृत्यु के अभाव को, मृत्यु ही जीव के लिये सबसे बड़ा भय है। *गीता* के अनुसार यह आत्मा न तो किसी काल में जन्म लेती है और न मरती ही है तथा यह न उत्पन्न होकर फिर होने वाली है क्योंकि यह

अजन्मी, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती। परन्तु अनादि अविद्या के वशीभूत हुई यह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल बैठी है और इस पंचभौतिक शरीर में ही — जो प्रकृति का कार्य होने के कारण परिणामी और नश्वर है — उसकी अहं बुद्धि हो रही है। यही कारण है कि यद्यपि शास्त्र के अनुसार शरीर के साथ आत्मा का नाश नहीं होता, फिर भी अज्ञानवश शरीर के नाश को अपना नाश मानने लगी है, शरीर के सुख को अपना सुख और शरीर के कष्ट को अपना कष्ट मानती है। लेखक ने अमृतत्व की प्राप्ति के लिये शास्त्र में बताये गये अनेक उपायों का उद्धरण दिया है।

श्री हेतुकर झा ने मैथिल परम्परा के आधार पर मृत्यु की व्याख्या की है। मैथिल कवि विद्यापति ने *कीर्तिलता* में प्रश्न उठाया है — किसी व्यक्ति के अस्तित्व का सार क्या है? इसका उत्तर देते हैं कि किसी व्यक्ति के अस्तित्व का सार उसका मान है। पाश्चात्य विद्वान् मार्टिन ब्यूबर के अनुसार व्यक्ति के अस्तित्व का सार समाज में इस बात पर निर्भर करता है कि उसके अस्तित्व को दूसरे व्यक्तियों द्वारा जिस स्थिति में है, और भविष्य में वह जिस स्थिति में हो सकता है, स्वीकार किया जाए। विद्यापति मानते हैं कि हर व्यक्ति का अस्तित्व समाज में उसके मान या इज्जत रहने से है। देह का अन्त होना व्यक्ति के अस्तित्व के एक दृष्टिगत आयाम का अन्त है। उसके अस्तित्व का दूसरा आयाम है उसकी कीर्ति जिसकी आयु उसके देह की आयु से बहुत ज्यादा होती है, और वह भी दृष्टिगत है। ये दोनों आयाम काल के घेरे में हैं लेकिन दोनों के काल में बहुत बड़ा अन्तर है। व्यक्ति के अस्तित्व का तीसरा आयाम है उसकी आत्मा जो अमर-अजर है। इस तरह मृत्यु प्रसंग काल की गति अविच्छिन्न है। व्यक्ति के अस्तित्व के एक आयाम का काल निश्चित है, दूसरे आयाम का काल अनिश्चित है और तीसरा आयाम काल के घेरे से मुक्त है।

सुश्री कुसुम गिरि ने सामाजिक मृत्यु के सम्बन्ध में अपनी बातें रखी हैं। समाज-शास्त्र में गंभीरतापूर्वक दो महत्वपूर्ण विषयों पर चर्चा होती है — पहला है आत्महत्या और दूसरा विचलनकारी व्यवहार या विसंगति। आधुनिक समाज के संदर्भ में आत्महत्या भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या के रूप में उपस्थित है। दुर्खीम सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आत्महत्या के मूल में निहित वैयक्तिक कारणों का खंडन कर आत्महत्या को विशुद्ध रूप से एक सामाजिक तथ्य या घटना कहा है। उसके आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि आत्महत्या से पूर्व व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में अपने को समाज में पूर्ण रूप से त्यक्त हुआ पाता है और उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ये स्थितियाँ उसकी सामाजिक मृत्यु की द्योतक हैं। इसी प्रकार मर्टन, पार्सन्स, मैकाइवर आदि सामाजिक विचारकों ने भी व्यक्ति के विचलनकारी व्यवहारों या नियमहीनता के कारणों की व्याख्या प्रस्तुत की है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस स्थिति में व्यक्ति और समाज के बीच जो समन्वयात्मक प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होना चाहिए, वह नहीं रह जाता और यह स्थिति भी उसकी सामाजिक

मृत्यु का द्योतक है। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि जिन समाजों की संरचना जितनी ही जटिल होगी उनमें सामाजिक मृत्यु की संभावनायें भी उतनी ही अधिक होंगी।

सुश्री सुषमा खन्ना ने भी अस्तित्ववादी परिप्रेक्ष्य में मृत्यु की अवधारणा पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है – अस्तित्ववाद बीसवीं शताब्दी के संकट का संदर्श है। यह दर्शन न होकर एक प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्ति है। प्रश्न उठता है – मनुष्य का अस्तित्व क्या है? इसका उत्तर खोजना आवश्यक है। अस्तित्ववादी डेकार्ट कहता है – “मैं सोचता हूँ, इसलिये मेरा अस्तित्व है।” मार्टिन हाइडेगर इस विचार के पोषक थे कि हमारा अस्तित्व मृत्योन्मुख सत् है। प्रमुख अस्तित्ववादी चिंतक सार्त्र के मृत्यु-सम्बन्धी विचार का विकास हाइडेगर के मृत्यु दर्शन के विरोध में हुआ। सार्त्र मृत्यु को एक आकस्मिक तथ्य मानते हैं। उनके अनुसार जन्म की तरह मृत्यु भी एक तथ्य है जो बाहर से मेरे निकट आता है। जिस पर मेरा बस नहीं है। मृत्यु सम्पूर्ण मानव सम्भावनाओं का निरर्थक विकास है, मानव अहम् की अर्थहीन अत्येष्टि। यह अर्थहीन है, कि हम पैदा हुए थे और यह भी अर्थहीन है कि हम मरते हैं।

श्री राघवेन्द्र प्रताप सिंह “मेलान” नामक एक लोक-प्रचलित अवधारणा को प्रकाश में लाये हैं। इसमें व्यक्ति किसी तांत्रिक द्वारा अपने शत्रु के ऊपर अभिचार करवाता है, जिससे लक्षित व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। मेलान में व्यक्ति मृत्यु का अनुभव करता है।

श्री दीनानाथ झुनझुनवाला ने अपने लेख में जन्म, जीवन एवं मृत्यु की सातत्यता पर प्रकाश डाला है। जन्म के सात भेद हैं, उसके शारीरिक एवं पारिवारिक आधार पर। इसी प्रकार जन्म के बाद जो जीवन हमने पाया है उसी जीवन में जितने मनुष्य हैं उनमें भिन्नता मिलेगी। जीवन की समाप्ति की अवस्था का नाम मृत्यु है। जन्म और मरण के बीच की अवस्था का नाम जीवन है। जन्म, जीवन और मृत्यु एक चक्र है। जीवात्मा न कभी जन्म लेती है न कभी मरती है। यह अजन्मी, शाश्वत, नित्य पुरातन है।

श्री रामप्रवेश शास्त्री ने जीवन को मृत्यु की सहेली कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन दोनों में कोई टकराव नहीं है। फिर भी मृत्यु की अवधारणा सारे संसार में एक-सी नहीं है। जीवन की लालसा सभी मनुष्यों में बनी है, किन्तु कुछ ऐसे भी संत और कवि हैं जिन्होंने जीवन और मृत्यु के बीच भिन्नता का सम्बन्ध माना है। कबीर, गांधी, विनोबा और कृष्णमूर्ति के विचार के साथ-साथ लेखक ने स्वरचित एक कविता से जीवन और मृत्यु की सातत्यता को स्पष्ट किया है।

श्री रमेश नारायण ने भी महात्मा कबीर के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए मृत्यु के आनन्दमयी उत्तम स्वरूप पर प्रकाश डाला है। भारतीय वाङ्मय में मृत्यु की चर्चा कबीर के दोहे के बिना अधूरी है, क्योंकि अनपढ़ कबीर ने जो संसार को पढ़ा है “वह पढ़ना कुछ और”।

खण्ड 1
मृत्यु धर्म के परिप्रेक्ष्य में

वीरशैव धर्म में मृत्यु का विचार

— चन्द्रशेखर महास्वामी

जन्म और मरण की पुनरावृत्ति को संसार-चक्र कहा जाता है। प्रत्येक जीवात्मा जन्म से लेकर मरणपर्यन्त और मरण से लेकर जन्मपर्यन्त निरन्तर यात्रा करती ही रहती है। यह यात्रा अनादि काल से चली आ रही है। इसलिए *जन्म-मरण रूपी संसार* को शास्त्रकारों ने *अनादि प्रवाह रूप* माना है। इस संसार में प्रत्येक वस्तु में क्षण-क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं। लेकिन उसका आभास जीवात्मा को नहीं होता। त्योहारों में हम लोग अपने इष्टदेव के सामने दीप जलाते हैं। दस दिन तक उसे यथावत् संभालते रहते हैं और उसे अखण्ड ज्योति मानते रहते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो उस दीपक की ज्योति अखण्ड नहीं रहती। उस ज्योति के सजातीय ज्योति का प्रवाह निरन्तर ही ऊर्ध्व दिशा में बहता रहता है। सजातीय निरन्तर धारा के कारण हमें ज्योति के अखण्ड रूप का भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार यह संसार-चक्र षड्विध विकारों से युक्त होकर निरन्तर चलायमान होता रहता है।

शास्त्रकारों ने प्रत्येक वस्तु व व्यक्ति के लिए *अस्ति, जायते, विवर्धते, विपरिणमते, अपक्षयिते* और *विनश्यते* इस प्रकार षड्विध विकारों को माना है। माता के गर्भ में जब शिशु के अस्तित्व का आभास होने लगता है उसे *अस्ति* कहा गया है। नौ मास तक गर्भ में सभी अवयवों के विकास के बाद जब प्रसव होता है वही *जायते* नामक दूसरा विकार है। जन्म के बाद अन्न और पानी से शिशु का स्थूल शरीर धीरे-धीरे बढ़ते हुए एक निश्चित सीमा तक पहुँच जाता है उसे *विवर्धते* विकार माना जाता है। उसके बाद शरीर के सभी धातु और अवयव परिपुष्ट हो जाते हैं उसे *विपरिणमते* नामक चतुर्थ विकार माना जाता है। परिपक्वता के बाद धीरे-धीरे क्षय होना प्रारम्भ हो जाता है इस स्थिति को *अपक्षयिते* नामक पाँचवाँ विकार माना जाता है। उसके बाद जब शरीर से प्राण आदि सूक्ष्म तत्त्व निकल जाते हैं तो उसे *विनश्यति* अर्थात् मरण-रूपी छठा विकार माना जाता है।

अब हमें जन्म और मरण के बारे में गम्भीर रूप से चिन्तन करना आवश्यक हो जाता है। *छान्दोग्योपनिषद्* में पंचाग्नि विद्या के द्वारा मनुष्य की उत्पत्ति की बात वैज्ञानिक ढंग से

बताई गई है। उसके अनुसार *दशयुलोक* रूपी अग्नि में श्रद्धा का हवन करने से सोम की उत्पत्ति होती है। उसके बाद *परिर्जन्य* रूपी अग्नि में सोम का हवन करने से वर्षा होती है। पृथ्वी रूपी अग्नि में वर्षा का हवन करने से अन्न की उत्पत्ति होती है। पुरुष के जठराग्नि में अन्न का हवन करने से वह अन्न रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्ति 'शुक्र' मेधस के रूप में सप्त धातुओं में परिणत हो जाता है। उसमें वीर्य-रूपी धातु को स्त्री-रूपी अग्नि में हवन करने से गर्भ की उत्पत्ति होती है। वह गर्भ जरायु नामक कोश से आवृत्त हुआ माता के उदर में दस मास तक पूर्ण विकसित होकर, बाद में मनुष्यरूपेण जन्म लेता है।

उपनिषद् के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि जन्म लेने वाले अनंत जीव जल के रूप में पृथ्वी पर आ जाते हैं। विराट् रूप से वह पानी बहते समय उसका उपयोग पशु, पक्षी, वनस्पति और मनुष्य करते रहते हैं। वह पानी जिसके भी शरीर में चला जाता है, उसके साथ अनंत जीव उस शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट अन्न-जल के साथ प्रविष्ट अनेक जीव सप्त धातुओं में परिवर्तित होते हुए शुक्र-रूपी धातु में जन्म लेने वाले अनंत जीव वीर्याणु के रूप में संग्रह होते हैं। उन अनंत वीर्याणुओं में एक बार एक ही वीर्याणु माता के अण्डकोश में प्रविष्ट होकर गर्भ में बढ़ने लगता है। अंशुशुक्र अनंत वीर्याणु नष्ट हो जाते हैं। उन नष्ट वीर्याणुओं को पुनः उसी प्रक्रिया से गुजरते हुए जन्म लेने के लिए आना पड़ता है। प्रपंच की यह सृष्टि और विनाश की प्रक्रिया भगवान् की एक अलौकिक लीला ही मानी जाती है। इस लीला का सही-सही पता लगाना एक असंभव सी बात है। फिर भी मेधा सम्पन्न हमारे देश के महर्षियों ने मनुष्य के जन्म-मरण के बारे में और उसकी सद्गति के बारे में आयुष्य भर तपस्या करके जो कुछ भी संशोधन किया है वे दार्शनिक परम्परायें हो गयी हैं।

हमारे देश के विभिन्न दार्शनिक परम्परा में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हैं फिर भी प्रत्येक सिद्धान्त में जीवों के जन्म और मरण को सभी दार्शनिक मानते हैं। वीरशैव सिद्धान्त के प्रमुख ग्रंथ *श्रीसिद्धान्तशिखामणि* में -

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतशयच ।

जन्तुर्मरण जन्माध्याम् परिभ्रमति चक्रवत् ॥

इस तरह जीवों के जन्म और मरण को चक्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सृष्टि में चौरासी लाख प्रकार के जीव-जन्तु होते हैं। इनमें उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज ये प्रत्येक इक्कीस लाख प्रकार के होते हैं। सब मिलकर चौरासी लाख हो जाते हैं। *स्कंद पुराण* में चौरासी लाख योनियों का विभाजन दूसरे ही ढंग से किया गया है -

देवाः षोडशलसाणि नवलसाणि मानुषाः ।

दशभिर्दशभिस्तद्वज्जलजा विहगा मृगाः ॥

सरीसृपास्तु लक्षाणि एकादश चरेतराः ।

अष्टौ च दशलक्षाणि सर्प जन्मान्यमूनि वै ॥

इस श्लोक में देव, मानव, जलचर, विहंगम, पशु, सरीसृप और वृक्षादि वनस्पति इस प्रकार सात जन्मों का जिक्क करके इन सात जन्मों को चौरासी लाख योनियों में विभाजित किया गया है। उपरोक्त स्कंद पुराण के आधार पर देव योनि सोलह लाख, मानव योनि नौ लाख, जलचर योनि दस लाख, सर्प और सजातीय योनि ग्यारह लाख, विहंगम योनि दस लाख, चतुष्पाद योनि दस लाख और वनस्पतियों की योनि अट्ठारह लाख, इस प्रकार सब मिलकर चौरासी लाख प्रकार की योनि होती हैं। इन योनियों के द्वारा जीवात्मा को जीवन-यात्रा करनी पड़ती है। इन विभिन्न योनियों में जीवात्मा के जन्म लेने का मुख्य कारण होता है उसका प्रारब्ध कर्म। प्रारब्ध कर्म के भोग पूर्ण होने तक प्रत्येक जीव को उन-उन स्थूल शरीरों में रहना पड़ता है। प्रारब्ध कर्म का क्षय होते ही स्थूल शरीर को त्याग देना पड़ता है। स्थूल शरीर के इस त्याग को ही मरण कहते हैं।

मृत्यु-के समय में प्रत्येक व्यक्ति के स्थूल शरीर से पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वरूपी जो सूक्ष्म शरीर होता है उससे युक्त जीवात्मा स्थूल शरीर को छोड़कर चला जाता है। प्रत्येक मनुष्य स्थूल शरीर को बार-बार बदलता रहता है। लेकिन उसका जो सूक्ष्म शरीर होता है वह उसकी मुक्तिपर्यन्त एक ही रहता है। सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्वों में प्राण को ही मुख्य माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के बारे में एक सुंदर विश्लेषण, कथा के रूप में, किया गया है। पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन बारह तत्त्वों में से कोई भी तत्त्व दूसरे शरीर को छोड़ने पर शरीर का पूर्णरूपेण अमंगल नहीं दिखाई देता है, किंतु जब शरीर से पंच प्राण निकल जाते हैं तो सभी इन्द्रियों का व्यवहार बंद हो जाता है और शरीर भी अमंगल और अशुचि हो जाता है। इसलिए जीवन का आधार प्राण है, उस प्राण के विछोह को ही प्रायः मृत्यु मानते हैं। "प्राणानाम तनुनिष्क्रान्तिर मरणं" प्राण वियोगः जीवात्मा के प्राण का संयोग और प्राण का वियोग, ये दोनों उसके अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध कर्म के ऊपर निर्भर रहता है।

शास्त्रों के बताए गये जन्म-मरण, क्षुधा, तृषा और सुख-दुःख इन षड्रमियों में जन्म-मरण को स्थूल शरीर का धर्म मानते हैं। सुख-दुःख को अन्तःकरण का धर्म मानते हैं। इसी तरह क्षुधा और तृषा को प्राण के धर्म मानते हैं। अतः मृत्यु अथवा मरण यह स्थूल शरीर से ही सम्बन्ध रखता है। जन्मे हुए स्थूल शरीर का मरण तो स्वाभाविक होता है। अतः हमारे देश के दार्शनिकों ने मरण को सहज स्वीकार कर लिया है। गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने जीर्ण वस्त्र को छोड़ना जैसे एक सहज क्रिया है, उसी प्रकार शरीर को छोड़ना भी एक स्वाभाविक सहज घटना होने के कारण ही उसके बारे में चिन्तित न होने का उपदेश दिया है।

हमारे देश के अनेक मुनियों और तपस्वियों के अपनी तपश्चर्या के सामर्थ्य से अनेक जीवों को प्राण-दान देने की महिमा बताने वाली कथाएँ पढ़ने को मिलती हैं। एक आश्चर्य

की बात यह है कि दूसरों को प्राण-दान देने का सामर्थ्य वाले ऋषियों को भी अपना प्राण त्यागना पड़ा। इससे यह सिद्ध होता है कि मरण एक स्वाभाविक घटना है। यह हर एक स्थूल शरीर के साथ अवश्य घट जाती है, लोक-कल्याण के लिए अवतार लिए हुए भगवान् को भी अपने अवतारी शरीर को त्यागना ही पड़ा है। कोई एकाध योगी अपने योग सामर्थ्य से चिरंजीवी हो सकता है लेकिन स्थूल शरीर के साथ अजर और अमर नहीं हो सकता है। बड़े-बड़े राक्षसों ने कठोर तपस्या करके अमरत्व का वर माँगा लेकिन ब्रह्मा जी ने किसी को नहीं दिया। इसका एक ही कारण है कि वह प्रकृति के नियम के विरुद्ध हो जाता है।

वीरशैव सिद्धान्त अट्ठाईस शैवागमों के सिद्धान्त पर आधारित है। *पारमेश्वरागम* में – एकेन जन्मना मुक्तिः वीराणान्तु महेश्वरी। इस प्रकार बताकर वीरशैव सिद्धान्त में पुनर्जन्म का निषेध किया गया है। इस सिद्धान्त में पूर्वजन्म अवश्य मानते हैं लेकिन पुनर्जन्म को नहीं मानते। इसका रहस्य यह है कि इस सिद्धान्त में एक सौ एक स्थलात्मक जो साधना पद्धति बताई गयी है उसके अनुसार जब साधक साधना करने लगता है तब वह अपने जीवित काल में ही परशिव ब्रह्मा के साथ सामरस्य का अनुभव करने के कारण जीवनमुक्त हो जाता है। जब तक प्रारब्ध कर्म है तब तक उसका अपने स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है। प्रारब्ध क्षय होते ही उसके संचित कर्म भी पहले से ही नष्ट हो जाने के कारण उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। प्रायः मनुष्य-जन्म का लक्ष्य भी यही होता है।

सूक्ष्म शरीर से युक्त जीवात्मा अपने कर्म के अनुसार किसी भी योनि के स्थूल शरीर में प्रवेश करती है। इस क्रिया को जन्म कहते हैं और जब स्थूल शरीर को छोड़कर चली जाती है तो उसे ही मृत्यु अथवा मरण कहा जाता है। स्थूल शरीर के बाल्यादि अवस्था बदलने पर जीव को जैसे दुःख नहीं होता है उसी प्रकार शरीर बदलने पर भी उसे दुःख नहीं मनाना चाहिए। मृत्यु के इस रहस्य को जो वास्तविक रूप से जाना जाता है वह मृत्यु के परे की स्थिति में पहुँच जाता है। यह स्थिति सबको मिले यही हमारी मंगलमय कामना है।

बौद्ध धर्म मृत्यु की अवधारणा

— रामशंकर त्रिपाठी

मृत्यु जीवन का अभिन्न अंग है। मृत्यु और जीवन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जीवन नित्य (सर्वदा) परिवर्तनशील है। व्यक्ति की जीवन-धारा नदी की उदक-धारा की भाँति अनादि काल से बहती चली आ रही है। परिवर्तन तभी उत्पन्न हो सकता है, जब पूर्व स्वरूप का त्याग (विनाश) और अपर स्वरूप का उत्पाद हो। जैसे उदक का वर्तमान अंश आगे बढ़ता है, तभी उसके स्थान पर दूसरा अंश आ पाता है और उदक-धारा बन पाती है, उसी तरह जीवन का एक क्षण विनष्ट होता है और दूसरा क्षण उत्पन्न होता है और तभी परिवर्तनशील जीवन-धारा उत्पन्न होती है। यदि विनाश न हो तो जीवन स्थिर, नित्य और कूटस्थ हो जाएगा। तब न उसमें किसी तरह का परिवर्तन सम्भव होगा और न उससे किसी तरह की क्रिया सम्भव होगी, तथा न ही ऐसी स्थिति में किसी तरह का अस्तित्व ही सिद्ध हो सकेगा। अतः नाश जीवन का स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव "जलाना" है, फलतः न तो उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन सम्भव है और न ही कोई अग्नि को जलाने से रोक सकता है तथा न अग्नि को जलाने के लिए किसी हेतु की अपेक्षा होगी, अन्यथा वह अग्नि ही नहीं रहेगी। जीवन जिन कारणों से उत्पन्न होता है, वे कारण नाशवान जीवन को ही उत्पन्न करते हैं। अतः जीवन के उत्पाद के दूसरे क्षण में ही उसका नाश होता जाता है। बौद्ध दृष्टि में सभी वस्तुएं नाश-स्वभाव होती हैं, अतः उत्पाद के दूसरे क्षण में ही उनका नाश हो जाता है। इसीलिए बौद्ध क्षणिकवादी कहलाते हैं।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध व्यक्तित्व के उपादान हैं। रूपस्कन्ध जड़जातीय है तथा शेष चार स्कन्ध चेतनजातीय हैं, इन्हें "नाम" भी कहते हैं। अतः व्यक्ति नामरूपात्मक होता है। पाँचों स्कन्ध क्षणिक हैं। कर्म और क्लेशों (अविद्या, तृष्णा, आदि) की वजह से ये प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं। इस तरह व्यक्तित्व की धारा निर्वाणपर्यन्त नदी की धारा की भाँति या दीपक की लौ की भाँति सदा प्रवाहमान होती रहती है। निर्वाण प्राप्त होने पर इस धारा का निरोध हो जाता है।

व्यक्तित्व के उपादानों में कोई भी नित्य पदार्थ नहीं है, फिर भी अज्ञानवश लोगों ने पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त एक आत्मा की कल्पना कर ली है तथा उस कल्पित आत्मा से सम्बद्ध वस्तुओं और प्राणियों के प्रति आत्मीय संज्ञा कर ली है। यद्यपि आत्मा और आत्मीय की सत्ता बिल्कुल भी नहीं है, फिर भी लोग उनको सत्ता के प्रति अभिनिविष्ट हैं। हर व्यक्ति ने अपना एक स्वतंत्र संसार रच लिया है, जिसके प्रति वह आसक्त है। उसने किसी को शत्रु, किसी को मित्र आदि बना लिया है तथा सारे रिश्तों और सम्बन्धों को खड़ा कर लिया है। अतीत की सत्ता नहीं है, फिर भी उसके प्रति वह आसक्त है। भविष्य का अभी अस्तित्व ही नहीं है, फिर भी उसके दिमाग में अनेक महत्त्वाकांक्षी योजनाएँ एवं अवधारणाएँ हैं। वर्तमान सर्वथा क्षणिक है, फिर भी व्यक्ति में उसके प्रति अनेक नित्य, स्थिर एवं शुभ आदि विपरीत धारणाएँ हैं। जैसे मकड़ी स्वयं जाल बुनकर उसमें फँस जाती है, उसी तरह व्यक्ति भी अपने बनाए संसार में बुरी तरह फँसकर दुःखी होकर भटक रहा है। बौद्ध लोग इन सारी बुराइयों की जड़ आत्मदृष्टि को मानते हैं और उस दृष्टि से मुक्त होने का उपदेश देते हैं। संसार में बौद्ध एकमात्र अनात्मवादी हैं। मृत्यु की अवस्था में अपने बनाए संसार से वियोग हो जाने की आशंका से व्यक्ति मृत्यु से भयभीत है। अन्यथा मृत्यु से भयभीत होने का कोई वास्तविक कारण नहीं है।

मरण के दो भेद

नाम और रूप धर्मों (पदार्थों) का प्रतिक्षण होने वाला विनाश "अप्रकट मरण" है। क्योंकि यह मरण सामान्य जनों को स्पष्ट रूप से अवबोधित नहीं होता क्योंकि क्षण का ज्ञान योगी जन ही कर सकते हैं, सामान्य जन नहीं कर सकते, अतः यह "अप्रकट मरण" कहलाता है। वर्तमान जन्म के अंत में नाम एवं रूपों का जो च्युतिकाल होता है, वह "प्रकट मरण" है। इसे ही सामान्यतया लोक में मरण कहा जाता है।

मृत्यु के चार कारण

आयुःक्षय, कर्मक्षय, उभय (दोनों का) क्षय तथा उपच्छेदक कर्म — इन चार कारणों से मृत्यु सम्पन्न होती है। जीवन के निश्चित काल को आयुष या जीवित कहते हैं। मनुष्यभूमि, देवभूमि आदि में निश्चित आयुःप्रमाण होता है, जैसे मनुष्यभूमि में सामान्यतया आयु, आजकल, सौ वर्ष मानी जाती है। इसके अन्त में होने वाला मरण आयुःक्षय से "मरण" कहलाता है। इन चारों प्रकार के मरणों को हम दीपक के दृष्टान्त से इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं —

1. प्रज्वलित दीपक का बत्ती के क्षय से होने वाला निरोध।
2. तेल के क्षय से होने वाला दीपक का निरोध।
3. बत्ती एवं तेल दोनों से होने वाला निरोध।

4. बत्ती और तेल दोनों का क्षय न होने पर भी वायु या अन्य किसी आगन्तुक कारण से होने वाला निरोध।

1. आयुःक्षय

जिस प्रकार तेल रहने पर भी यदि बत्ती का क्षय हो जाता है तो दीपक की लौ का निरोध हो जाता है, उसी तरह जीवित रहने के लिए कर्म विद्यमान रहने पर भी आयुष् पूर्ण हो जाने से च्युति हो जाती है। यह आयुःक्षय निरोध है। कुछ पुण्यवान् व्यक्ति निश्चित आयुःप्रमाण से अधिक भी जीवित रहते हैं।

2. कर्मक्षय

जीवन को धारण करने वाले कर्म ही यहाँ “कर्म” कहे गये हैं। उन कर्मों की शक्ति के क्षय को “कर्मक्षय” कहते हैं। यह कर्मक्षय उपर्युक्त उदाहरणों में से तेल के क्षय की तरह होता है। जिस प्रकार बत्ती के विद्यमान रहने पर भी तेल का क्षय हो जाने से दीपक का निरोध हो जाता है, उसी प्रकार आयुःप्रमाण अवशिष्ट रहने पर भी कर्मशक्ति का क्षय हो जाने से च्युति हो जाती है। जैसे 100 वर्ष आयुःप्रमाण होने पर भी किसी की 50 वर्ष में ही च्युति हो जाती है। इस कर्मक्षय को ही जब देव या ब्रह्माओं की अपने निश्चित आयुःप्रमाण से पहले च्युति हो जाती है तो “पुण्यक्षय” भी कहते हैं।

3. उभयक्षय

आयुष् एवं कर्म दोनों के क्षय को “उभयक्षय” कहते हैं। यह तेल और बत्ती दोनों के क्षय से होने वाले दीपक के निरोध की तरह होता है।

4. उपच्छेदक कर्म

उपघातक कर्म को ही उपच्छेदक कर्म कहते हैं। आयुःप्रमाण एवं कर्म-शक्ति दोनों के विद्यमान रहने पर भी पूर्व-जन्म के या इसी जन्म के किसी एक कर्म द्वारा उपघात करने से जब च्युति होती है तो उसे “उपच्छेदक कर्म से च्युति” कहते हैं। इसे तेल एवं बत्ती दोनों के विद्यमान होने पर भी वायु या किसी अन्य आगन्तुक कारण से होने वाले दीपक के निरोध की तरह जानना चाहिए।

कालमरण एवं अकालमरण

मृत्यु के उपर्युक्त चार कारणों में से पूर्ववर्ती तीन कारणों से च्युति होना “कालमरण” तथा उपच्छेदक कर्म द्वारा च्युति होना “अकालमरण” कहलाता है। अकालमरण के प्रसंग में अन्य अनेक बातें भी हैं, यथा – भूख, प्यास, सर्पदंश, विष, अग्नि, जल एवं शस्त्र द्वारा भी अकाल मृत्यु होती है। वात, पित्त, श्लेष्मा, सन्निपात, ऋतु-विकार तथा स्वयं अपने द्वारा या दूसरों के द्वारा विषम प्रयत्न किये जाने से व्यक्ति अकालमरण को प्राप्त होता है। इस तरह अकालमृत्यु के अनेक कारण होते हैं।

मरणानुस्मृति

मरण चार प्रकार का होता है। ज्ञात है आयुष् को जीवित या जीवितेन्द्रिय भी कहते हैं। (1) एक भव (जन्म) में प्राप्त जीवितेन्द्रिय का उपच्छेदरूप मरण, (2) अर्हत्तों का सांसारिक दुःखों से सर्वथा समुच्छेद नामक समुच्छेद मरण, (3) संस्कारों (अपने हेतुओं से उत्पन्न पदार्थों) का क्षणभंग नामक क्षणिक मरण, तथा (4) वृक्षमरण, लौहमरण, पारदमरण आदि की तरह संवृत्तिमरण। इन चारों में से (अर्हत्तों के) समुच्छेदमरण का सम्बन्ध सर्वसाधारण से नहीं है, अपितु केवल अर्हत्तों से है। क्षणिक मरण की अनुस्मृति करना दुष्कर है, क्योंकि क्षण सर्वसाधारण को बोधगम्य नहीं है। (लौह, पारद, आदि का) संवृत्तिमरण संवेग (संसार से निर्वेद या वैराग्य) का उत्पादक नहीं होता। अतः ये तीन मरण यहाँ मरणानुस्मृति में अपेक्षित नहीं हैं। केवल जीवितेन्द्रिय का उपच्छेदरूपी मरण ही इस अनुस्मृति का विषय हो सकता है, अतः वही यहाँ अभिप्रेत है, क्योंकि वह सर्वसाधारण संवेद्य, सुकर एवं संवेगोत्पत्ति का कारण भी होता है।

भावनाविधि

मरणानुस्मृति की भावना के इच्छुक योगी को एकान्त में जाकर चित्त को अन्य आलम्बनों (विषयों) से हटाकर "मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा" अथवा "मरण, मरण" कहते हुए ठीक से मन में चिन्तन करना चाहिए।

चिन्तन प्रकार

भावना करते समय निम्न चार प्रकार से चिन्तन करना चाहिए – (1) जन्म के पश्चात् मृत्यु की निश्चितता, (2) मृत्यु के समय की अनिश्चितता, (3) मृत्यु के कारणों की अधिकता तथा (4) मृत्यु से कभी भी, कहीं भी छूट न सकना।

जन्म के पश्चात् मृत्यु की निश्चितता

सभी जीव जन्म के बाद एक क्षण भी बिना रुके मृत्युराज की ओर उन्मुख होकर दौड़ रहे हैं। हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होने के बाद किसी वस्तु या व्यक्ति में (अपने उत्पाद के) द्वितीय क्षण तक भी स्थित रहने का सामर्थ्य नहीं होता। वे सतत् नष्ट होते रहते हैं। अतः "सभी संस्कार अनित्य हैं," ऐसा भगवान बुद्ध द्वारा कहा गया है।

मृत्यु के समय की अनिश्चितता

देहधारी प्राणियों के बीच – "यह पहले मरेगा, यह बाद में मरेगा" ऐसी कोई निश्चित रेखा नहीं है। मरने की आशंका से रहित व्यक्ति भी बिजली गिरने से अकस्मात् मरते देखा जाता है। ऐसी परिस्थिति किसी पर भी, अपने ऊपर भी आ सकती है।

मृत्यु के कारणों की अधिकता

अनेकविध विघ्नों से घिरे प्राणियों की आयु वायु से बने पानी के बुलबुले की भाँति नितान्त अस्थिर है। तत्काल विलीन न होने पर भी लम्बे समय तक स्थित रहने की शक्ति न होने के कारण यह असार शरीर विश्वास करने लायक कतई नहीं है। मृत्यु के अत्यधिक कारण हैं।

मृत्यु से कहीं भी, कभी भी छूट न सकना

ऐसा कोई स्थान संसार में नहीं है, जहाँ मृत्यु न हो सके। आकाश में उड़कर दूर तक जा सकने में समर्थ ऋद्धिसम्पन्न ऋषि-महर्षि भी उस स्थान पर नहीं जा सकते, जहाँ मृत्यु न हो। ऐसा सोचना चाहिए कि जब वज्र के समान मजबूत बुद्ध का शरीर भी नष्ट हो जाता है तो हमारा यह निःसार शरीर क्योंकर नष्ट नहीं होगा।

उपर्युक्त प्रकार से चिन्तन करते हुए भावना से मरणानुस्मृति शीघ्र सम्पन्न होती है और मृत्यु के समय किसी प्रकार का भय एवं कष्ट नहीं होता।

मृत्यु-महोत्सव जैन धर्म के परिप्रेक्ष्य में

— मुन्नी पुष्पा जैन

शीर्षक पढ़ते ही लोग आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि अभी तक गर्भोत्सव, जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, राष्ट्रीय उत्सव, सामाजिक उत्सव, धार्मिक उत्सव, इत्यादि उत्सवों के बारे में तो बहुत सुना और मनाये भी, शामिल भी हुए परन्तु मृत्यु का भी कोई उत्सव हो सकता है? उत्सव ही नहीं महोत्सव अर्थात् उपर्युक्त सभी उत्सवों से उत्कृष्ट विशेष खुशी का दिन जिसके आने के इंतजार में उसकी विशेष तैयारियाँ की जाती हैं। लोग मृत्यु को दुःख या उदासीनता का पर्याय मानते हैं, यह जगत् का व्यवहार है। जैन शासन में "मृत्यु" की विशेष परिभाषा है। मृत्यु अटल सत्य है, किसी के रोके नहीं रुकी है। सभी संसारी प्राणी इससे परिचित हैं, परन्तु फिर भी "भय" करते हैं। जैन धर्म इस अटल सत्य का स्वागत करने की विधि सिखाता है, जिसे सल्लेखना, समाधिमरण, संथारा, मृत्यु-महोत्सव, आदि नामों से जाना जाता है।

संसार का प्रत्येक व्यक्ति मुख्यतः क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों में लिप्त रहता है। "कषाय" अर्थात् जो आत्मा को कसे या दुःख दे। सल्लेखना का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है सत् अर्थात् सम्यक प्रकार से लेखना — कषायों को कम करना, क्षीण करना। जैन ग्रन्थ *तत्त्वार्थ सूत्र* (7-22) में कहा है — "मरणान्तिकी सल्लेखना जोषिता" अर्थात् मरणकाल उपस्थित होने पर ग्रहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना करना चाहिए।

शरीर त्याग के तीन भेद आचार्य नेमिचन्द्र ने गिनाये हैं —

1. *व्याधित* — विषम क्षण, रक्तक्षय, शस्त्रघात, अग्निदाह, जल प्रवेश "गिरिपतन" आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ना अर्थात् आत्मघात जो सर्वथा त्याज्य एवं पाप है, निन्दनीय है।
2. *च्युत* — आय पूर्ण हो जाने पर शरीर का स्वतः छूटना।
3. *त्यक्त* — असाध्य रोगादि हो जाने पर, किसी आकस्मिक परिस्थिति के कारण मृत्यु

सन्निकट जान पड़ने पर या मरण की आसन्नता ज्ञात होने पर जो विवेक सहित सन्यासस्य परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है वही "त्यक्त" है, सर्वश्रेष्ठ है। इसे ही सल्लेखनापूर्वक मरण कहते हैं।

जैन आगमों में मरण के प्रमुखतः सात और प्रकारान्तर से सत्रह भेद बताये हैं। विस्तार से इनका विवेचन इस प्रकार है – 1. बाल-बाल मरण, 2. बाल मरण, 3. बाल पंडित मरण, 4. भक्त प्रत्याख्यान पंडित मरण, 5. इंगिनी पंडित मरण, 6. प्रायोपगमन पंडित मरण, 7. पंडित-पंडित मरण। इनमें से आचार्य शिवार्य ने तीसरे, चौथे और सातवें को श्रेष्ठ मरण बताया है।

जैन मनीषी पं. सदासुखदास जी ने महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थों *भगवती आराधना* और *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* की वचनिकाओं में सल्लेखना के विषय में यथा-प्रसंग विशद विवेचन किया है तथा सल्लेखना के बारे में जनसाधारण में फैली भ्रामक भ्रान्तियों का तर्कपूर्ण खण्डन किया है।

मृत्यु-महोत्सव को दृष्टान्त शैली में इस तरह समझाया गया है –

जैसे कोउ एक जीर्णकुटी में ते निकसि अन्य नवीन महल कू प्राप्त होय सो तो बड़ा उत्सव अवसर है। तैसे ही यो आत्मा अपने स्वरूप में तिष्ठता ही जीर्ण देहरूप कुटी कू छोड़ि नवीन देह रूप महल को प्राप्त होने में महा उत्साह का अवसर है या में कुछ हानि नहीं जो भय करिये।

आचार्य सकलकीर्ति ने कहा है –

धीरत्वेन सतां मृत्युः कातरत्वेन चेद भवेत्।
कातरत्वं बलात्यक्त्वा, धीरत्वे मरणं वरम्॥

मृत्यु धीरता से भी प्राप्त होती है और कायरता से भी प्राप्त होती है। कायरता को छोड़कर साहस के साथ धीरतापूर्वक मरण करना श्रेष्ठ है क्योंकि संतजन धैर्य के साथ वीरता व धर्मध्यानपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करते हैं।

समाधिकरण शाश्वत् सुख देने वाला या कल्पवृक्ष के समान बतलाया गया है, इस तरह के मरण से उत्तम गति प्राप्त होती है।

मृत्यु-महोत्सव का आयोजन जीवन के जिस किसी भी समय में नहीं, अपितु अवस्था विशेष में किया जाता है। जब मनुष्य की इन्द्रियाँ थक जायें, शरीर जीर्ण हो जाये, बुढ़ापा चरम सीमा पार कर रहा हो तब इस "सल्लेखना" का विधान है। इसके अतिरिक्त आकस्मिक अवस्थाओं में जैसे किसी प्राणघातक रोग से ग्रसित हो गये हों, डॉक्टरों ने जवाब दे दिया हो कि अब दवा की नहीं दुआओं की जरूरत है, ऐसे समय में समाधिमरण का विधान है।

किसी परिस्थिति विशेष में जब मरण में संदेह हो तो दो प्रकार से समाधिमरण का नियम बतलाया है —

प्रथम — यदि इस विषम स्थिति में मेरी मृत्यु होती है तो मेरा यावज्जीवन के लिए आहार-पानी का त्याग है।

द्वितीय — कदाचित् किसी पुण्योदय से जीवित बच जाऊँगा तो थोड़े समय तक आहार आदि का त्याग है और शेष जीवन नियम, संयम, व्रत, उपवासादि के साथ धर्मध्यान से व्यतीत करूँगा।

मानसिक तैयारी

समाधिमरण का धारक सभी सम्बन्धियों से जाने-अनजाने में हुई गलतियों के प्रति मन, वचन, कर्म से क्षमा मांगें और अपने मन से भी सभी को क्षमा करें। कोई मलिनता मन में न रखें। क्षमाभाव रखने से मन हल्का हो जाता है। घर-गृहस्थी, व्यवसाय, आदि के भार से अपने को मुक्त करें। दान-पुण्यादि का व्यवहार पूरा कर लें। जीवन में अपने द्वारा किये गये कार्यों की समालोचना कर दोषों के लिए पश्चात्ताप करें। मोह-ममता से अपने को विलग कर जीवनरूपी नाव का भार हल्का करें, ताकि भवसागर से पार होने में सहयोगी बने।

आजकल के समय में दुर्घटनाओं के होने से दुर्भाग्य से कितने लोगों की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। यदि मनुष्य अपना जीवन पूर्ण रूप से जी ले और सहज स्वतः मृत्यु हो तो वह आज के समय में भाग्यशाली माना जाता है। अतः ऐसी मृत्यु का स्वागत करना चाहिए मृत्यु-महोत्सव मनाकर।

सल्लेखना में सहायकों की महत्ता

जब हम किसी महोत्सव का आयोजन करते हैं तो उसकी निश्चित तिथि के बहुत समय पहले अनेक लोगों की सहायता लेते हैं। उन्हें उनकी क्षमतानुसार अलग-अलग कार्यों को सौंप देते हैं। सभी आयोजन सानन्द सफल होता है। इसी तरह मृत्यु-महोत्सव करने वाले व्यक्ति के लिए सहायक लोगों का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है।

सल्लेखनाधारी के पुण्य यज्ञ में सहायक जन सदैव उसे तत्त्वज्ञान पूर्ण मधुर उपदेश करते हैं तथा शरीर और संसार की असारता और क्षणभंगुरता का ध्यान दिलाते हैं, जिससे वह व्यक्ति राग-द्वेष, मोह को हेय समझकर छोड़ चुका है, या संकल्प कर रहा है वह उनमें पुनः लिप्त न हो। समाधिमरण पाठ, बारह भावना, स्तोत्रादि पाठ सुनाते हैं। आहारादि पर विजय प्राप्त करने के लिये क्रमशः धीरे-धीरे एक-एक वस्तु का त्याग करवाते हैं। उठने-बैठने-सोने, आदि में कोई परेशानी न हो इसमें पूरा सहयोग देते हैं। समाधिमरण धारक की संकल्प और दृढ़ता को पुष्ट करने में अपना कर्तव्य निभाते हैं। आत्मा व परमात्मा के मिलन

में बाधक सभी संसारी चीजों का परिहार करवाते हैं। संयम, स्वाध्याय, साधनापूर्वक निर्विकार रूप से मृत्यु को आलिंगन करने वाले साधक का देवता भी अभिनन्दन करते हैं।

इस सल्लेखना या मृत्यु-महोत्सव को आज भी जैन समाज में जीवंत रूप में देखा जा सकता है। इसे पूर्ण होने में आठ दिन से एक माह तक का समय लग जाता है। सल्लेखना के इन दिनों में पूरा समाज अभिभूत हो जाता है। देखने वाले अपने को धन्य मानते हैं व प्रेरणा लेते हैं – इस तरह का मरण हम भी वरण करें।

वस्तुतः जीवन जीना ही कला नहीं वरन् मृत्यु के क्षणों में विवेकपूर्वक स्वयं को सम्हाले हुए धर्म के साथ मरना उससे भी बड़ी कला है। सल्लेखना में जीवन का मोह, मरण का भय दोनों समाप्त हो जाते हैं। देह मुझे छोड़े इसके पहले मैं स्वयं इसे छोड़ता हूँ। ऐसा साहस, संकल्प सल्लेखनाधारी ही कर सकता है।

आत्मघात और सल्लेखना में जमीन-आसमान का अंतर है। आत्महत्या को घोर पाप, महापाप की संज्ञा देता है जैन धर्म। क्योंकि आत्महत्या, क्रोध, मान, माया, आदि लोभ कलुषित वृत्तियों से की जाती है। जबकि “सल्लेखना” इन सभी कषायों से मुक्त होकर निर्मल हृदय से, समतापूर्वक, मृत्यु की सन्निकट स्थिति में की जाती है। आत्मघात से आत्मा भटकती है। समाधिमरण से मुक्ति की प्राप्ति होती है। जैन धर्म में मनीषियों ने अटल सत्य मृत्यु का स्वागत करने हेतु उसे “मृत्यु-महोत्सव” का रूप देकर विश्व के सभी दर्शनों से अलग मृत्यु की अनोखी उपयोगिता सिद्ध की है जो सचमुच अद्वितीय है।

जैन दर्शन में मृत्यु विज्ञान संथारा के परिप्रेक्ष्य में

— अनेकान्त कुमार जैन

सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न धर्म हैं, सम्प्रदाय हैं। इन धर्मों और सम्प्रदायों के मध्य भी विभिन्न प्रकार के मतभेद हैं। जीवन को लेकर मतभेद हो सकते हैं — हमें क्या पालना चाहिए, हमें कैसे रहना चाहिए? हमें ईश्वर मानना चाहिए या नहीं? हमें खुदा की हुकूमत पर विश्वास है कि नहीं? पूजा-पाठ करना चाहिए या नमाज़ पढ़नी चाहिए?, इत्यादि अनेकानेक बातें हमारे जीवन को लेकर मतभेद बनाये हुए हैं। पाश्चात्य दर्शनों व भारतीय दर्शनों में इस बात पर मतभेद रहा है कि आत्मा है अथवा नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? पुनर्जन्म होता है या नहीं? मनुष्य जन्म से पहले कहाँ था? मृत्यु के बाद स्वर्ग जाता है या जन्नत? मोक्ष होता है अथवा नहीं? इत्यादि अनेक अवधारणायें मतभेदों को लिए हुए सदा से चली आ रही हैं।

“जन्म से पहले और मृत्यु के बाद” इस विषय पर तो मतभेद हो सकते हैं क्योंकि यह विषय प्रत्यक्ष नहीं है। यह सारा विषय अनुमान और श्रद्धा का विषय है। किन्तु जन्म होता है और जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी होती है, इस विषय पर दुनिया के किसी भी व्यक्ति को कोई मतभेद नहीं है। अर्थात् मृत्यु की अनादिनिधनता, सार्वभौमिकता, असांप्रदायिकता स्वतःसिद्ध है।

जैन धर्म तथा दर्शन में मृत्यु को लेकर परम्परा के अनुरूप अत्यन्त वैज्ञानिक चिन्तन किया गया। जैनाचार्यों ने विचार किया कि यदि मृत्यु होनी ही है तो क्यों न वह सकारात्मक हो? जिस प्रकार हम जीवन में जन्म को मंगल मानते हैं उसी प्रकार हम मरण को भी मंगल मानें। फिर विचार किया गया किस प्रकार के मरण को मंगल मानें? और इसी विचार ने जैन धर्म को, त्याग और संयम के चरमोत्कर्ष स्वरूप “संथारा” को जन्म दिया। *मूलाचार* नामक प्राकृत, भाषा के एक प्राचीन ग्रन्थ में आचार्य बट्टकेर कहते हैं —

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।

जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरक्षणेण मरिदव्वं ॥ (02/65)

अर्थात् जो धैर्यशाली है वह भी मरेगा और जो अधैर्यशाली है वह भी अवश्य मरेगा और यदि दोनों ही अवस्थाओं में मरना निश्चित ही है तो क्यों न धैर्यपूर्वक मरा जाये?

इसी प्रकार वे आगे कहते हैं –

सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अदस्स मरिदव्वं ।

जह दोहिं वि मरिदव्वं वरं हु सीलक्षणेण मरिदव्वं ॥ (2/66)

अर्थात् शीलवाला भी मरेगा, निःशील वाला भी अवश्य मरेगा। जब दोनों ही स्थितियों में मरना ही है तब क्यों न शीलपूर्वक मरा जाये।

सल्लेखना का अर्थ

“सल्लेखना” शब्द “सत्” और “लेखना” इन दोनों के संयोग से बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है अपने बुरे भावों या कषायों को कृश करना।

सल्लेखना का काल

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि प्रतिकार रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा व रुग्ण स्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक सल्लेखना करता है –

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकोर ।

धर्माय तनुविमोचनामाहुः सल्लेखनामार्या ॥

- समीचीन धर्मशास्त्र, 6-1, पृ. 160

मूलाराधना में सल्लेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए कुछ मुख्य कारण बताये हैं –
(मूलाराधना 2, पृ. 71.74)

1. दुश्चिकित्स्याव्याधि – संयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का उपचार करना संभव न हो, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर।
2. वृद्धावस्था – जो श्रमण जीवन की साधना करने में बाधक हो।
3. मानव, देव और ऋषि-सम्बन्धी कठिन उपसर्ग उपस्थित होने पर।
4. चारित्र्य विनाश के लिये अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाते हों।

सल्लेखना आत्महत्या नहीं है

वर्तमान समय में जैन दर्शन के भाव विज्ञान की गहराइयों को नहीं समझने वाले तथाकथित लोग इस परम आध्यात्मिक भाव परिष्कार की चिकित्सा को आत्महत्या जैसी तुच्छ व कायरतापूर्ण कृत्य का नाम देकर अपनी अल्पज्ञता का परिचय देते हैं।

सल्लेखना व संथारा के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अंतर है :

आत्महत्या	सल्लेखना
1. आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनायें पूर्ण नहीं हुई हैं। वह संघर्षों से ऊबकर जीवन पलायन करना चाहता है या किसी से अपमानित होने पर, कलह होने पर, आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर, पारस्परिक मनो-मालिन्य होने पर, कुएँ में कूदकर, समुद्र में गिरकर, विष खाकर, फाँसी लगाकर अपना जीवन समाप्त करता है।	1. सल्लेखना या संथारा व्यक्ति द्वारा किसी परिस्थिति से घबराकर, निराशा में किसी निमित्त से मरने का प्रयास नहीं करता। बल्कि संयम की आराधना करते हुये स्वाभाविक मृत्यु से न भागकर उसका स्वागत करता है।
2. आत्महत्या में वीरता नहीं, वरन् कायरता है और जीवन से भागने का प्रयास है। आत्महत्या के मूल में भय और कामनायें रहती हैं, कषाय और वासना की तीव्रता और उत्तेजना है।	2. सल्लेखना में कषाय और वासना का, इच्छा का अभाव रहता है। इसमें साधक भयभीत नहीं रहता।
3. आत्महत्या करते समय व्यक्ति की मुख-मुद्रा विकृत होती है, उस पर तनाव होता है, उस पर भय की रेखायें झलकती रहती हैं।	3. सल्लेखना में साधक की मुख-मुद्रा पूर्ण शान्त होती है, उसके चेहरे पर किसी किस्म की आकुलता-व्याकुलता नहीं होती।
4. आत्मघात करने वाले का स्नायुतन्त्र तनावयुक्त होता है।	4. सल्लेखना करने वाले का स्नायुतन्त्र तनावमुक्त होता है।
5. आत्मघात करने वाले की मृत्यु आकस्मिक होती है।	5. सल्लेखना स्वाभाविक मृत्यु को स्वीकारने की कला है। उसका आधार जीवन-दर्शन है।
6. आत्महत्या लुक-छिपकर की जाती है।	6. सल्लेखना का स्थल सभी को ज्ञात होता है।

- | | |
|---|--|
| 7. आत्महत्या नकारात्मक है तथा समाज में निन्दनीय है। धर्म-विरुद्ध है। | 7. सल्लेखना सकारात्मक है। समाज में सम्माननीय है। धर्म-सम्मत है। समाधिस्थल बनाये जाते हैं। जबकि कोई आत्महत्या स्थल नहीं बनाये जाते हैं। |
| 8. आत्महत्या में "हत्या" शब्द का प्रयोग है। | 8. सल्लेखना में यह शब्द नहीं है। |
| 9. आत्महत्या में बलात् मृत्यु को बुलाया जाता है। | 9. सल्लेखना में आयी हुई मौत का स्वागत होता है। |
| 10. आत्महत्या विवशता में की जाती है। | 10. सल्लेखना स्ववशता में ली जाती है। |
| 11. आत्महत्या अनायास होती है क्रमिक नहीं। ऐसा सुनने में नहीं आता कि अमुक व्यक्ति एक महीने से आत्महत्या कर रहा है। | 11. सल्लेखना का एक वैज्ञानिक क्रम है जैसे 12 वर्षों की उत्कृष्ट नियम सल्लेखना। साधक बहुत समय से तथा बहुत समय तक सल्लेखना लिये रहता है। |

इसके अलावा भी और अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हम जब कभी भी किसी सिद्धान्त या आचार को देखते हैं तो उसके सत्य या असत्य का निर्णय बाहर से कर लेते हैं, उसकी आत्मा को देखने की कोशिश नहीं करते। तर्क से धर्म को नहीं समझा जा सकता। अध्यात्म तर्कातीत होता है। सल्लेखना को आत्महत्या कहना बहुत ही हल्का और स्थूल कथन है। कोई बिना एक्सीडेंट, हॉर्ट अटैक या किसी बीमारी के मरेगा तो लोगों को सिवाय आत्महत्या के कोई दूसरा कारण ही समझ में नहीं आयेगा। आत्महत्या शब्द प्रसिद्ध भी बहुत है इसलिये कई लोगों को "सल्लेखना" की अवधारणा में भी आत्महत्या ही दिखाई देती है। अतः हमें हर दृष्टि को समझने के लिए गहराई में अवश्य जाना चाहिए तभी हम जैन धर्म तथा संस्कृति की इस महत्त्वपूर्ण सच्चाई को समझ पायेंगे।

आराधना की जैन अवधारणा एवं सल्लेखना

— सुधीर कुमार राय

आचार्य शिवार्य रचित *भगवती आराधना* और अपराजित सूरि रचित इसकी टीका *विजयोदया* एक ऐसी परम्परा के ग्रन्थ हैं जिनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के कुछ लक्षण विद्यमान हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय साधुओं के वस्त्र-पात्रादि का समर्थक ही नहीं, अपितु पोषक भी है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में यह स्वीकृत नहीं है। दूसरी ओर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आगम ग्रन्थ मान्य है, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं। *भगवती आराधना* और इसकी टीका से प्रकट होता है कि एक ओर इनके रचयिता वस्त्र-पात्र आदि के घोर विरोधी प्रतीत होते हैं दूसरी ओर आगम ग्रन्थों को मान्यता देते हैं। निश्चित ही इनका सम्बन्ध उस परम्परा से है जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के भेद के पूर्व की है। प्रायः चन्द्रगुप्त मौर्य (ई.पू. चतुर्थ शताब्दी) का काल श्वेताम्बर-दिगम्बर के भेद का काल माना जाता है। इन सम्प्रदायों के विभक्त हो जाने के बाद भी पूर्ववर्ती मिली-जुली परम्परा आगे तक प्रचलित रही और इस परंपरा के अन्तर्गत *भगवती आराधना* एवं इसकी *विजयोदया* टीका की रचना हुई। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन ई.पू. चतुर्थ शताब्दी से पूर्ववर्ती सल्लेखना सम्बन्धी जैन अवधारणा पर प्रकाश डालता है।

आराधना को परिभाषित करते हुए *भगवती आराधना* की दूसरी गाथा में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहते हैं। आराधना के दो भेद हैं — 1. सम्यक्त्वारोधना और 2. चरित्राराधना।

दर्शन की आराधना करने पर ज्ञान की आराधना नियम से होती है, किन्तु ज्ञान की आराधना करने पर दर्शन की आराधना भजनीय है, वह होती भी है और नहीं भी होती, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान नियम से होता है परन्तु ज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन के होने का नियम नहीं है।

संयम की आराधना करने पर तप की आराधना नियम से होती है, किन्तु तप की आराधना से चरित्र की आराधना भजनीय है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि भी यदि अविरत है तो उसका तप हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है। अतः सम्यकत्व के साथ संयमपूर्वक ही तपश्चरण करना कार्यकारी होता है, इसलिये चरित्र की आराधना में सबकी आराधना होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। इसलिये सम्यक्चारित्र की आराधना में सबकी आराधना गर्भित है। इसी से आगम में आराधना को चरित्र का फल कहा गया है और आराधना परमागम का सार है क्योंकि बहुत समय तक ज्ञान, दर्शन और चरित्र का निरतिचार पालन करने पर भी यदि मरते समय उनकी विराधना कर दी जाये तो उसका फल अनन्त संसार है। इसके विपरीत अनादि मिथ्यादृष्टि भी चरित्र की आराधना करके क्षणमात्र में मुक्त हो जाते हैं। अतः आराधना ही सारभूत है।

ध्यातव्य है कि दर्शन, ज्ञान, चरित्र एवं तप का उल्लेख अन्य आगम साहित्य में भी हुआ है किन्तु वहाँ उनके लिए "आराधना" शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया। *भगवती आराधना* में सर्वप्रथम इस प्रसंग में आराधना का उल्लेख हुआ है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से मरण समाधि का कथन है। मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है, उसी के लिये जीवन भर आराधना की जाती है; उस समय विराधना करने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है और उस समय की आराधना से जीवन भर की आराधना सफल हो जाती है। अतः जो मरते समय आराधक होता है यथार्थ में उसी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और तप की साधना को "आराधना" कहा जाता है।

जिनागम में तीर्थकरों ने मरण के सत्रह प्रकार बताये हैं — 1. अवीचिमरण, 2. तद्भवमरण, 3. अवधिमरण, 4. आद्यन्तमरण, 5. बालमरण, 6. पंडितमरण, 7. आसण्णमरण, 8. बालपंडितमरण, 9. सशल्लमरण, 10. बलायमरण, 11. वसट्टमरण, 12. विष्णामरण, 13. गिद्धपुट्टमरण, 14. भक्तप्रत्याख्यानमरण, 15. इंगिनीमरण, 16. प्रायोपगमनमरण, और 17. केवलीमरण।

किन्तु *भगवती आराधना* के ग्रन्थकार ने संक्षेप में पाँच प्रकार के मरणों का उल्लेख किया है — पण्डित-पण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बाल-बालमरण। क्षीणकषाय और केवली का मरण पण्डित-पण्डितमरण है और विरता-विरत श्रावक का मरण बालपण्डितमरण है। अविरत सम्यग्दृष्टि के तीन भेद हैं — भक्तप्रतिज्ञा, प्रायोपगमन और इंगिनी। यह मरण शास्त्रानुसार आचरण करने वाले साधु का होता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में मरण के दो भेद हैं — बालमरण एवं पण्डितमरण, जबकि *स्थानांग* में अप्रशस्तमरण और प्रशस्तमरण। बालमरण एवं अप्रशस्तमरण के बारह प्रकार बताये गये हैं —

1. *बलन्मरण* — परिषहों से पीड़ित होने पर संयम त्याग करके मरना।
2. *वशार्तमरण* — इन्द्रिय विषयों के वशीभूत होकर मरना।

3. *निदानमरण* – भावी जीवन में धन, वैभव, भोग आदि की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए मरना।
4. *तद्भवमरण* – मरकर उसी भव में पुनः उत्पन्न होना और मरना।
5. *गिरिपतनमरण* – पर्वत से गिरकर मरना।
6. *तरुपतनमरण* – वृक्ष से गिरकर मरना।
7. *जलप्रवेशमरण* – नदी में बहकर या जल में डूबकर मरना।
8. *अग्निप्रवेशमरण* – आग में झूलसकर मरना।
9. *विषभक्षणमरण* – विषपान करके मरना।
10. *शस्यावपाटनमरण* – शस्त्र की सहायता से मरना।
11. *वैहायसमरण* – फाँसी की रस्सी में झूलकर मरना।
12. *गिद्धपट्ट या गृद्धस्पृष्टमरण* – विशालकाय मृत पशु के शरीर में प्रवेश करके मरना।
पण्डितमरण अथवा प्रशस्तमरण के दो भेद हैं –

1. *भक्तप्रत्याख्यानमरण* – आहार-जल का क्रम से त्याग करते हुए समाधि-पूर्वक प्राण त्याग करने को भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं।
2. *प्रायोपगमनमरण* – कटे हुए वृक्ष के समान निश्चेष्ट पड़े रहकर प्राण त्यागने को प्रायोपगमनमरण कहते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान एवं प्रायोपगमन दोनों ही प्रकार के मरण को उत्तम माना गया है जबकि अप्रशस्तमरण के बारहों प्रकार के मरण को अधम कोटि का माना गया है।

भगवती आराधना में भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद किये गये हैं – सविचार एवं अविचार। यदि मरण सहसा उपस्थित हो तो अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है अन्यथा सविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है। भक्तप्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष कहा गया है। साधक चार वर्ष तक अनेक प्रकार के कायक्लेश करता है। दूध, आदि रसों को त्यागकर चार वर्ष तक शरीर को सुखाता है। आचाम्ल और निर्विकृति के द्वारा दो वर्ष बिताता है। आचाम्ल के द्वारा एक वर्ष बिताता है। मध्यम तप के द्वारा शेष वर्ष के छह माह और उत्कृष्ट तप के द्वारा शेष छह मास बिताता है। इस प्रकार शरीर की सल्लेखना करते हुए वह परिणामों की विशुद्धि की ओर सावधान रहता है। एक क्षण के लिये भी उस ओर से उदासीन नहीं होता।

सल्लेखना के दो भेद हैं – बाह्य और आभ्यन्तर। शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है और कषायों को कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना है। बाह्य सल्लेखना के लिए छः प्रकार

के तप करने के लिये कहा गया है – अनशन, अवमौदर्य, रसों का त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशया। सल्लेखना के समय निम्न वस्तुओं के त्यागने की बात ग्रन्थकार ने कही है। दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और घृत का पूर, पूवे, पत्रशाक, सूप और लवण, आदि सबका अथवा एक-एक का त्याग रस परित्याग है, अर्थात् सल्लेखना काल में दूध आदि सबका या उनमें से यथायोग्य दो-तीन-चार का त्याग रस परित्याग है। शरीर सल्लेखना करने वाले को यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूप से सेवन करना चाहिये।

क्षपक सल्लेखना के लिये क्रम से आहार को कम करते हुए शरीर को कृश करता है और एक-एक दिन ग्रहण किये तप से, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस प्रकार सल्लेखना को करता है। विविध प्रकार के रसरहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचम्ल भोजन, आदि से और नाना प्रकार के उग्र नियमों से दोनों प्रकार के संयमों को नष्ट न करता हुआ अपने बल के अनुसार देह को कृश करता है।

इस प्रकार से सल्लेखना करने वाले या तो आचार्य होते हैं या सामान्य साधु होते हैं। यदि आचार्य होते हैं तो वे शुभ मुहूर्त में सब संघ को बुलाकर योग्य शिष्य पर उसका भार सौंपकर सबसे क्षमा याचना करते हैं और नये आचार्य को शिक्षा देते हैं। उसके पश्चात् संघ को शिक्षा देते हैं। इस प्रकार आचार्य संघ को शिक्षा देकर अपनी आराधना के लिये अपना संघ त्यागकर अन्य संघ में जाते हैं। समाधि का इच्छुक आचार्य निर्यापक की खोज में पाँच सौ-सात सौ योजन तक भी जाता है। ऐसा करने में उसे बारह वर्ष तक लग सकते हैं। इस काल में यदि इसका मरण भी होता है तो वह आराधक ही माना जाता है। योग्य निर्यापक को खोजते हुए जब वह संघ में जाता है तब उसकी परीक्षा की जाती है। आचार्य परीक्षा के लिये क्षपक से तीन बार उसके दोषों को स्वीकार कराते हैं। यदि वह तीनों बार एक ही बात कहता है तो उसे सरल हृदय मानते हैं किन्तु यदि वह उलटफेर करता है तो उसे मायावी मानते हैं और उसकी शुद्धि नहीं करते। इस प्रकार श्रुत का पारगामी और प्रायश्चित्त के क्रम का ज्ञाता आचार्य क्षपक की विशुद्धि करता है।

उपर्युक्त विवरण से यह भ्रान्ति हो सकती है कि यदि सल्लेखना ही सच्ची आराधना है, दूसरे शब्दों में मरते समय की आराधना सारभूत है तो मरने से पूर्व जीवन में चरित्र की आराधना क्यों करनी चाहिये? इसका उत्तर है, आराधना के लिये पूर्व में अभ्यास करना उचित है जो उसका पूर्वाभ्यासी होता है उसकी आराधना सुखपूर्वक होती है।

जैन धर्म में जन्म और मृत्यु

— सियाशरण पाण्डेय

जन्म एवं मृत्यु की प्रक्रिया मात्र एक जैव-वैज्ञानिक घटना ही नहीं है बल्कि इसका एक व्यापक धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक सन्दर्भ भी है। जैव-वैज्ञानिक घटना के रूप में जन्म एवं मृत्यु को हर्ष और विषाद का विषय नहीं बनाया जा सकता। यह दुःखद एवं सुखद व्यापक सामाजिक संदर्भों में ही होता है। इसके औचित्य एवं अनौचित्य तथा आधुनिक समाज में इससे सम्बन्धित भ्रूण-हत्या एवं इच्छामरण (युथेनेसिया) जैसे दुःख एवं विवादास्पद प्रश्नों पर व्यापक सामाजिक संदर्भों में ही विचार किया जा सकता है; केवल वैज्ञानिक दृष्टि ऐसी समस्याओं पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिये पर्याप्त नहीं है। ऐसी संस्कृतियाँ जो जन्म और मृत्यु के एक ही अन्तराल में जीवन को देखती हैं और ऐसी संस्कृतियाँ जो आवागमन के चक्र के रूप में जीवन को समझाती हैं — दोनों के लिये जन्म और मृत्यु का सामाजिक सन्दर्भ अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत होता है। भारतीय संस्कृति में तो जन्म-पूर्व संस्कार एवं मृत्योत्तर संस्कारों के इतने व्यापक रूप एवं संदर्भ देखे जा सकते हैं कि उनके बिना भारतीय परम्परागत समाज एवं जीवनदृष्टि से सम्बन्धित बहुत सी समस्याओं को समझा ही नहीं जा सकता। जन्म और मृत्यु की संस्कृति-सापेक्ष समझ आज के वैज्ञानिक युग में "युथेनेसिया", भ्रूण-हत्या, माँ बनने एवं माँ नहीं बनने के अधिकार की माँग, लिंग पहचानकर भ्रूण-हत्या के प्रयास, इत्यादि समस्याओं पर एक वैश्विक सामाजिक समझ के लिये जन्म और मृत्यु की संस्कृति-सापेक्ष समझ आवश्यक है।

प्रस्तुत आलेख में हम जैव-वैज्ञानिक एवं चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से मृत्यु की घटना से सम्बन्धित कुछ समस्याओं को रेखांकित करते हुए जैन धर्म के अनुसार जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया को निरूपित करने का प्रयास करेंगे। वास्तव में विज्ञान मृत्यु की सम्यक् व्याख्या नहीं कर सकता, वह केवल मृत्यु की रिपोर्ट मात्र ही दे सकता है क्योंकि विज्ञान आज तक सनातन चेतन तत्त्व को स्वतन्त्र द्रव्य या स्वतन्त्र शक्ति के रूप में नहीं स्वीकार कर पाया है। विज्ञान पञ्चभौतिक शरीर को ही अन्तिम सत्ता मानकर मृत्यु के विषय में इतना ही कहता

है कि जब हृदयगति रुक जाती है तो मृत्यु समझी जाती है। लेकिन जीव-विज्ञान के अनुसंधानों से यह सिद्ध हुआ है कि यह मृत्यु नहीं — “कार्डिएक ऐरेस्ट्स” है। विज्ञान आज मानसिक विद्युत तरंगों का स्थगित होना ही मृत्यु का लक्षण बताता है अर्थात् जब मस्तिष्क को संवेदनार्थे प्राप्त नहीं होती हैं तो व्यक्ति की मृत्यु समझी जाती है। लेकिन जीव-विज्ञान के इन अपूर्ण और अतिक्रमित होने वाले निष्कर्षों से अन्ततः केवल मृत्यु की सूचना ही दी जा सकती है उसकी सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। निकट भविष्य में बिजली के झटके या मालिश से हृदयगति और स्थगित मानसिक विद्युत तरंगों को पुनः चालित किया जा सकता है। लेकिन यहाँ एक प्रश्न हमसे तत्क्षण उत्तर की प्रतीक्षा करता है कि क्या विज्ञान प्राणी को मृत्यु की विभीषिका से बचा लेगा? यहाँ विज्ञान मौन हो जाता है। अन्ततः हमें दार्शनिक सत्य की शरण में जाकर कहना होता है — “जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः ध्रुव जन्म मृत्युश्च”¹। मृत्यु के पश्चात् विज्ञान का पञ्चभौतिक शरीर तो यथावत् होता है लेकिन जीवित अवस्था की वे शक्तियाँ जिनसे शरीर संवेदनशील था, सोचने-विचारने, निर्णय करने की विलक्षण क्षमता थी, अपने-पराये का भान था, प्रेम और घृणा के भाव होते थे, सब कुछ एकाएक लुप्त हो जाता है। जिस तत्त्व की उपस्थिति के कारण यह सब कुछ होता है, उसे विज्ञान जीवित अवस्था में नहीं जान पाया तो मरने के पश्चात् क्या जानेगा? हमें उस अदृश्य तत्त्व की उपस्थिति का ही केवल अनुभव होता है, वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है जिसे बताया जा सके। *उत्तराध्ययन* में कहा गया है — “नो इन्द्रियगेज्ज्ञा अमुक्त भावा”। विज्ञान तो शरीर में “सेल्फ परपीच्युएटिव टेण्डेन्सी ऑफ प्रोटोप्लाज्मा” को भी सम्यक् रूपेण नहीं जान पाता है, क्योंकि यह एक चेतन क्रिया है। शरीर और औषधि विज्ञान में नोबेल पुरस्कार विजेता सर जेन्ट जोर्जोर्ड ने कहा था “जीवन के रहस्यों की अपनी खोज में विज्ञान को केवल परमाणु और विद्युतकण ही हाथ लगे हैं जिसमें कोई जीवन नहीं है। इस राह में जीवन कहीं-न-कहीं अंगुलियों के बीच से बह गया है।”² वस्तुतः परमाणुओं के परस्पर व्यापार से चेतना के आविर्भाव को बताने में हमारी निष्ठा को बहुत बड़ी छलांग लगानी पड़ती है। डी.एन.ए. के सूत्रों से समस्त मानव प्रवृत्तियों की सम्यक् व्याख्या सम्भव नहीं है। जीवन और मृत्यु की सम्यक् व्याख्या के लिए भौतिक शरीर से स्वतन्त्र चेतन तत्त्व आत्मा को मानना आवश्यक है। स्वतन्त्र चेतन तत्त्व का शरीरस्थ होना ही जीवन का मूल तत्त्व है। इसी से भ्रूण पिण्ड में भी मन, बुद्धि, अहंकारत्व, शरीर के अङ्गों में समरस अन्तर्क्रिया देखी जाती है। स्वतन्त्र चेतन तत्त्व की मान्यता धर्म एवं दर्शन पराविज्ञान के क्षेत्र में आती है, रियल साइंस के क्षेत्र में नहीं।

1. गीता, 2 / 26.

2. द्रष्टव्य, आज, दैनिक वाराणसी, 19 अक्टूबर, पुनर्जन्म विषयक लेख।

विज्ञान मृत्यु को जीवन का सर्वथा अन्त मानकर एवं पुनर्जन्म को नकारकर, भौतिक शरीर को ही अमर बनाने का प्रयास करता है। लेकिन धर्म-दर्शन, जो अध्यात्म-विद्या (चेतना का विज्ञान) है, के अनुसार मृत्यु जीवन का अन्त नहीं मात्र शरीर का परिवर्तन है। वस्तुतः जीवन स्वतंत्र चेतन तत्त्व आत्मा की अहर्निष काल यात्रा है, जिसमें जन्म एवं मृत्यु पुनः-पुनः आने वाले संध्या और प्रभात हैं।³ इसलिए धर्म-दर्शन इस भौतिक शरीर को अमर बनाने का प्रयास नहीं करता है? बल्कि उस महामरण का सहर्ष स्वागत करता है, जिसके बाद पुनर्जन्म न हो। यह चरम मृत्यु जैन धर्म के अनुसार आवरणों से मुक्त हो जाने पर प्राप्त होती है, यही सभी धर्मों में शाश्वत् शान्ति "मोक्ष" की अवस्था है।

जैन धर्म में मृत्यु के रहस्य के उद्घाटन का एक अनुभवसंगत, बुद्धिसंगत और विज्ञानसंगत प्रयास किया गया है। इसके अनुसार आत्मा और पुद्गल का संयोग ही जीवन का मूल तत्त्व है। इसी से शरीर-मन-प्राण का आविर्भाव होता है। आत्मा और पुद्गल का संयोग क्यों होता है? यह एक अनादि प्रश्न है, लेकिन बौद्धिक दृष्टि से "कर्म" को इसका हेतु माना जाता है। आत्मा और पुद्गल का संयोग हो जाने पर दोनों अपनी शुद्ध स्थिति में नहीं रहते हैं बल्कि एक-दूसरे को प्रभावित करने लगते हैं। पुद्गल से सम्बन्धित होने पर ही जीव में राग उत्पन्न होता है और कर्म व्यापार शुरु होता है। आत्मा की शुद्ध स्थिति में (पुद्गल वियुक्त) कर्म की कोई सम्भावना नहीं है।⁴ हम जो भी कर्म करते हैं, वह सभी राग-द्वेषजन्य हैं। राग-द्वेषयुक्त जीव की प्रत्येक मानसिक-कायिक-वाचिक क्रिया के साथ एक पौद्गलिक द्रव्य, जिसे उनकी परम्परागत शब्दावली में कर्म पुद्गल कहा जाता है, जीव की ओर आता है, और जीव को आवृत्त कर लेता है।⁵ वस्तुतः यही बन्धन है। स्पष्ट है जब आत्मा और पुद्गल का संयोग ही जीवन का मूल तत्त्व है, तो उनका सम्बन्ध-विच्छेद ही मृत्यु होगा। इस सम्बन्ध-विच्छेद की दो अवस्थायें हैं, प्रथम आत्यन्तिक-विच्छेद, जो मोक्ष है और दूसरा आंशिक विच्छेद जो सांसारिक मृत्यु है। प्रथम में आत्मा का पुनः पुद्गल संयोग नहीं होता है, दूसरे में कर्मावरण शेष होने से पुनः संयोग होकर शरीर बनता है और पुनर्भव होता है। सामान्यतया मृत्यु का मतव्य इसी दूसरे प्रकार के आंशिक सम्बन्ध-विच्छेद से है। इसे जैन अपनी पारम्परिक शब्दावली में पुराने आयु-कर्म के दलिकों का क्षीण होना कहते हैं। इसलिए जैन धर्म में इस मृत्यु का अर्थ आत्मा का औदारिक शरीर से पृथक् होना है। इसका कारण ओज-आहार की प्रक्रिया का शरीर में रुक जाना है। ओज-आहार का अर्थ है, जीवन को धारण करने वाली पौद्गलिक शक्ति, जिसके द्वारा आत्मा तीन शरीर और छः पर्याप्तियों को ग्रहण करती है। प्राणी जब गर्भस्थ होता है तो प्रथम क्षण में वह जिन पुद्गलों-

3. गीता, 2/22/ और 6/3।

4. प्रवचनसार — उद्धृत, भारतीय दर्शन, डा.बी.एन. सिंह, पृ. 154।

5. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 186।

अणुपिण्डों को ग्रहण करता है वही ओज-आहार कहलाते हैं। यही प्राणी के समूचे जीवन का आधार है। प्राणी के शरीर का निर्माण — श्वासोच्छ्वास — आंख, कान, आदि इन्द्रियों का निर्माण, वाक् सामर्थ्य का निर्माण यह सब बाद की क्रमशः निष्पत्तियाँ होती हैं। जैन धर्म में इन्हें छः पर्याप्तियों के नाम से जाना जाता है। ये हैं — आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। जन्म के प्रारम्भ में जीव के द्वारा जो पौद्गलिक शक्ति का निर्माण होता है वह "पर्याप्ति" है — भवारम्भे पौद्गलिक सामर्थ्य निर्माण पर्याप्ति: १० संस्कारात्मक राग-द्वेषयुक्त जीव का पुद्गल सम्बन्ध से सर्वप्रथम आहार-पर्याप्ति का निर्माण होता है, तत्पश्चात् अन्य पर्याप्तियों का निर्माण अंतर्मुहूर्त समय में क्रमशः होता है। आहार-पर्याप्ति के माध्यम से प्राणी आहार के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, और आहार के रूप में उनका परिणमन करता है। उसके पश्चात् क्रमशः शरीर-इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास-भाषा, मन के योग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है। इस प्रकार से क्रमशः परिणमन और उत्सर्ग के द्वारा आहार-पर्याप्ति आदि छः पर्याप्तियों का निर्माण होता है।

इस प्रकार किसी भी प्राणी के सम्पूर्ण जीवन की रचना और क्रियायें इन्हीं पर्याप्तियों के आधार पर होती हैं। लेकिन यहाँ ध्यानाकर्षक बात यह है कि ये पर्याप्तियाँ मात्र पौद्गलिक शक्तियाँ हैं, इनमें संवेदनशीलता का सर्वथा अभाव होता है। अतः इनके संचालन और क्रियाशीलता का आधार कोई दूसरा तत्त्व है, जिसे धर्म में "प्राण तत्त्व" कहा गया है। प्राण का अर्थ है — जीवन — शक्ति जो चैतसिक होने से संवेदनशील होता है। प्राण अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए पर्याप्तियों की अपेक्षा रखता है और प्राण की ऐसी प्राकृतिक प्रवृत्ति ही जीव और पुद्गल के तादात्म्य का मूल कारक है।

प्राण और पर्याप्ति में मूल अन्तर यह है कि प्राण आत्मिक शक्ति है जबकि पर्याप्ति जीव के द्वारा ग्रहण की गयी पौद्गलिक शक्ति है। आत्मा की सभी कायिक, मानसिक प्रवृत्तियाँ बाह्य एवं शरीर सापेक्ष हैं, जो पुद्गल-द्रव्य के ग्रहण से निर्मित होता है। इन प्रवृत्तियों का सम्पादन करने वाली शक्ति का नाम "प्राण तत्त्व" है। जिन पौद्गलिक शक्तियों के माध्यम से ये क्रियायें सम्पादित होती हैं वही पर्याप्तियाँ हैं। पर्याप्ति और प्राण में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। पर्याप्ति कारण है, और प्राण उसका कार्य। क्योंकि आत्मा का पुद्गल से संयोग होने पर ही पर्याप्ति का निर्माण होता है और आत्मा "प्राण तत्त्व" के रूप में पर्याप्तियों में अपनी अभिव्यक्ति पाती है। इसलिए प्राण का असाधारण कारण पर्याप्तियाँ ही है। पाँच इन्द्रियों का कारण इन्द्रिय-पर्याप्ति है। मनोबल, कायबल एवं वचनबल के कारण क्रमशः मनः-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति और भाषा-पर्याप्ति है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का कारण होता है — पान-अपान-व्यान-उदान, एवं आयुष्य प्राण का कारण है आहार पर्याप्ति। आहार पर्याप्ति के आधार पर ही

आयुष्य प्राण टिकता है, और इसकी समाप्ति ही मृत्यु है। शार्ङ्गधर का भी मत है – शरीर और प्राण का संयोग आयुष्य है, और इनका वियोग मृत्यु है।⁷

इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार आहार-पर्याप्ति के निर्माण समय में ग्रहण किया गया ओज-आहार और आयुष्य-प्राण ही प्राणी को शरीर विशेष में जीवित रखते हैं। इसका क्षीण हो जाना ही मृत्यु है। जब तक यह समाप्त नहीं होता, प्राणी का शरीर विगलित क्यों न हो जाये, शरीर के यंत्र – फेफड़े, हृदय-मस्तिष्क, क्यों न अपना काम बन्द कर दें, इन्द्रियाँ क्यों न शिथिल हो जाएं, श्वासोच्छ्वास भी स्थगित हो जाए, फिर भी प्राणी जीवित रहता है। दूसरी ओर शरीर-इन्द्रियाँ सब कुछ स्वस्थ क्यों न रहें, लेकिन यदि एक शरीर में ओज-आहार की शक्ति क्षीण हो जाना है। ऐसी ही मृत्यु यथार्थ मृत्यु होती है जो आजकल प्रायः होती ही नहीं। मृत्यु की सभी घटनाओं का कारण कोई-न-कोई व्याधि या बाह्य असंतुलन होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि श्वास या हृदयगति अथवा स्थगित मानसिकीय विद्युत तरंगों को विज्ञान पुनः संचालित करने में सफल क्यों न हो जाए, वह प्राणी को मृत्यु के पंजे से नहीं बचा सकता है।

मृत्यु का सम्यक् स्पष्टीकरण जैन धर्म में वर्णित शरीर विभाग के वर्णन से भी हो जाता है।⁸ सामान्यतः प्राणी के तीन शरीर होते हैं – औदारिक, तेजस् और कर्मण।⁹ स्थूल पुद्गलों से निर्मित शरीर, जिसका छेदन-भेदन सम्भव है, वह है औदारिक शरीर। जो शरीर तेजोमय होने से खाये हुए आहार के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त होता है वह है तेजस् शरीर। जो शरीर कर्मजन्य है वही कर्मण शरीर कहलाता है। इसे कर्म-पिण्ड या कर्म-समूह भी कहते हैं।¹⁰ व्यावहारिक जीवन में कर्म रूप, काम, क्रोध, राग, द्वेष, इच्छा, वासना, सभी संस्कार रूप में आत्मलिप्त रहते हैं, इससे ही कर्मण शरीर का निर्माण होता है। कर्मण और तेजस् शरीर सूक्ष्म होते हैं इसलिये मृत्यु के पश्चात् भी वे आत्मा के साथ रहते हैं। अतः जैन मान्यता के अनुसार मृत्यु का वास्तविक अर्थ – "आत्मा का अपने औदारिक शरीर से विलग होना है।"

मृत्यु के पश्चात् आत्मा अपने कर्मण और तेजस् शरीर से युक्त रहते हुए, ऋजु या विग्रह गति से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे पुनः जन्म लेना है। इस प्रकार प्राणी की मृत्युकर्म-संस्कार के अनुरूप ऋजु या विग्रह गति, स्त्री-पुरुष के रति-क्रिया से संसेचित भ्रूण में प्रवेश, गर्भ-काल और शिशु का जन्म यह नये शरीर के ग्रहण एवं विकास का क्रम है। यही आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है।

7. शार्ङ्गधर संहिता, 5/45/1

8. जैन धर्म में प्राणी के पांच शरीर बताये गये हैं – देखें, सर्वार्थसिद्धि, 2/26।

9. तत्त्वार्थ सूत्र, पं. सुखलालजी, पृ. 79।

10. वही, पृ. 71।

पुनर्जन्म के नये स्थान – योनि का निर्धारण “कर्म” के आधार पर होता है। आधार का यहाँ मतलब पूर्वकृत कर्म (प्रारब्ध कर्म) से है – जो गुणात्मक दृष्टि से विविध प्रकार का है।¹¹ सुश्रुत का भी मत है – कर्मणा चेदितोयेन, तदाप्नोति पुनर्भव।¹² मृत्यु के पश्चात् प्राणी को भावी गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक चार समय लगता है। ऋजु गति से जाने में एक समय और विग्रह गति से जाने में एक मोड़, दो मोड़, तीन मोड़ होने पर क्रमशः दो समय, तीन समय और चार समय लगता है। पुनर्भव का स्थान कितना भी दूर क्यों न हो, प्राणी के पहुँचने में अधिक-से-अधिक चार समय लगता है। यह समय एक क्षण के शतांश से भी कम है। इसे जैन धर्म में “अन्तराल गति” कहा जाता है। इस अन्तराल गति के समय आत्मा के साथ औदारिक शरीर का अभाव होता है, लेकिन आत्मा सूक्ष्म शरीर अर्थात् तेजस्, आहारक और कर्मण शरीर से युक्त होती है। गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर आत्मा सर्वप्रथम ओज-आहार का ग्रहण करती है जो उसके नये शरीर के निर्माण का आधार होता है। इस प्रकार आत्मा पुनः औदारिक शरीर या वैक्रय शरीर से युक्त होकर संसार के क्रियाकलापों में भाग लेती है। केवल मुख्यमान जीव तीनों शरीरों को छोड़कर ऋजुगति सिद्धिशिला तक पहुँच जाते हैं। बन्धन के कारण का अभाव होने से उनकी जन्म-मरण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। संक्षेप में जैन धर्म के अनुसार यही जन्म-मरण की प्रक्रिया है।

11. तत्त्वार्थसूत्र, पृ. 65.

12. सुश्रुत संहिता 2/55/।

सिख धर्म में मृत्यु का स्वरूप

— रेणु द्विवेदी

“मृत्यु” जीवन का शाश्वत् सत्य है। जब तक जीवन है तब तक मृत्यु की भी सत्ता है। समस्त संसार जन्म एवं मृत्यु के चक्र में आबद्ध है। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इस शाश्वत् सत्य को स्वीकार करते हुए भी भारतीय परम्परा मृत्यु से अमरता की ओर चलने का संदेश देती है। भारतीय परम्परा अध्यात्मवादी है। असंतोष, पीड़ा, नश्वरता, सदा से ही भारतीय मनीषा को कचोटती रही है जिसके समाधान हेतु अध्येता मूल कारण के अन्वेषण में क्रियाशील रहे हैं। मैत्रेयी की जिज्ञासा — “किंऽहं तैन कुर्याम येनाऽमृतम् स्यात्” भारतीय चिन्तन यात्रा में मील का पत्थर है। भारतीय चिन्तक लघुता से पूर्णता की ओर जाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है, सीमा बन्धन है उन्मुक्तता मुक्ति है। “मुक्ति” की कामना समस्त भारतीय दार्शनिकों द्वारा समान रूप से स्वीकार की गयी है। मुक्ति के स्वरूप के विषय में दर्शनों में किञ्चित् भेद हो सकता है परन्तु समस्त धर्म-दर्शन “मुक्ति” को अपने जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। “मुक्ति” किससे हो? उत्तर स्पष्ट है सांसारिक दुःखों से। सांसारिक दुःख अनेक प्रकार के हैं जिसमें सर्वप्रमुख दुःख है जन्म-मरण का दुःख। इसी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना भारतीय चिन्तकों का सर्वप्रमुख लक्ष्य रहा है। भारतीय चिन्तकों की अध्यात्मवादी दृष्टि केवल जगत् के क्रियाकलाप पर ही केन्द्रित न थी। संसार अतिशय दुःखमय है अतः दुःख के आत्यन्तिक निवारण का मौलिक उपाय खोज निकालना जीवन का चरम आदर्श है। यही कारण है कि *बृहदारण्यक उपनिषद्* (1.3.28) में प्रार्थना की गयी है — “असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।”

असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर जाना ही मानव जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। परन्तु मृत्यु तो शाश्वत् सत्य है। फिर मृत्यु से अमरता की ओर कैसे जाया जा सकता है? भारतीय चिन्तकों ने इस विषय पर सूक्ष्मता के साथ विचार किया है और जीव के वर्तमान जन्म के साथ-साथ पूर्वजन्मों एवं आगामी जन्मों के विषय में भी व्यापक विमर्श किया है तथा अमरता के मार्ग को ढूँढ निकाला है।

सिख धर्म भारतीय धर्म दर्शनों के विशाल उद्यान का एक सुवासित पुष्प है। यह धर्म प्रवृत्तिमूलक धर्म है। यहाँ जीवन एवं मृत्यु के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। सिख धर्म का पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है *आदिग्रन्थ*। इसे हम सन्तमत का अद्भुत एवं प्रामाणिक संकलन कह सकते हैं। *आदिग्रन्थ* में सिख धर्म के दस गुरुओं के अतिरिक्त नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, कबीर, दादू, धन्ना, मीराबाई, रैदास, शेखफरीद, आदि तत्कालीन लगभग सभी संतों की वाणी समान आदर के साथ संग्रहित है। इससे इस धर्म का व्यापक समन्वयात्मक रूप उजागर होता है।

सिख धर्म के आदि प्रवर्तक गुरु नानकदेव जी की रचनाओं में जन्म एवं मृत्यु के विषय में सहज जिज्ञासा प्राप्त होती है कि "जन्म-मरणशील जीव कहाँ से आता है? किस प्रकार उत्पन्न होता है? और किसमें जाकर समा जाता है?"¹ इसका समाधान भी वहीं अगले पद में प्राप्त हो जाता है कि — "जीव सहज ही जाता है। मन के संकल्प विकल्प से उत्पन्न होता है और आत्मज्ञान होने पर मन में ही समा आता है।"² मन के संकल्प-विकल्प से यहाँ तात्पर्य कर्म तथा कर्मगत संस्कारों से है।

भारतीय परम्परा में जीवन एवं मृत्यु का सीधा संबंध "कर्म" से जोड़ा जाता है। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए सिख गुरुओं ने भी जीव में जन्म एवं मृत्यु को उसके कर्मों का ही परिणाम माना है। सिख धर्म में मानवकृत कर्मों को "किरत-कर्म" कहा गया है। "किरत" संस्कृत भाषा के "कृत" शब्द का ही तद्भव रूप है जिसका अर्थ है किया हुआ। "किरत" शब्द के माध्यम से सिख गुरुओं ने गत-जन्मों में किए गये कर्मों के परम्परागत भावों को ही अभिव्यक्त किया है। जीव अपने "किरत-कर्म" के अनुसार ही जन्म ग्रहण करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है।

"जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु" *भगवद्गीता* के इस उद्घोष की ही भांति सिख धर्म में भी समस्त जीवधारी को मृत्यु के नियम के अधीन माना गया है। जो जन्म धारण करता है उसकी मृत्यु निश्चित है —

जो उपजै से कालि संधारिआ

— गउडी, अष्टपदी 14

प्रत्येक प्राणी इसे विधाता से लिखाकर आया है —

मरण लिखाइ मंडल महि आये

— घनासरी अष्टपदी 1/6

1. जातो जाइ कहा ते आवे, कह उपजे कह जाए समावै, किउ बाँधिओ किउ मुकुति पावै, किउ अविनासी सहज समावै। — गउडी पदे 6/1
2. सहजै आवे सहजै जाइ, मन ते उपजै मन माँहि समाई। गुरुमुखि मुक्तो बंधु न पाई, सबदु वीचारी छुटै हरिनाई। — वही, 6/2

सभी जीवों को एक दिन इस संसार से बिछुड़ना ही है -

सभना मरणा बिछोड़ा सभनाह - सारठ पदे 1/1

मृत्यु निश्चित है परन्तु इसके विषय में कोई नहीं जानता कि कब, कहाँ और कैसे मृत्यु आ जाएगी। यह मृत्यु किसी से पूछकर नहीं आती और न ही यह राजा अथवा रंक में कोई भेद रखती है -

मराणी न मूरतु पुछिया, पूछी थिति न वार,

इकनी लदिया इकि लदि, चले इकृती वधेभार।

- सारंग, श्लोक 26

परन्तु परमात्मा की कृपा जिस पर हो जाती है वह "मृत्यु" को भी जीत लेता है। मृत्यु उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं पाती।

जिनु कउ आपि लए प्रभु मेलि, तिनु कउ कालुनसाके वेलि।

- आसा, पदे 15/2

इसीलिए सिख धर्म में ईश्वर भक्ति तथा नाम स्मरण का विशेष महत्त्व है। ईश्वर भक्ति द्वारा व्यक्ति ईश्वर की कृपा प्राप्त कर सकता है जिससे वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। "मृत्यु" पर विजय प्राप्त करने का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति की मृत्यु नहीं होगी क्योंकि मृत्यु तो निश्चित है, अपितु इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि मृत्यु के पश्चात् वह ईश्वर में समा जाता है और जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है फिर उसे पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता और न ही वह मृत्यु का ग्रास बनता है। यही वास्तविक मुक्ति की अवस्था है। सिख धर्म में मृत्यु के पश्चात् के जीवन के विषय में दो ही सम्भावनाएँ हैं या तो जीव कर्मोपभोग के लिए पुनः जन्म-ग्रहण करेगा या मुक्त हो ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करेगा। बीच में पितरलोक अथवा स्वर्ग-नरक की कोई स्थिति सिख धर्म में स्वीकार नहीं की गयी है। मृत्यु के पश्चात् मुक्त जीव के विषय में दो सिद्धान्त पाए जाते हैं - 1. लय सिद्धान्त 2. संरक्षण का सिद्धान्त³। दोनों ही स्थितियों में मृत्यु के पश्चात् जीव ईश्वर में समा जाता है और उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

"मृत्यु" के विषय में चर्चा करते हुए एक प्रमुख समस्या उपस्थित होती है कि "मृत्यु" किसकी होती है, मरता कौन है? भारतीय परम्परा में जीव को अविनाशी माना गया है। वह न मरता है न मारा जाता है।⁴ इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए सिख धर्म में भी कहा गया है कि -

3. *The Sikh Review*, 1983, Chapter 18.

4. नायं हन्ति न हन्यते - गीता 2/19.

ना जीउ मरै न मारीआ जाई, करि देखे सबदि रजाई हो।

— मारु सोलहे 6

यदि जीव अमर है तो मरता कौन है? शरीर, जो कि पाँच भौतिक तत्त्वों का बना हुआ है वह तो जड़ है। चेतना उसमें जीव अथवा आत्मतत्त्व के कारण ही है तथा मृत्यु का सम्बन्ध तो चेतन तत्त्व से ही है। इस विषय पर स्पष्टीकरण करते हुए सिख धर्म में कहा गया है कि “माया” के कारण तथा कर्मोपभोग के लिए “जीव” शरीर धारण करता है तथा कर्मोपभोग हो जाने पर एवं माया का बंधन हट जाने पर शरीर का त्याग कर देता है। जीव द्वारा शरीर धारण करना जन्म है तथा शरीर का त्याग ही मृत्यु है। “माया” ग्रस्त होने पर तथा कर्मोपभोग के लिए जीव बार-बार जन्म ग्रहण करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। वर्तमान जन्म से पूर्व जीव को कितने जन्मों से जुड़ना पड़ा है यह कोई नहीं बता सकता —

जुड़ि जुड़ि बिछुड़ि जुड़े
जीवि जीवि मुए मृए जीवे।

केतिआ के बाप केतिया के बेटे केते गुरु चले हुए,
आगै पाछै गणत न आवै किआ जाती किया हुणि हुए।

— सारंग श्लोक 4

कर्मों के अनुसार जीव अनेक योनियों में भटकते रहते हैं। कभी उन्हें सूखे वृक्ष की योनि धारण करनी पड़ती है, कभी पक्षियों की योनि में जाना पड़ता है।⁵ सभी योनियों में जन्म एवं मृत्यु का चक्र चलता रहता है। परन्तु मनुष्य योनि प्राप्त होने पर जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाया जा सकता है। इसीलिए सिख गुरुओं ने इस शरीर को हरि का मन्दिर कहा है। इस शरीर में ही परम ज्योति स्थापित है —

काइआ महलु मंदरु घरु हरि का, तिसुमहि राखि ज्योति अपार

— महारपदे 5/4

यह शरीर परमात्मा का महल या मन्दिर है। सत्यस्वरूप परमात्मा ने शरीर रूपी गढ़ और फिर उस गढ़ के भीतर भवन की रचना की है और स्वयं ही उस भवन का स्वामी है। उस भवन में अपने बैठने के लिए परमात्मा ने दशम द्वार रूपी सच्चे तख्त की रचना की है।⁶ भगवद्गीता में शरीर को नौ द्वारों वाला बताया गया है (5/13)। गुरु नानकदेव ने एक दशम द्वार की भी परिकल्पना की है। उनके अनुसार काया ही वास्तविक नगर है और गगनदपुरी (दशम द्वार) में सच्चे हरि का निवास है।

5. केते रुख विरख हम चीने, केते पसू उपाए।
केते नाग कुली महि आए, केते पंख उड़ाए।।
6. मारु सोलहे 18/12 (नानकवाणी, गउड़ी चेतह, सबद 17)।

वह स्थान स्थिर है और सदा निर्मल रहता है। शरीर रूपी गढ़ के अन्दर ज्ञान और कर्मन्द्रियों का बाजार सजा हुआ है। दशम द्वार रूपी गुफा ही उसका निवास स्थान है।⁷ उसे बाहर ढूँढना व्यर्थ है। वह अमृत पदार्थ तो भीतर ही बसता है —

बाहरि ढूँढत बहुत दुःख पावहिं

हरि अमृतु घट माहि जीउ — *सोरठ*, पदे 9

उपनिषदों में भी शरीर को देवालय अथवा हरि का मंदिर कहा गया है।⁸ यह मानव शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि परमात्मा की उपासना, साधना का यह सर्वप्रमुख साधन है। यद्यपि यह शरीर नश्वर है, तथापि सिख गुरुओं ने कहीं भी शरीर को हेय नहीं माना है — 'उनका कहना है कि माणिक्य तथा हीरे जैसे मानव जन्म को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिए —

माणसु जनमु दुर्लभ गुरुमुखि पाइया,

हीरे जैसा जनमु है कउड़ी बदले जाइ

— *सूही अष्टपदी 3/1*

गुरु अमरदास ने भी मानव जन्म को पूर्वजन्मों के शुभ कर्मों का परिणाम मानते हुए इसे हरिभक्ति का सर्वोत्तम साधन कहा है।

इस दुर्लभ मानव जीवन की सार्थकता तभी है जब वह ईश्वर से अपनी लौ लगा ले और उसकी भक्ति में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दे। क्योंकि इस शरीर की महत्ता तभी तक है जब तक जीव का इससे सम्बंध है। जीव का शरीर से शाश्वत् संबंध नहीं है। जीव एवं शरीर के संबंध को रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हुए *आदिग्रंथ* में कहा गया है कि "जीवात्मा योगी पुरुष के समान है जो अहर्निश शरीर रूपी स्त्री के साथ आनन्दपूर्वक भोग करता रहता है और जब भोग पूर्ण हो जाता है तो चला जाता है।"⁹ यही मृत्यु की अवस्था है।

मृत्यु की अवस्था का वर्णन करते हुए *आदिग्रंथ* में कहा गया है कि —

मृत्यु अवस्था में शरीर बड़ा भयावह हो जाता है। उसकी जीवन सत्ता रूपी प्रज्वलित अग्नि बुझ जाती है और बुझते समय धुआं तक नहीं निकलता।¹⁰

मृत्यु की भयावहता एवं मृत्यु के शोक से उबरने का एकमात्र उपाय सिख धर्म के अनुसार ईश्वर में एकनिष्ठ भक्ति है। यदि परमात्मा स्वयं प्राणी को अपने में मिला ले तो उसे काल से मुक्ति मिल सकती है —

7. *गरु* सोलहे 18212।

8. देवो देवालयः प्रोक्तः सजीवः केवलः शिवः।

9. काइआ हंस प्रीति बहुधारी ओहजोगी पुरुखु ओह सुंदर नारी, अहनिस भोगे चोज विनोदी। उठि उलतै मता न कीना है। — *गरु* सोलहे 8/6

10. *सिरी* पदे 14/1।

“जिउ कऊ आपि लए प्रभु मेलि तिनु कउ कालु न साकै वेलि” – आसापदे 15/2 परमात्मा के अनुग्रह द्वारा जीव आवागमन के बंधन से छूट जाता है और उसे इस जन्म में प्रभु का अनुग्रह तथा मृत्यु के पश्चात् उसका सानिध्य प्राप्त हो जाता है।

सिख धर्म में मृत्यु के पश्चात् पितरलोक की कोई व्यवस्था स्वीकृत नहीं है और न ही वहाँ स्वर्ग का प्रलोभन है और न ही नर्क की भयावहता। वहाँ तो केवल हीरे जैसा जीवन है जिसे सफल बनाकर “मृत्यु” को जीता जा सकता है।

मृत्यु की अवधारणा इस्लाम की दृष्टि में*

— मुक़तदा हसन अज़हरी

मुस्लिम दार्शनिकों ने मृत्यु पर धर्म एवं दर्शन, दोनों पहलुओं से प्रकाश डाला है तथा धार्मिक विद्वानों ने पवित्र *कुरआन* एवं *हदीस* के प्रकाश में इसकी विवेचना की है। इन विद्वानों ने इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि जब मृत्यु अपरिहार्य सत्य है और उसके बाद एक नये जीवन का आगमन है तब तो मनुष्य मात्र को उसकी तैयारी में पुण्य-कार्य करना अति आवश्यक है जिससे उसकी आने वाली नयी जिन्दगी सुख-शान्तिमय हो।

जैसाकि पहले कहा गया है कि यह विषय बड़ा व्यापक है इसलिए संक्षेप की दृष्टि से मैंने निम्नलिखित तथ्यों पर ही प्रकाश डाला है —

मृत्यु की परिभाषा, "मृत्यु" शब्द का वर्णन पवित्र *कुरआन* में; मृत्यु से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोण, शाह वलीउल्लाह (एक महान् धार्मिक विद्वान्) का मत, मृत्यु के बाद आत्मा की अवस्था, कब्र की अवस्था, पवित्र *कुरआन* में मृत्यु का वर्णन, मृत्यु के स्मरण का लाभ, सकरात (मरणासन्न) की अवस्था, मृत्यु-सम्बन्धी विभिन्न विद्वानों का मत, अन्ततः मृत्यु एक कवि की दृष्टि में। आशा है कि इस लेख द्वारा मृत्यु-सम्बन्धी इस्लाम का दृष्टिकोण कुछ अवश्य स्पष्ट होगा।

मृत्यु की परिभाषा

मौत अरबी भाषा का शब्द है। शब्दकोष में इसे "हयात" अर्थात् जीवन का विलोम बताया गया है। पारिभाषिक अर्थ यह है कि आत्मा शरीर से पृथक् हो जाए। इमाम गज़ाली ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि शरीर आत्मा के अनुगमन से स्वतन्त्र हो जाता है। इसलिए अब शरीर से उसके उपभोग का क्रम समाप्त हो जाता है। (*अल मौसुअतुल फिकहीया*, 39/248)

* अनुवादक अहमद हुसेन

‘मृत्यु’ (मौत) शब्द का वर्णन कुरआन में

इस्लाम के निर्देश जीवन एवं मृत्यु दोनों से सम्बन्धित हैं। इस्लाम ने जीवन को दो भागों में विभाजित किया है और दोनों के मध्य मृत्यु की अवस्था है। दूसरा जीवन मृत्योपरान्त प्रारम्भ होता है। अतः दोनों जीवन की अवस्था एवं उससे सम्बन्धित निर्देश वर्णन के साथ-साथ मौत का विस्तृत वर्णन भी आवश्यक है। इसीलिए पवित्र कुरआन ने इस पर व्यापक प्रकाश डाला है। इस तथ्य पर कुरआन के विशेष ध्यान का अनुमान इस बात से होता है कि ‘मौत’ शब्द का वर्णन पवित्र कुरआन में विभिन्न प्रसंगों में लगभग पचास बार हुआ है, तथा लगभग एक सौ पैंतीस (135) भावों में इस शब्द का अर्थ व्यक्त किया गया है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कुरआन इस तथ्य को मनुष्य के मस्तिष्क में सदैव जाग्रत् रखना चाहता है जिससे कि उसका परलोक जीवन शान्तिमय एवं मंगलमय रहे।

विषय की कठिनता

मनुष्य के ज्ञानार्जन स्रोत सीमित हैं। अभी तक बहुत से ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी तथ्य उसकी बुद्धि से बाहर हैं। परन्तु यह उसकी त्रुटि नहीं है अपितु उसके महत्त्व की व्याख्या एवं अन्वेषण के उद्देश्य का महत्त्व उजागर करने का एक अच्छा उदाहरण है।

मौत भी एक ऐसी ही सच्चाई है जिसकी पूर्ण वास्तविकता और उसका रहस्योद्घाटन मनुष्य क्षमता से अभी परे है। इसका कारण यह है कि मृत्यु की वास्तविकता जानने के लिए जीवन का रहस्य जानना आवश्यक है। यह रहस्य, आत्मा का रहस्य समझे बिना समझ पाना असम्भव है।

आत्मा के सम्बन्ध में नबी स. को मात्र इतना कहने का निर्देश है कि आत्मा ईश्वर का एक अन्न (निर्देश) है। प्रसिद्ध विद्वान् इमाम गजाली ने इससे यह अर्थ लिया है कि आत्मा की वास्तविकता प्राप्त कर लेने के बाद भी किसी धार्मिक विद्वान् को यह अधिकार नहीं है कि वह उसका रहस्योद्घाटन करे। हां, मृत्योपरान्त आत्मा की अवस्था पर विचार व्यक्त कर सकता है।

मृत्यु-सम्बन्धी विभिन्न कथन

मृत्यु की वास्तविकता को समझने की कठिनाई का अनुमान विभिन्न लोगों के कथनों से होता है। कल्पना एवं अनुमान का सहारा लेकर विभिन्न विद्वानों ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया है। परन्तु वास्तविकता प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके हैं। कुछ कल्पनाएं एवं अनुमान निम्नलिखित हैं –

1. मृत्यु की वास्तविकता अप्रत्यक्ष है अर्थात् मृत्योपरान्त नव जीवन, कोई परीक्षा तथा प्रतिफल नहीं, जिस प्रकार जानवर एवं वनस्पतियां नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार मनुष्य का भी अन्त हो जाता है।

2. मनुष्य मृत्यु के बाद विलीन हो जाता है। उसे कब्र में किसी भी प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। हां, जब पुनः उसे जीवन प्राप्त होगा तब पूर्व कर्म का प्रतिफल भोगेगा।
3. आत्मा नष्ट नहीं होती है अर्थात् मृत्यु से उसका अन्त नहीं होता है। दंड और अच्छा प्रतिफल का सम्बन्ध इसी आत्मा से ही होता है, शरीर से नहीं। शरीर का कोई महत्त्व न होगा।

यथार्थ कथन

उपरोक्त तीनों कथनों को इमाम गज़ाली ने यथार्थ से परे समझा है तथा *कुरआन* व *हदीस* की रोशनी में सत्पथ प्रदर्शन करते हुए लिखा है कि "मृत्यु" एक अवस्था परिवर्तन मात्र है। शरीर से पृथक्ता के बाद भी आत्मा जीवित रहती है। उसे सुख-दुःख का सामना करना पड़ता है। शरीर और आत्मा के आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए इमाम गज़ाली ने लिखा है कि मानव शरीरांग आत्मा के यंत्र एवं माध्यम हैं उनका उपयोग आत्मा करती है। मृत्यु के बाद उसका सम्बन्ध शरीर से टूट जाता है परन्तु अब इस अवस्था में आत्मा को बिना किसी माध्यम के ज्ञान प्राप्त होता है। वह सुख-दुःख का अनुभव करता है। इस विवेचना से यह ज्ञात होता है कि आत्मा को अंग द्वारा जो कुछ अनुभूति होती है वह मृत्यु के बाद समाप्त हो जाती है तथा जो कुछ बगैर माध्यम के प्राप्त होता है उसका क्रम मृत्युपरान्त भी जारी रहता है। (*अहयाउल उलूम*, 4/612)

शाह वलीउल्लाह का कथन

आप हिन्दुस्तान के एक बहुत बड़े विद्वान् थे। धर्मशास्त्र का रहस्य, विषय पर उनकी पुस्तक *हुज्जतुल्लाहिलवालेगह* बहुत प्रसिद्ध है। इस पुस्तक में शाह साहब ने मृत्यु की वास्तविकता पर भी विचार व्यक्त किया है। उनकी भाषा-शैली कुछ कठिन है परन्तु तथ्य बहुत स्पष्ट हो जाता है। मृत्यु की अवस्था में आत्मा का शरीर से जिस प्रकार का सम्बन्ध होता है उसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं -

فمن قال بين النفس النطقية المخصوصة بالانسان عند الموت ترفض المادة مطلقاً فقد خرس، نعم لها مادة بالذات، وهي النسمة، ومادة بالعرض، وهو الجسم الأرضي، فإذا مات الانسان لم يضر نفسه زوال المادة الأرضية، وبقيت حالة بمادة النسمة، ويكون كالكتاب المجيد المغوف بكتابه ان قطعت يداه، ملكة الكتابة بحالها.

अर्थात् यदि कोई यह कहता है कि आत्मा मृत्यु के समय पदार्थ को पूर्णतः छोड़ देता है तो वह झूठ कहता है। हां बात यह है कि उसका एक स्वयं का पदार्थ

अर्थात् प्राण है और दूसरा भौतिक पदार्थ अर्थात् शरीर है। जब मनुष्य मर जाता है तो भौतिक नश्वर पदार्थ के विनाश से आत्मा को कोई हानि नहीं होती है। इस अवस्था में आत्मा प्राण में विलीन रहता है, जैसेकि एक अच्छा लेखक जिसका हाथ काट दिया जाए, परन्तु लेखन की क्षमता प्रदर्शन का माध्यम न होने पर भी उसकी वह विशेषता विद्यमान रहे।

इसी बात को शाह साहब ने आगे भी दुहराया है। लिखते हैं कि लौकिक स्थिति में ह्रास उत्पन्न होता है (*हुज्जतुल्लहिलवालेगह, 1/70*)

मृत्योपरान्त आत्मा की स्थिति

इस्लामी विद्वानों का मत है कि मृत्यु का प्रभाव केवल शरीर पर पड़ता है और आत्मा मरणोपरान्त भी जीवित रहती है। हां यदि मनुष्य का व्यवहार अच्छा था तो आत्मा सुख भोग करती है और यदि बुरा था तो दंडित होती है। क्योंकि आत्मा में शरीर से पृथक् होने पर भी सुख-दुःख अनुभव की क्षमता रहती है। (*अलु मौसुअतुल फिकहीया, 39/249*)

इमाम गजाली ने मृत्यु के पश्चात् आत्मा की स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा नष्ट नहीं होती परन्तु उसकी स्थिति बदल जाती है। कब्र उसके लिए स्वर्ग का एक बगीचा बन जाती है या नर्क का एक टुकड़ा। (*अल मौसुअतुल फिकहीया, 39/250*)

मृत्यु के पश्चात् और क़यामत से पहले आत्मा का निवास

इमाम इब्न कयूम ने लिखा है कि ईश्वर ने तीन प्रकार का निवास बनाया है। पहला संसार का घर, दूसरा बरज़ख का घर और तीसरा एवं अंतिम स्थाई निवास का घर। प्रत्येक घर से सम्बन्धित नियम-निर्देश अलग-अलग हैं। उस (ईश्वर) ने मनुष्य को शरीर और आत्मा से बनाया है। संसार के निर्देश शरीर से सम्बन्धित किये हैं तथा आत्मा को उसका अनुयायी बनाया है। बरज़ख के निर्देश आत्मा से सम्बन्धित किये हैं और शरीर को उसका अनुयायी बनाया है। अतः जिस प्रकार सांसारिक निर्देश में आत्मा शरीर की अनुयायी है और उसका सुख-दुःख अनुभव करती है उसी प्रकार बरज़ख के निर्देशों में शरीर आत्मा की अनुयायी है और वहां का सुख-दुःख अनुभव करता है।

“बरज़ख” उस जिन्दगी को कहते हैं जो मृत्यु के पश्चात् तथा क़यामत के दिन से पहले मनुष्य को प्राप्त होती है। *कुरआन* और *हदीस* में इसका स्पष्ट विवरण है। (*कितावुरुह, पृ. 74*)

कब्र की स्थिति

मनुष्य भौतिक एवं अनुभव होने वाली चीजों का पाबन्द है। जो कुछ वह ज्ञानेंद्रियों से ज्ञात नहीं कर पाता उसकी पुष्टि भी नहीं करता है। इसीलिए इस्लाम ने ईमान बिल गैब (अदृश्य

पर विश्वास) पर बल दिया है जिससे कि मनुष्य ईश्वर आस्था में बुद्धि एवं विवेक के बन्धन से मुक्त हो जाए। मृत्यु के पश्चात् कब्र में या क़यामत से पहले जहां कहीं भी मृतक हो, उसे जो कुछ भी सामना करना पड़ता हो उसे अनुभव के प्रकाश में व्यक्त नहीं किया जा सकता है फिर भी तत्सम्बन्धी बहुत सी बातों को विद्वानों ने समझाने का प्रयत्न किया है और स्पष्ट किया है कि उसे स्वीकार किए बग़ैर कोई चारा नहीं है।

प्रामाणिक हदीसों में मृत्यु के पश्चात् की अवस्था का जो वर्णन है उसका सारांश यह है कि मनुष्य जब मर जाता है और उसे दफ़न कर दिया जाता है तब कब्र में उसके पास दो फरिश्ते आकर सवाल करते हैं। यदि मृतक उनके सवालों का ठीक उत्तर दे देता है तब उसे आराम से रख दिया जाता है और यदि वह ठीक उत्तर नहीं दे पाता तब उसे दंडित किया जाता है। दोनों प्रकार के मृतक अपनी इसी स्थिति में क़यामत तक रहते हैं। (अहयाउल उलूम, 4/624)

इब्न नबी दुनीयां ने एक अपुष्ट (ज़ईफ़ रिवायत) हदीस वर्णित की है जिससे कब्र में मृतक की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। नबी स. ने फरमाया कि मृतक जब कब्र में रखा जाता है तो कब्र उससे कहती है इब्न आदम, अफसोस! मेरे बारे में तुम क्यों धोखे में थे, क्या तुझे मालूम नहीं कि मैं कष्टदायक, घोर अंधकारयुक्त, एकान्त एवं कीड़े-मकोड़ों वाला घर हूँ? मेरे निकट से तुम निकलते थे फिर भी कैसे धोखे में रहे? (अहयाउल उलूम, 4/618)

मृत्यु का आदेश ईश्वर की ओर से

कुरआन ने इस वास्तविकता को स्पष्ट कर दिया है कि मृत्यु का आदेश ईश्वर के द्वारा ही होता है। इसमें किसी अन्य का कोई हस्तक्षेप नहीं है। ईश्वर वाणी है – “अल्लाह के आदेश बिना कोई जीवधारी मर नहीं सकता, निश्चित समय लिखा हुआ है।” (3 अलइमरान 145)

इस प्रसंग में उस आयत की व्याख्या भी दृष्टि में रखना लाभदायक होगा जिसमें वर्णित है कि पैगम्बर हज़रत इब्राहीम अ. ने अपने साथ तर्क करने वाले एक व्यक्ति से अल्लाह की यह विशेषता बताई कि वह जिलाता है और मारता है। उस व्यक्ति ने दावा किया कि मैं भी जिलाता और मारता हूँ। इब्राहीम अ. ने कहा कि अल्लाह सूरज को पूर्व दिशा से ले आता है तू उसे पश्चिम दिशा से ले आ। (2 अल वकरह, 258)

जीवन एवं मरण का स्वामी अल्लाह

इस विषय को कुरआन में अनेकों स्थानों पर वर्णित किया गया है कि मृत्यु एवं जीवन मात्र ईश्वर के हाथ में है। अन्य कोई न तो मार सकता है और न ही जीवित कर सकता है। ईश्वर वाणी है – (और यह वही है जो जिलाता और मारता है तथा रात और दिन के परिवर्तन का स्वामी भी वही है। क्या तुमको विवेक नहीं।) (23 अल मोमेनून, 80)

इसी तथ्य को एक प्रामाणिक हदीस में भी वर्णित किया गया है। उसामा विन जैद वर्णन करते हैं कि नबी स. की एक बेटी ने आप स. के पास यह संदेश भेजा कि उसका बेटा मृत्यु के करीब है। नबी स. ने संदेशवाहक से कहा कि वापस जाकर मेरी बेटी से बता दो कि “जो लिया वह अल्लाह ही का था और जो दिया वह भी अल्लाह ही का था। उस (अल्लाह) के यहां प्रत्येक चीज का एक समय निश्चित है। तुम उसे धैर्य धारण करने एवं सुफल प्राप्ति की आशा रखने का निर्देश दो।” (बुखारी मुस्लिम)

हश्र (निर्णय का दिन) आवश्यक है

इस्लाम की मूल आस्थाओं में एक आस्था यह है कि मृत्यु के पश्चात् जब न्याय का दिन स्थापित होगा तब सम्पूर्ण मानव एवं जिन्न को पुनः जीवित करके न्याय के लिए उन्हें एकत्र किया जाएगा। निर्णय के पश्चात् उन्हें स्वर्ग या नर्क का अधिकारी बनाया जाएगा।

यही वर्णन कुछ इस प्रकार है – (क्या तुम यह विश्वास किये हो कि हमने तुम्हें यून ही निरर्थक उत्पन्न किया है, और यह कि तुम हमारे पास लौटाए ही न जाओगे।) अल्लाह वास्तविक शासक है तथा बहुत महान् है, इसके अतिरिक्त कोई उपास्य नहीं, वही अर्श (अल्लाह का विशिष्ट आसन) का स्वामी है। (23 अल मोमेनून, 115, 116)

मरने के पश्चात् पुनः जीवित किये जाने में जो लोग विश्वास नहीं रखते, पवित्र कुरआन ने उनका उत्तर दिया है कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवन आवश्यक है क्योंकि उसी जीवन में मनुष्यों को उनके कार्यों का बदला दिया जाएगा। कुरआन कहती है – और उन्होंने कहा, क्या जब हम मिट्टी में मिल जाएंगे तो क्या पुनः जीवित होंगे। बल्कि (बात यह है कि) वह लोग अपने परवरदिगार (ईश्वर) से भेंट होने की आस्था को नकारते हैं। कह दीजिए कि तुम्हें मृत्यु का फरिश्ता मृतक करेगा जो इस कार्य के लिए नियुक्त है। पुनः तुम सब अपने पालनहार के पास लौटाए जाओगे। (32 अस्सजह, 10,11)

जीवन और मरण मात्र परीक्षा के लिए

सांसारिक जीवन अस्थाई है। जब मनुष्य मृतक हो जाएगा तब इस जीवन का अन्त होगा, पुनः एक स्थायी जीवन प्राप्त होगा, जिसमें मनुष्य दंड या अच्छा प्रतिफल भोग करेगा। इस संसार में जीवन एवं मरण का जो प्रबन्ध स्थापित है उसका उद्देश्य इस प्रकार वर्णित है – जिसने जीवन-मरण इसलिए व्यवस्थित किया कि तुम्हारी परीक्षा ले कि तुममें से कौन पुण्य कार्य करता है। (29 अल मुल्क, 2)

मृत्यु कहाँ होगी?

किसी की मृत्यु कैसे, कहाँ और कब आएगी? इसे कोई नहीं जानता है। इस तथ्य को कुरआन की एक आयत में व्यक्त किया गया है – निःसंदेह अल्लाह ही को क़यामत की जानकारी है। वह ही वर्षा करता है और माँ के गर्भ में जो कुछ है जानता है। कोई भी नहीं

जानता कि वह कल क्या करेगा? न किसी को यह मालूम है कि किस स्थान पर मरेगा। निःसंदेह अल्लाह ही सम्पूर्ण ज्ञान वाला और जानने वाला है। (21 *लुकम*, 34)

मौत सर्वव्यापी एवं सबके लिए

मनुष्य यह देखता है कि मृत्यु प्रत्येक के लिए है। वह कहीं भी रहे मृत्यु से बच पाना सम्भव नहीं। इस तथ्य को *कुरआन* में कई प्रसंगों द्वारा स्पष्ट किया गया है। *अलइमरान* में वर्णन है — प्रत्येक प्राणी को मृत्यु का स्वाद चखना है और कयामत (निर्णय) के दिन तुम्हें अपने क्रिया-कलापों का पूरा प्रतिफल दिया जाएगा। (3 *अलइमरान*; 185)

सुरह निसा में है — तुम जहां कहीं भी रहो मृत्यु तुम्हें आकर पकड़ेगी, भले ही तुम अति सुरक्षित किलों में रहो। (4 *निसा*, 78)

इसी प्रकार अन्यत्र वर्णित है। कह दीजिए कि जिस मृत्यु से बचने के लिए तुम भागते फिरते हो, वह तुम्हें पकड़कर रहेगी। (28 *अल जुमह*, 8)

स्थायित्व नहीं

कुरआन की घोषणानुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए मृत्यु आवश्यक है। उसके लिए पद एवं सम्मान का कोई महत्त्व नहीं। मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ ईशद्रूत होते हैं परन्तु *कुरआन* का स्पष्टीकरण है कि मृत्यु उनके लिए भी है। इस विषय से सम्बन्धित दो आयतों का अनुवाद प्रस्तुत है —

आपसे पहले हमने किसी भी मनुष्य को स्थाई सांसारिक जीवन प्रदान नहीं किया। क्या यदि आप मृतक हो गये, तो वह सदैव जीवित, रहेंगे?

प्रत्येक जीवधारी को मृत्यु का स्वाद चखना है। हम तुम में से प्रत्येक को परीक्षार्थ पाप-पुण्य से गुजारते हैं और तुम सब हमारी ही तरफ लौटाए जाओगे। (23 *अल मोमेनुन*, 115, 116)

यहां दूसरी आयत में एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया गया है कि सांसारिक जीवन में दुःख-संकट तथा सुख-सम्पदा के द्वारा मनुष्य की परीक्षा होती है। इससे संकेत मिलता है कि मृत्यु भी एक परीक्षा है।

ईशद्रूत के लिए मृत्यु का स्पष्टीकरण

साधारणतया यह विचार पैदा होता है कि जो लोग अल्लाह की दृष्टि में महान् हैं और जिनको उसने पैगम्बरी (एक विशिष्ट पद), विलायत या बादशाहत आदि महान् पद एवं सम्मान से विभूषित किया है, हो सकता है कि उनके लिए मृत्यु-सम्बन्धी कोई छूट हो। इस विचार के खण्डन हेतु ईश्वर वाणी है — निःसंदेह आप को भी मृत्यु आयेगी और यह सब भी नश्वर हैं। (23 *अल ज़मर*, 30)

क्रमागत आखत में वर्णन है कि – फिर तुम सब क़यामत के दिन अपने पालनहार के सामने झगड़ोगे। (23 अल ज़मर, 31)

असंगत विचार का खण्डन

कुछ लोग संसार में ऐसे भी पाये जाते हैं कि जो मात्र सांसारिक जीवन को ही सब कुछ समझते हैं और मृत्यु को एक संयोग ही समझते हैं। – उन्होंने कहा कि हमारा जीवन तो मात्र सांसारिक जीवन ही है। हम मरते हैं और जीवित होते हैं। हमें केवल काल (समय का संयोग) ही मारता है। वास्तव में उन्हें इसका कुछ ज्ञान नहीं यह तो केवल अटकल से ही सोच रहे हैं। (25 अल जासीय, 24)

मृत्यु के स्मरण का लाभ

मृत्यु की वास्तविकता पर दृष्टि रखने वाला उसे कभी भूल नहीं सकता है। प्रत्येक मनुष्य का यह परिणाम है और वह उस सत्य को सदैव देखता रहता है। नाना प्रकार के मनुष्य उसके सामने इस संसार से प्रस्थान करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मृत्यु को भूलने का कोई प्रश्न ही नहीं।

विद्वानों ने मृत्यु के स्मरण से प्राप्त लाभों में से एक लाभ यह बताया है कि इस प्रकार मनुष्य नवजीवन की तैयारी करता है अर्थात् पुण्य कार्य की तरफ प्रेरित होता है तथा सांसारिक कष्ट सरल मालूम होने लगते हैं। हज़रत “कअब” कहा करते थे कि “जो मनुष्य मृत्यु की वास्तविकता भली-भांति समझ जाएगा उसके लिए सांसारिक दुःख-संकट सरल हो जायेंगे”। (अहयाउल उलूम, 4/560)

मृत्यु जब निकट हो

मृत्यु जब निकट आती है तब मनुष्य को “सकरात” (एक विशेष स्थिति) में घोर पीड़ा का अनुभव होता है। विद्वानों का मत है कि इससे बढ़कर कोई पीड़ा नहीं है। इससे कोई भी व्यक्ति उबर नहीं सकता कि दूसरों से अपना अनुभव व्यक्त करे, फिर भी कुछ महान् विद्वानों के कथनों द्वारा मृत्यु के संकट का अनुमान लगाया जा सकता है।

1. हज़रत आयशा कहती हैं कि नबी स. पर मृत्यु का संकट देखने के पश्चात् किसी की मृत्यु में आसानी पर मुझे लोभ नहीं आ सकता।
2. इमाम अवजाई कहते हैं कि “कब्र से उठने तक मृतक को मौत की तकलीफ का आभास शेष रहता है”।
3. शदाद बिन अवस कहते हैं कि “मोमिन के लिए मृत्यु यह लोक और परलोक में सबसे भयानक कष्ट है। यह आरा से चीरने, कैंची से काटने और हांडी में पकाने जैसी तकलीफ से भी अधिक भयानक है”।

मृत्यु-सम्बन्धी विचार

जिन महापुरुषों ने मृत्यु की वास्तविकता को समझा और तत्सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किए उससे भी मृत्यु की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है तथा विश्वास होता है कि धनवान एवं निर्धन और छोटे-बड़े सबका यही परिणाम है।

1. उमवी खलीफा उमर बिन अब्दुल अजी बड़े सज्जन एवं न्यायप्रिय खलीफा थे। जब मृत्यु का समय हुआ तो रोने लगे। लोगों ने पूछा अमीरुल मोमिनीन! आप क्यों रो रहे हैं? आपको तो प्रसन्न होना चाहिए कि आपके माध्यम से अल्लाह ने पैगम्बर का आदर्श पुनः स्थापित किया तथा जनसाधारण तक न्याय पहुंचाया। यह सुनकर रोते हुए बोले, "मुझसे प्रजा के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा जाएगा। यदि मैंने पूर्ण न्याय स्थापित किया होता तो भी अल्लाह के समक्ष उत्तर देने की क्षमता न थी परन्तु जब मुझसे भी अन्याय हुआ है तब क्या उत्तर दूंगा? यह कहते हुए उनके आंसू तीव्र हो गये और कुछ ही क्षणों में निःश्राण हो गये।" (अहयाउल उलूम, 4/97)
2. अब्बासी काल के महान् खलीफा हारुत रशीद ने अपना कफ़न स्वयं अपने हाथ से चुनकर, उसे देखते हुए इस आयत का पाठ किया।

﴿مَا أَغْنَىٰ عَنِّي سَالِي، هَلْكَ عَنِّي سُلْطَانِيَّةٌ﴾

अर्थात्

मेरी दौलत मेरे काम न आयी और मेरा तर्क लुप्त हो गया। (अहयाउल उलूम, 4/597)

3. मामून की सल्तनत और उनका दबदबा जगत् प्रसिद्ध है। मृत्यु निकट आई तो राख या धूल पर लेटकर कह रहे थे कि "ऐ वह हस्ती! कि जिसकी बादशाही का पतन नहीं, इस मनुष्य पर कृपा कर कि जिसकी बादशाही समाप्त हो चुकी है।" (अहयाउल उलूम, 4/597)
4. इब्न मुबारक एक बड़े विद्वान् और हदीसवेत्ता थे। व्यापार अच्छा होने के कारण दौलत भी थी। जब मृत्यु का समय निकट आया तो अपने सेवक से बोले कि मेरा सिर मिट्टी पर रख दो। यह सुनकर सेवक रोने लगा। उन्होंने पूछा क्यों रोते हो? सेवक ने उत्तर दिया कि आपने सुख सम्पन्नता में जीवन व्यतीत किया है और आज फकीरी एवं परदेश में मर रहे हैं। इब्न मुबारक ने सेवक से कहा कि चुप रहो, मैंने प्रार्थना की थी, कि "ऐ अल्लाह मुझे दौलतमन्दों की जिन्दगी और फकीरों की मौत प्रदान कर।" पुनः अपने सेवक से कहा कि मुझे **لَا إِلَهَ إِلَّا اللَّهُ** की प्रेरणा देते रहो। (अहयाउल उलूम, 4/895)

मृत्यु और कवि

गम्भीर समस्याओं के लिए कवियों को बहुत उपयुक्त नहीं समझा जाता। कवि कल्पनाओं, संकेतों एवं उपमाओं द्वारा जो कुछ वर्णन करता है उसे यथार्थ में बदलना कठिन होता है। परन्तु कवि अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील एवं दूरदृष्टि वाला होता है। कुछ कवियों को इस क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त होती है। उनकी कविता गूढ़ विषयों को भी बड़े सरल भाव में व्यक्त करती है।

लेख से सम्बन्धित, अल्लामा इकबाल की कविताओं से कुछ पंक्तियां प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिससे मृत्यु के सम्बन्ध में ठीक दृष्टिकोण समझा जा सकता है। अल्लामा ने बड़ी बुद्धिमत्ता से मृत्यु का वर्णन किया है। आपने अपनी माता की मृत्यु पर एक शोक गीत लिखा है जिसमें आपने मृत्यु के रहस्य को समझाने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम इकबाल ने इस बात की ओर संकेत किया है कि जीवन के लिए बहुत प्रयत्न एवं जतन करना पड़ता है परन्तु मृत्यु सरलता से चली आती है और अपना कार्य करके चल देती है। उसे इसकी परवाह नहीं कि जिसके जीवन का अन्त करने वह जा रही है उसने जीवित रहने के लिए क्या कुछ प्रबन्ध कर रखा था —

कितनी मुश्किल जिन्दगी है, किस कदर आसान है मौत।
गुलशन-ए-हस्ती में, मनिन्द-ए-नसीम अरजाँ है मौत ॥

इसके पश्चात् यह स्पष्ट किया कि मौत के कारण कई प्रकार के हैं तथा मौत की पकड़ में प्रत्येक मनुष्य है। मौत को अमीर-गरीब तथा शहर-देहात से भी कोई मतलब नहीं —

जलजले हैं, बिजलियां हैं, कहते हैं, आलाम हैं।
कैसी कैसी दुःखतरान-ए-मादर-ए-अय्याम हैं ॥

कुलब-ए-इकलास में, दौलत के काशाने में मौत।
दशत-व-दर में, शहर में, गुलशन में, विराने में मौत ॥

मौत है हंगामा आरा, कुलजुम-ए-खामोश में।
डूब जाते हैं सफीने, मौत की आगोश में ॥

इसके पश्चात् उस तथ्य का वर्णन करते हैं जो जीवन-मरण विषय पर सबसे महत्वपूर्ण एवं ध्यान देने योग्य है। अर्थात् मौत वास्तव में एक स्थाई एवं जीवन का माध्यम है। अतः इसे इसी दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। इस भाव को इकबाल ने बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है —

जिन्दगी की आग का अंजाम खाकस्तर नहीं।
टूटना जिसका मुकद्दर हो यह वह गौहर नहीं ॥

जिन्दगी महबूब ऐसी दीद-ए-कुदरत में है।
 जौक-ए-हिफज़-ए-जिन्दगी हर चीज़ की फितरत में है॥
 मौत के हाथों से मिट सकता है अगर नक्शा-ए-हयात।
 आम यूँ इसको न कर देना नेजाम-ए-काएनात॥
 है अगर अरजां तो यह समझों अजल कुछ भी नहीं।
 जिस तरह सोने से जीने में ख़लल कुछ भी नहीं॥
 मौत तजदीद-ए-मज़ाक-ए-जिन्दगी का नाम है।
 ख़्वाब के परदे में बेदारी का एक पैगाम है॥
 जो हर इन्सां अदम से आशना होता नहीं।
 आंख से गायब तो होता है फना होता नहीं॥
 यह अगर आईन-ए-हस्ती है कि हो हर शाम सुबह।
 मरकद-ए-इनसां की शव का क्यों न हो अन्जाम सुबह॥
 मुख़तलिफ़ हर मंज़िल-ए-हस्ती की रस्म व राह है।
 आखिरत भी जिन्दगी की एक जौलां गाह है॥

उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने यह स्पष्ट किया है कि मृत्यु के पश्चात् जीवन तथा मनुष्य पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो जाता, उसका अस्तित्व शेष रहता है, हां उसके सम्मुख एक नया जीवन एवं नया संसार होता है। हम जब सोते हैं तो हमारी व्यस्तता समाप्त हो जाती है पुनः जब हम जागते हैं तो स्थिति पूर्ववत् होती है। इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् नवजीवन में पूर्व जीवन के प्रतिफल का क्रम आरम्भ होता है।

लेख के समापन पर हम अपना विश्वास प्रकट करना चाहते हैं कि मृत्यु की वास्तविकता पर यदि मनुष्य उचित ध्यान दे और उसके पश्चात् आने वाले जीवन के कल्याण का मार्ग ढूँढे तो वर्तमान युग की बहुत सी भयानक समस्याएं समाप्त हो जाएंगी तथा एक शान्तिमय एवं मंगलमय वातावरण स्वयं बन जाएगा क्योंकि मनुष्य मृत्यु को भूल जाता है तब ही कुकर्म करता है। यदि उसे मृत्यु की वास्तविकता पर दृढ़ विश्वास हो जाए और यह भी विश्वास करे कि उसके प्रत्येक कार्य का प्रतिफल उसे मिलेगा तो निश्चय ही कुकर्म के लिए वह नहीं बढ़ेगा अपितु सुकर्म करेगा।

खण्ड 2
मृत्यु शास्त्रों में

मृत्यु के ज्ञाना प्रकार

— ब्रजवल्लभ द्विवेदी

नित्याषोडशिकार्णव नामक त्रिपुरा-तन्त्र की दो टीकाओं के साथ हुए वाराणसी-संस्करण में — “न बाध्यते रोगैः कालमृत्युयमादिभिः” (5.33) यह वचन उपलब्ध है। भास्करराय की टीका में यह 34वाँ श्लोक है। यही ग्रन्थ कश्मीर में *वामकेश्वरीमत* के नाम से प्रकाशित है। इस पर अभिनवगुप्त के ग्रन्थ *तन्त्रालोक* के टीकाकार जयरथ ने *विवरण* नामक टीका लिखी है। यहाँ “यमादिभिः” के स्थान पर “भयादिभिः” पाठ भी मिलता है। अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द ने और विवरणकार ने भी इन शब्दों की कोई व्याख्या नहीं की है। *ऋजुविमर्शिनी-टीका* के लेखक शिवानन्द मुनि ने “आदि” पद से व्याधि का ग्रहण कर काल, मृत्यु, यम और व्याधि शब्दों के अर्थ को बताने वाले दो श्लोक उद्धृत किये हैं —

कालो मृत्युर्यमो व्याधिस्तत्त्वतस्त्वेक एव तु ।

वृत्त्यन्तरविशेषेण पर्यायेणाभिधीयते ॥

सर्वावच्छेदकः कालो मृत्युर्मरयिता च सः ।

यमनाद् यम एवायं व्याधिश्चिन्ताप्रदो हि सः ॥

यहाँ बताया गया है कि काल, मृत्यु, यम और व्याधि — ये सब वास्तव में एक ही तत्त्व के पर्यायवाची शब्द हैं; किन्तु प्रवृत्ति के भेद के अनुसार इनको ये अलग-अलग नाम दे दिये गये हैं। इसे काल इसलिए कहते हैं कि यह सबको अपने में समेट लेता है। इसे मृत्यु इसलिए कहा जाता है कि यह सबको मार डालता है। इसे यम इसलिए कहते हैं कि यह सब पर नियन्त्रण रखता है और इसे व्याधि इसलिए कहा जाता है कि व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति को यह चिन्ता सताने लगती है कि कहीं मेरी मृत्यु न हो जाए। आदि पद से व्याधि के ग्रहण का यही आधार है।

भास्करराय इस प्रकरण की व्याख्या भिन्न पद्धति से करते हैं। वे आदि पद से व्याधि के स्थान पर परकृत्या का ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि रोग और व्याधि में

कोई अन्तर नहीं है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि रोग शब्द मूल वचन में विद्यमान है। अब उसके पर्यायवाची शब्द व्याधि का आदि पद से ग्रहण करने का कोई तुक नहीं है। उनका यह भी कहना है कि काल, मृत्यु और यम — ये सब अलग-अलग देवताओं के नाम हैं, अतः इनकी भिन्नता ही मान्य होगी।

भास्करराय ने इसी पद्धति से पाँच पटल वाले इस ग्रन्थ को आठ पटल का मानकर *हादिविद्या* के आधार पर ग्रन्थ की व्याख्या करने वाले प्राचीन टीकाकारों के मत का खण्डन कर *हादिविद्या* में अपने विशेष अभिनिवेश के कारण तदनुसार की है। एक स्थान पर तो उन्होंने मूल पाठ को ही बदल दिया है। यही स्थिति प्रस्तुत स्थल की भी है।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने अपने *वेदार्थपारिजात* नामक वेदभाष्य की अतिविस्तृत भूमिका में भट्ट कुमारिल के इस श्लोक को उद्धृत किया है —

तस्मान्नातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चिन्तानां प्रकाशते ॥

इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को अपने मन की सर्वत्र दोष-ही-दोष देखने की दृष्टि को बहुत बढ़ा नहीं लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर ऐसे लोगों को दोष के न रहने पर भी वह दिखाई देने लगता है। भारतीय संस्कृति में सर्वत्र दोष-ही-दोष देखने की आजकल के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की दृष्टि की भी व्याख्या इससे हो जाती है।

कठोपनिषद् में यम और नचिकेता का संवाद है। नचिकेता को उसके पिता — “मृत्यवे-त्वा ददामीति” (1.4) कहकर मृत्यु को समर्पित कर देते हैं। प्रस्तुत उपनिषद् में मृत्यु को ही वैवस्वत (1.1.7) और अन्तक (1.1.26) भी कहा गया है। ये दोनों यम के ही नाम हैं। मनु (*मनुस्मृति* 8.92), के इस वचन में —

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरुन् गमः ॥

यम को ही वैवस्वत देव, अर्थात् विवस्वान् = सूर्य देवता का पुत्र बताया गया है। यहाँ कहा गया है कि तुम्हारे हृदय में विद्यमान वैवस्वत देव, अर्थात् धर्मराज के साथ यदि तुम्हारा कोई विवाद नहीं है, अन्तरात्मा की आवाज सुनकर तदनुरूप आचरण करने का तुम्हारा स्वभाव बन गया है, तो फिर तुम्हें गंगा-स्नान करने अथवा कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थों की यात्रा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि हृदय की शुद्धि के लिए कर्मों का अनुष्ठान मुमुक्षुजन करते हैं। यदि यह हृदय परिशुद्ध हो गया है, तब इस तरह के शुभ कर्मों के अनुष्ठान की कोई अपेक्षा नहीं की जाती।

आजकल का मनोविज्ञान भी बहिर्मन और अन्तर्मन की सत्ता को स्वीकार करता है। *मनुस्मृति* के प्रस्तुत श्लोक में भी इनकी इन्ही स्थितियों की ओर इंगित किया गया है। स्पष्ट

है कि *कठोपनिषद्* के उक्त वचनों में मृत्यु को यम का पर्यायवाची शब्द माना गया है। *योगशास्त्र* की कालवचन की प्रक्रिया में काल शब्द मृत्यु का ही सूचक है। स्पष्ट है कि काल, मृत्यु और यम शब्द पर्यायवाची हैं और ऋजुविमर्शिनीकार के द्वारा उद्धृत वचन भी उनके मत की पुष्टि करता है, भास्करराय के मत की नहीं।

प्रस्तुत उपनिषद् में यमराज नचिकेता को तीन वर माँगने को कहते हैं और नचिकेता तीसरे वर के रूप में मृत्यु के रहस्य को जानने की जिज्ञासा करते हैं — “येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके” (1.1.20)। अर्थात् व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के उपरान्त यह विचिकित्सा (जानने की इच्छा) होती है कि उसकी क्या स्थिति बनती है? कुछ आचार्यों का कहना है कि मृत्यु के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है, जबकि अन्य आचार्यों के मत से बाद में उसकी कोई स्थिति नहीं रह जाती। सही बात क्या है? यही नचिकेता यमराज से जानना चाहते हैं। प्रस्तुत गोष्ठी में हम सब भी तो इसी विषय पर विचार करने के लिए इकट्ठा हुए हैं।

इसके उत्तर में यम नचिकेता को अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं और कहते हैं — “नचिकेता मरणं मानुप्राक्षीः” (1.1.25)। हे नचिकेता! तुम मृत्यु के रहस्य को जानने की जिद को छोड़ दो। नचिकेता — “न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः” (1.1.27) कहते हुए यम के धन-धान्य, ऐश्वर्यविषयक प्रस्ताव को उसी प्रकार से अस्वीकार कर देते हैं, जैसे ऋषि याज्ञवल्क्य के प्रस्ताव को — “येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्” (*बृहदारण्यक* 2.4.3) यह कहती हुई उनकी पत्नी मैत्रेयी अस्वीकार कर देती है। नचिकेता यम को कहते हैं कि मनुष्य धन-ऐश्वर्य से कभी तृप्त नहीं हो सकता और मैत्रेयी भी ऋषि याज्ञवल्क्य की धन-संपत्ति को लेने से मना कर देती है, उसे तो अमृतत्व की जिज्ञासा है।

मृत्यु के रहस्य को जानने की नचिकेता की उत्कट अभिलाषा को देखकर यमराज इस पूरी उपनिषद् में इसके रहस्य को समझाते हैं। श्रेय और प्रेय, विद्या और अविद्या के स्वरूप को बताते हुए वे कहते हैं कि धन्य-धान्य, ऐश्वर्य के मोह में पड़कर व्यक्ति भविष्य में आने वाली विपदाओं से बेखबर रहता है, वह परलोक की भी चिन्ता नहीं करता। इस तरह की विपदाओं से मानव का उद्धार करने वाली शास्त्रों के प्रति भी उसकी रुचि जग नहीं पाती। इन सब दोषों से ऊपर उठ जाने के कारण नचिकेता की प्रशंसा करते हुए यमराज कहते हैं — “अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे” (1.2.6)। अर्थात् इस लोक के अतिरिक्त दूसरा कोई लोक नहीं है, इस तरह के अभिमान को पालने वाला व्यक्ति बार-बार मेरे (यमराज के) वश में पड़ जाता है। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जो व्यक्ति परलोक को नहीं मानता, उसे बार-बार यमराज के वश में रहना पड़ता है, अर्थात् वह जन्म-मृत्यु के निरन्तर गतिशील चक्र में चक्कर काटता रहता है। आगे इस पूरे उपनिषद् में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की पद्धति वर्णित है।

पूरा उपनिषद्-साहित्य मनुष्य की मृत्यु पर की गई विजययात्रा का दस्तावेज है, संसार को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने वाला यह उत्कृष्टतम साहित्य है। यहाँ स्वर्ग का स्थान मोक्ष को दिया गया है। सांख्य दर्शन का कहना है कि आनुश्रविक (वेदविहित) उपाय प्राणी को त्रिविध दुःख से मुक्ति नहीं दिला सकते। स्वयं श्रुति का भी कहना है कि वैदिक कर्मकाण्ड संसार-सागर की यात्रा में सहायक नहीं हो सकता — “प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः” (मुण्डकोपनिषद्, 1.2.7)। एक अन्य श्रुति का भी कहना है कि कर्मों के द्वारा प्राप्त होने वाले विविध लोकों की परीक्षा करने के उपरान्त ब्राह्मण हताश हो गया कि कृतक (कर्मकाण्ड) से अकृतक (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती — “परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन” (मुण्डको. 1.2.12)। भगवद्गीता (2.46) के इस वचन को भी आप देखिए —

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

मुक्त पुरुष को इस संसार में पुनः लौटकर नहीं आना पड़ता — “न स पुनरावर्तते”। मोक्षविषयक यह सिद्धान्त सभी भारतीय दर्शनों को मान्य है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द मोक्ष से भी पुनरावृत्ति की बात करते हैं और इसमें ऋग्वेद को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इतना हमें समझ लेना चाहिए कि प्रायः समस्त संहिता-ग्रन्थ कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं और वहाँ का अमृत पद स्वर्ग का वाचक है, मोक्ष का नहीं। समस्त उपनिषदों में, समस्त भारतीय दर्शनों एवं धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की विशद व्याख्या मिलती है। त्रिवर्ग, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का भी विनियोग मोक्ष की प्राप्ति में किया गया है और यहाँ तक पहुँच जाने के बाद व्यक्ति को वापस संसार में लौटना नहीं पड़ता, वह मुक्त हो जाता है। मुक्त जीव किस शाश्वत स्थिति में रहता है, इस विषय पर प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी मान्यता है, किन्तु मृत्यु के पाश से वह सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है, इस विषय में सभी दर्शन एकमत हैं।

भारतीय शास्त्रों में और साधारण जनता में भी यमराज के साथ उसके दूतों के रूप में दो श्वानों की चर्चा मिलती है। विज्ञानभैरव के — “ब्रजेत् प्राणो विशेषाज्जीवः” (श्लोक 151)। इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या (पृ. 166-172) में हमने सकार-हकार, प्राण-अपान, दिन-रात और चन्द्र-सूर्य के रूप में इनका शास्त्रीय स्वरूप प्रस्तुत किया है। सकार और हकार के उच्चारण से उत्पन्न जप को सहज, अर्थात् अकृत्रिम (स्वाभाविक) बताया गया है। अजपा जप के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। इसी को हंसगायत्री भी कहा गया है। मानव की स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया का ही इससे बोध होता है। प्राण और अपान (श्वास और प्रश्वास) के रूप में वर्णित यह तत्त्व बौद्ध ग्रन्थों में आनापानस्मृति के रूप में व्याख्यायित है। दिन-रात में मानव 21600 (इक्कीस हजार छः सौ) बार इसकी आवृत्ति करता है। विज्ञानभैरव

के प्रस्तुत श्लोक में अपान को जीव के नाम से संबोधित किया गया है। श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में प्राण सकार के रूप में बाहर निकलता है और अपान (जीव) हकार के रूप में भीतर प्रविष्ट होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, किन्तु जीव (अपान) यदि मानव-शरीर में पुनः प्रविष्ट नहीं होता, तो उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार यमराज के दो श्वानों की व्याख्या यहाँ प्राण और अपान अर्थात् श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया के रूप में की गई है — “प्राणापानौ समौ कृत्वा” (5.27)। गीता के इस वचन में इन्हीं की चर्चा है।

उक्त प्रक्रिया दिन-रात और चन्द्र-सूर्य के रूप में भी व्याख्यायित है। यहाँ यमराज के दो श्वानों का वर्णन इस प्रकार मिलता है — “श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ” (पृ. 171)। अर्थात् वैवस्वत (यमराज) के कुल में उत्पन्न दो श्वान श्याव और शबल (चितकबरा) वर्ण वाले हैं। इन श्वानों की तुलना रात और दिन से की गई है। रात्रि का वर्ण श्याव (काला) है और दिन का शबल। दिन का वर्ण प्रातःकाल, मध्याह्न में शुक्ल और सायंकाल कालिमा से घिरने लगता है, अतः इसको चितकबरे रंग का माना गया है। स्पष्ट है कि यम के श्वानों को यहाँ रात और दिन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रात और दिन के माध्यम से काल सतत जागरूक रहता है और एक दिन व्याधिग्रस्त यह जीव काल का ग्रास बन जाता है, मृत्यु की भेंट चढ़ जाता है। स्पष्ट है कि काल, मृत्यु, यम और व्याधि — ये सब एक ही तत्त्व के विविध नाम-रूप हैं।

अब कालिदास के इस वचन को आप देखिए —

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ — रघुवंश, 8.87

कालिदास ने यहाँ मरण (मृत्यु) को प्रकृति माना है, अर्थात् एक-न-एक दिन उसका आना निश्चित (ध्रुव) है। जीवन के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता, अतः मनुष्य को चाहिए कि जीवन के इन क्षणों का सही उपयोग कर लिया जाए, अर्थात् मरण पर विजय प्राप्त करने का उपाय कर लिया जाए।

योगी जन् इसके लिए अधिक सावधान रहते हैं। कालवंचन शब्द की चर्चा अभी यहाँ हुई है। योग एवं आगम तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में और पुराणों में भी कालवंचन के विषय में कुछ-न-कुछ कहा गया है। मृत्युकाल के समीप आने पर उस व्यक्ति के सामने प्रकट होने वाले लक्षणों की चर्चा कर ऐसे स्थलों पर बताया जाता है कि यदि किसी कार्य की सिद्धि में लगा योगी अपने वर्तमान शरीर को अभी छोड़ना नहीं चाहता, तो वह इसके लिए क्या उपाय करे। ये उपाय ही कालवंचन के रूप में प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में बताए मृत्यु के लक्षणों के माध्यम से योगी को यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी मृत्यु कब आने वाली है। तब वह कार्यसिद्धि-पर्यन्त मृत्यु से अपने को बचाए रखता है।

जन्म और मृत्यु का यह चक्र सदा-सर्वदा के लिए कभी नहीं रुकता। आगमशास्त्र के अनुसार परमेश्वर पंचकृत्यकारी है। वह सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह नामक पाँच कार्यों को निरन्तर करता रहता है। किसी एक जीव के मुक्त हो जाने पर उसके प्रति ईश्वर की पंचकृत्यकारिता समाप्त हो जाती है, किन्तु अन्य समस्त प्राणियों के प्रति यह निरन्तर चलती रहती है। जन्म और मृत्यु का समावेश भी इन्हीं में किया गया है, किन्तु सेमेटिक धर्मों की मान्यता है कि एक दिन यह सब सदा-सर्वदा के लिए अपने आप समाप्त हो जायेगा।

उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीता में मृत्यु की अवधारणा

— प्रभुनाथ द्विवेदी

यस्याचिन्त्यप्रभावेण सर्वभूतमयं जगत् ।
जन्ममृत्युवशं याति महाकालाय ते नमः ॥ 1 ॥
न कैश्चित्काम्यते मृत्युर्मृत्योर्नाम भयावहम् ।
तथापि यान्ति भूतानि मृत्योर्मुखे समन्ततः ॥ 2 ॥
यः कश्चिज्जायते लोके परलोकं प्रयाति सः ।
मृत्युरास्ते द्वयोर्मध्ये सेतुरूपः सनातनः ॥ 3 ॥
ध्रुवं सत्यं परिज्ञाय महायात्रास्थलं महत् ।
परित्यज्य भयं शोकं मृत्युं तरति वै नरः ॥ 4 ॥
कालकीनाशसम्बद्धो विषयो यः पृरस्कृतः ।
शास्त्रदृष्ट्या यथान्यायं तद्विवेको विधीयते ॥ 5 ॥

कौन ऐसा प्राणी है जिसमें जीवन के प्रति आग्रह और मृत्यु से उद्वेग नहीं होता? सभी जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा कि प्रतिदिन प्रतिक्षण न जाने कितने मनुष्य यममन्दिर जा रहे हैं किन्तु जो शेष हैं, उनमें जीवन की उत्कट अभिलाषा, जिजीविषा बनी रहती है।¹ पंचदशीकार ने जीवन के प्रति इस आसक्ति को व्यक्त करते हुए कहा है —

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।
वा न भूवं भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥²

1. अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति कुत आश्चर्यमितः परम् ॥ — महाभारत
2. पंचदशी, प्रथम प्रकरण (तत्त्वविवेक प्रकरण), 8।

“जीवेम शरदः शतम्” इत्यादि के द्वारा श्रुतियाँ भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। मृत्यु से उद्वेग की छाया “मृत्योर्माअमृतं गमय” इस कामना-वाक्य में भी परिलक्षित होती है। इस संसार के नाना क्लेश सहता हुआ भी मनुष्य मरना नहीं चाहता। यदि इस लोक में सबसे बड़ा कोई भय है तो वह है “मरणभय”। इस मरणभय से ऋण के लिए मनुष्य अपनी प्रिय से भी अधिक प्रिय भौतिक वस्तु का परित्याग करने के लिए तैयार रहता है। यहाँ तक कि वह अपनी पत्नी, सन्तानादि का त्याग कर सकता है, अपना अंग-भंग करा सकता है। निष्कर्षतः यह कहना असंगत न होगा कि केवल मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र की यह इच्छा और सर्वतोभावेन चेष्टा होती है कि वह किसी-न-किसी रूप में बना रहे, मृत्यु को प्राप्त न हो।

“अथ मृत्युः कस्मात्?” अर्थात् मृत्यु कैसे? इसका स्वरूप क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासा स्वाभाविक है। निश्चय ही इस विषय में अतीत काल से ही अत्यन्त गहन विचार हुआ है और नाना दृष्टियों से इसका विश्लेषण भी हुआ है। सामान्य व्यवहार में जहाँ हम जीवन के लिए “प्राणधारण” शब्द का प्रयोग करते हैं वहीं मृत्यु के लिए ठीक इसके विपरीत “प्राणत्याग” का प्रयोग किया जाता है। इसका स्पष्ट आशय है कि जब तक नासिका द्वारा वायु का संचार होता है तब तक “जीवन” है और जब यह क्रिया समाप्त हो जाती है अर्थात् नासिका से प्राणवायु का गमनागमन सहजतया समाप्त हो जाता है तब उस अवस्था को “मृत्यु” कहा जाता है। इसी आधार पर प्राण की श्रेष्ठता बतायी गयी है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् का यह आख्यान द्रष्टव्य है —

एक बार सभी इन्द्रियों के साथ प्राण प्रजापति के पास गया और उसने निवेदन किया — “भगवन् हम लोगों में कौन सबसे बड़ा है?” भगवान् प्रजापति ने स्पष्ट उत्तर दिया — “जिसके निकल जाने पर शरीर अत्यन्त हेय समझा जाए, वही सबसे बड़ा है।”

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः, भगवन् को नः श्रेष्ठः इति।

तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः।³

प्रजापति के इस उत्तर को श्रद्धेय न मानकर सबसे पहले वाग्निन्द्रिय ने शरीर का परित्याग किया। किन्तु इससे वक्तृत्वशक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ हानि न हुई। शेष इन्द्रियों ने यथावत् व्यापार किया। इसी प्रकार क्रमशः एक-एक करके सभी इन्द्रियों ने शरीर का परित्याग करके यह प्रत्यक्ष देखना चाहा कि देखें हमारे शरीर में न रहने से इस शरीर की हानि होती है अथवा नहीं? अर्थात् वह जीवित रहता है अथवा नहीं। परन्तु इन्द्रियों द्वारा शरीर का परित्याग कर देने पर भी उसमें प्राणवायु के अवस्थित रहते हुए वह जीवित रहा, मृत नहीं हुआ। इन्द्रियों की इस

3. छान्दोग्योपनिषद्, 5.1.7।

अश्रद्धा पर प्रजापति की प्रेरणा से प्राण (पंचक) ने शरीर त्याग का उपक्रम किया। उसके द्वारा ऐसा प्रारम्भ करते ही समस्त इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। उन सबने मिलकर प्राण से प्रार्थना की – “भगवन् एधि, त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, मोक्तमीरिति।” अर्थात् हे भगवन् आप समृद्ध हो, आप हमसे श्रेष्ठ हैं। कृपया शरीर छोड़कर न जाइए।

वस्तुतः जन्म-मृत्यु की घटना सबको प्रत्यक्ष होती है, यह एक अनुभूत विषय है तथापि यह कहना प्रायः उचित ही है कि इसका वास्तविक रहस्य सबको ज्ञात नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य-चन्द्रादि को अतिसामान्य मनुष्य भी देखता है किन्तु उनके रहस्य को नहीं जानता। पूर्वजन्म-पुनर्जन्म, लोक-परलोक, और परम पर्यवसान रूप मोक्ष, इन सभी की अवधारणा के मूल में मृत्यु ही है किन्तु ये सब प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अविज्ञात हैं। अतः ये विषय अनादिकाल से विवादग्रस्त रहे हैं। यही कारण है कि बालक नचिकेता ने यमराज से यही प्रश्न पूछा था –

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।⁴

अर्थात् मरे हुए मनुष्य के विषय में यह जो संशय है कि कोई तो यह कहते हैं कि मरने के बाद भी यह रहता है और कोई कहते हैं कि यह नहीं रहता। अतः आपके द्वारा उपदिष्ट होकर मैं यह जानना चाहता हूँ। यही मैं अपना तीसरा वर माँगता हूँ।

यमराज ने नचिकेता से इस विषय की परम गूढ़ता बताकर उससे वर के रूप में कुछ अन्य पूछने को कहा।⁵ इससे स्पष्ट होता है कि जन्म-मृत्यु का रहस्य वस्तुतः अतिगूढ़ है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थों में “मृत्यु” को नाना रूपों में परिभाषित किया गया है⁶ –

1. अग्निर्वै मृत्युः – अग्नि मृत्यु है। – मैत्रायणी शाखा
2. प्राणो वै मृत्युः – प्राणमृत्यु है। – कण्वशाखा शतपथ ब्राह्मण
3. अवाङ् प्राणो वै मृत्युः – अवाङ् प्राण मृत्यु है। – माध्यन्दिन शाखा शतपथ ब्राह्मण
4. संवत्सरो मृत्युः। एष हीदमहोत्राम्यामायुः क्षिणोति। अथ म्रियन्ते – संवत्सर मृत्यु है। यही दिन और रात्रि द्वारा आयु का क्षय करता है। अतः (लोग) मरते हैं। – माध्यन्दिन शाखा शतपथ ब्राह्मण

4. कठोपनिषद्, 1; 1; 20।

5. वही, 1.1.21, देवैरापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमगुरेष धर्मः।

6. कल्याण-विशेषांक, वर्ष 43, अंक, पृ. 14-15।

5. अशनाया वै मृत्युः — बुभुक्षा मृत्यु है। — जैमिनीय ब्राह्मण
6. प्रजापतिर्वै मृत्युः — प्रजापति ही मृत्यु है। वही। (प्रजापति)
7. श्रमो वै मृत्युः। आदित्यो मृत्युः — श्रम मृत्यु है। आदित्य भी मृत्यु है। — शतपथ ब्राह्मण
8. अहोरात्रे मृत्युः — दिन और रात्रि मृत्यु है — जैमिनीय ब्राह्मण
9. अग्निवायुसूर्यचन्द्रमसा मृत्यवः — अग्नि वायु, सूर्य और चन्द्रमा; ये मृत्यु हैं। — जैमिनीय ब्राह्मण

यहाँ जिसे-जिसे "मृत्यु" कहा गया है, वही-वही मृत्यु के हेतु हैं। कारण और कार्य में अभेद मानकर उनकी मृत्यु रूपता प्रतिपादित की गयी है। मनुष्य के शरीर में अग्नि रहती है। वैश्वानर अग्नि ही आहार-पाचन करता है।⁷ और उसी के कारण शरीर में ओज और उष्णता रहती है। यह अनुभव का विषय है कि उस अग्नि के शान्त हो जाने पर मृतक का शरीर ठण्डा हो जाता है अतः अग्नि को मृत्यु कहा गया है। दूसरा पक्ष यह भी है कि शरीर में अग्नि का अतिशयाधिक्य (शरीर के ताप का अत्यधिक बढ़ना) भी मृत्यु का कारण होता है। प्राण की मृत्युरूपता का संकेत पूर्व में किया जा चुका है। श्रम भी अग्नि रूप है। श्रम से शक्ति का क्षय और शरीर के ताप की वृद्धि होती है। अतः निरन्तर श्रम अथवा असह्य श्रम भी मृत्यु का कारण बनता है। अशना = भूख को मृत्यु कहा गया है। हम सभी जानते हैं कि लोक में भूखमरी आम बात है। इस संसार में प्रतिवर्ष लाखों जीव कुपोषण अथवा भूख से मरते हैं। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, अहोरात्र और संवत्सर को भी मृत्यु कहा गया है। ये या तो कालरूप हैं अथवा काल के कारकरूप। काल = समय की गणना हम किसी भी व्यक्ति या वस्तु की जीवितावर्धन अर्थात् आयु के लिए करते हैं। प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति की एक निश्चित आयु होती है। आज तो सजीव ही नहीं, निर्जीव (यथा भवन, सेतु, यन्त्रादि) पदार्थों की भी आयु मानी जाती है। कोई भी काल की दृष्टि से नहीं बचता। सृष्टि के इस नियम को मृत्यु के सन्दर्भ में देखा जाए तो नचिकेता का वचन स्मरण आता है —

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।⁸

अर्थात् मरणधर्मा मनुष्य फसल (अन्न या अनाज) की तरह पकता (पककर झड़ता) है और अनाज की ही तरह पुनः पैदा होता है।

7. अहं वैश्वानरो भूता प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ — श्रीमद्भगवद्गीता, 15,14।
भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं — "मैं ही वैश्वानर नामक अग्नि होकर, प्राणियों के शरीर में स्थित होकर, प्राण और अपान से अच्छी तरह मिलकर चार प्रकार के अन्नों (आहार) खाद्य, पेय, लेह्य और चोष्य को पचता हूँ।"
8. कठोपनिषद् 1.1,6।

काल का कार्य ही प्राणियों को पकाना (अर्थात् मृत्यु को प्राप्त कराना) है।⁹ यहाँ एक बात विचारणीय है कि स्वाभाविक अवस्था प्राप्त मृत्यु के अतिरिक्त प्राणियों की अकारण मृत्यु भी होती है उसका स्पष्टीकरण तो उपर्युक्त आधार पर अथवा श्रीमद्भगवद्गीता के वचन "वासांसि जीर्णानि . . ." के आधार पर नहीं दिया जा सकता।

संसारवृक्षकान्त्नित्यं कालो धूनयते महान्।
सह पक्वैः फलैस्तत्र निपतन्तीतराण्यपि ॥

जैसे किसी फलदार वृक्ष को कोई बल लगाकर हिलाये तो पके हुए फलों के साथ कुछ कच्चे फल भी गिर पड़ते हैं। वैसे ही यह महान् काल (समय) नित्य ही इस संसार रूपी वृक्ष को झकझोरता है, तो पके हुए (पूर्णयु) फलों (प्राणियों) के साथ कुछ अन्य कच्चे (अपूर्णयु) फल (प्राणी) भी टपक पड़ते हैं।

ईशोपनिषद् में अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करने की बात कही गई है -

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।¹⁰

अर्थात् कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके ज्ञान के यथार्थ अनुष्ठान से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

उक्त कथन से प्रतीत होता है कि मृत्यु के इस पार संसार (विनाशिता) और उस पार मोक्ष (अविनाशिता) है। मृत्यु मध्यस्थ है। जैसे नदी के पार किसी स्थान पर जाने के लिए नाव, आदि साधन से उस नदी को पार करना अनिवार्य है, बिना नदी को लाँचे, पार के स्थान को नहीं पहुँच सकते। वैसे ही अविद्या रूप साधना से मृत्यु को लाँचकर विद्या रूप साधन से मोक्ष तक पहुँचते हैं।

मृत्युविषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कठोपनिषद् का विशिष्ट महत्त्व है। इसका प्रारम्भ भी मृत्यु के उल्लेख से होता है। बालक नचिकेता के पिता ने उसे "मृत्यु" को दे दिया।¹¹ यहाँ मृत्यु का अर्थ "यम" नामक देवताविशेष से है। नचिकेता सोचता है कि मुझसे यम को क्या प्रयोजन? नचिकेता पिता की आज्ञा का पालन करता हुआ मृत्यु अर्थात् यम के घर जाता है और उनसे संवाद करता है। वह यम से मृत्यु के बारे में पूछताछ करता है और पूछता है कि मरने के पश्चात् जीव का क्या होता है? मृत्यु = यम। उसे पर्याप्त आनाकानी करने के पश्चात् बतलाता है। कठोपनिषद् के अनुसार, नचिकेता अग्नि को शास्त्रोक्त विधि से तीन बार अनुष्ठान करने वाला, ऋक्, साम और यजुस् से सम्बन्ध जोड़कर, यज्ञ-दान-तप रूप

9. अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्येन्दुना रात्रिदिवेन्धनेन।

मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ - महाभारत

10. ईशोपनिषद्, 11.

11. तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति। - कठोपनिषद् 1.1.4

तीन कर्मों को नित्य निष्काम भाव से करने वाला मनुष्य जन्म और मृत्यु से परे हो जाता है।¹²

पुनः कहा गया कि इन तीनों को भली-भाँति जानकर जो अनुष्ठाता विद्वान् नचिकेता अग्नि का चयन करता है, वह अपने समक्ष ही मृत्यु को काट डालता है।¹³

कठोपनिषद् में "मृत्यु" को परमेश्वर (अनिर्वचनीय देव) के भोजन का उपसेचन (भोज्य वस्तु के साथ लगाकर खाने वाला व्यंजन, तरकारी, चटनी, आदि) कहा गया है। यहाँ परमेश्वर (महाकाल) को ही सभी मनुष्यों का आहार करने वाला कहा गया है। मृत्यु भी उसके अधीन है।¹⁴ बाह्य भोगों का सासक्तिपूर्वक सेवन, मृत्यु का कारण कहा गया है। जो अज्ञानी बाह्य भोगों में ही सर्वथा लीन रहते हैं वे मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं।¹⁵ जिसके भय से मृत्यु भी अपने कार्य को करने के लिए दौड़ती है।¹⁶ उस परमात्मा को जो यथार्थतः नहीं अनुभव वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है।¹⁷

प्राणापान से परे जीवन के परम कारण को कठोपनिषद् में इस प्रकार से बतलाया गया है —
न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।।
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति
गौतम।।¹⁸

अर्थात् कोई भी मरणधर्मा प्राणी, न ही प्राण से और न ही अपान से जीवित रहता है अपितु जिसके आश्रय से ये दोनों शरीर में रहते हैं, ऐसे किसी अन्य से ही, सनातन ब्रह्म से ही जीवित रहता है। मृत्यु के पश्चात् (मृत्यु को प्राप्त करके) वह आत्मा ही (शेष) रहता है।

यहाँ जन्म और मृत्यु की परम कारणता की ओर संकेत किया गया है। वस्तुतः जन्म और मृत्यु की अवधारणा यहाँ इस प्रकार संकेतित है —

12. त्रिणाचिकेतस्त्रिमिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।। — वही, 1.1.17
13. त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। — वही, 1.1.18
14. यस्य बह्व च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।। — वही, 1.2.25
15. पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। — वही, 2.1.2.
16. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।। — वही, 2.3.3. एवं तैत्तिरीय, 2.8.
17. यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। मनसौदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। — कठोपनिषद्, 2.1. 10-11
18. कठोपनिषद्, 2.2 5-6।

शरीरात्मसंयोगो जन्म, शरीरात्मवियोगो मृत्युः।

शरीर से आत्मा का संयोग ही जन्म है और शरीर से आत्मा का वियोग ही मृत्यु है।

उस आत्मा के शरीर में रहते ही सारी इन्द्रियाँ अपने व्यापार में प्रवृत्त होती हैं और प्राणादि शरीर को धारण करते हैं। अतः जन्म और मृत्यु शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। अतः मृत्यु को प्राप्त होने के कारण शरीर को मरणधर्मा कहा जाता है।

जब मनुष्य सभी कामनाओं से रहित हो जाता है, जब उसके हृदय से अहंता-ममता रूप सभी अज्ञान ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तब उसे उस आत्मा (ब्रह्म) का अनुभव होता है और वह मरण से मुक्ति पा जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्याऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्याऽमृतो भवत्येतावद्ब्रह्मनुशासनम्।¹⁹

ऐतरेयोपनिषद् में मृत्यु को अपान रूप कहा गया है। मृत्यु अपान वायु के रूप में नाभि में प्रवेश करता है।²⁰ इसी उपनिषद् में अन्न को आयु कहा गया है और अपान वायु द्वारा ही शरीर में अन्न का ग्रहण होता है।²¹ ध्यातव्य है कि अशना (बुभुक्षा = भूख) को मृत्यु कहा गया है। अतः अन्न का आयुष्ट्व प्रमापित होता है। शरीर का यह स्थूल रूप अन्नमय कोश कहा जाता है। अन्न के सतत अभाव से यह शरीर क्रमशः क्षीण होता हुआ अन्ततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा गया है कि ये सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए प्राणी अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः अन्न में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।²² जीवन का कारण अन्न है। इसी प्रकार वहाँ प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द को जीवन का कारण कहा गया है।²³ अन्न को प्राणरूप बतलाते हुए कहा गया है कि प्राण में शरीर और शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। अतएव शरीर में अन्न और अन्न में शरीर प्रतिष्ठित है।²⁴ इस प्रकार अन्नप्राण को शरीर का कारण माना गया है। आशय यह है कि अन्न अथवा प्राण का अभाव ही शरीर की मृत्यु है।

19. कठोपनिषद्, 2.3.14।

20. मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। - ऐतरेयोपनिषद्, 1.2.3

21. तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः। - वही, 1.3.10

22. अन्नाद्धयेव खाल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जाता जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। - तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.2

23. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3.3-4-5-6।

24. प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। - वही, 3.7

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि ध्यानयोग की सिद्धि हो जाने पर जब योगी पंच महाभूतों पर अधिकार कर लेता तब योगाग्निमय शरीर को प्राप्त किये हुए उस योगी के शरीर में न तो कोई रोग होता है, न वृद्धता आती है और न ही उसकी मृत्यु होती है।²⁵

श्रीमद्भगवद्गीता को सभी उपनिषदों का सारभूत कहा गया है। गीता, गाय-रूपी सभी उपनिषदों का दुहा गया दुग्धामृत है। अतः विद्वान् को मोह (भ्रम) नहीं होता। उपनिषदों में वर्णित विषय, गीता में अवश्य उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों में वर्णित मृत्यु का स्वरूप भी गीता में अनेकत्र अनेकधा विशदतया वर्णित है।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्टतः कहा गया है कि इस शरीर की जैसे कौमार, यौवन और वृद्धावस्थायें हैं, वैसे ही मृत्यु भी है। अतः विद्वान् को मोह (भ्रम) नहीं होता।²⁶ यहाँ स्पष्टतः कहा गया कि देही (आत्मा) के आश्रय से ही शरीर की ये अवस्थायें होती हैं। शरीर की मृत्यु वस्तुतः देही की देहान्तरप्राप्ति ही है। क्योंकि वह देही न तो पैदा होता है और न ही मरता है।²⁷

वह तो समय-समय पर पुराने शरीरों को छोड़कर नये शरीर उसी तरह धारण करता है जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़े छोड़कर नये कपड़े धारण करता है।²⁸ मृत्यु की अनिवार्यता बतलाते हुए कहा गया है कि जो शरीर पैदा हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरा है उसकी उत्पत्ति निश्चित है। अतः इन अपरिहार्य विषयों में शोक नहीं करना चाहिए।²⁹ विषय-वासना का ही सदैव ध्यान करने से उसमें आसक्ति पैदा होती है, आसक्ति से काम, काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से सम्मोह और सम्मोह से स्मृतिनाश, स्मृतिनाश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से शरीरनाश हो जाता है।³⁰ इस प्रकार मृत्यु के मूल में विषय-वासनाओं में अतिशय आसक्ति कही गयी है और अन्ततः बुद्धि के नष्ट हो जाने पर शरीर के विनाश अर्थात् मृत्यु को निश्चय कहा गया है।

25. पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ — श्वेताश्वतरोपनिषद्, 2.12

26. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धैरस्तत्र न मुह्यति॥

— श्रीमद्भगवद्गीता, 2.13

27. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

28. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ — वही, 2.22

29. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुर्महसि॥

30. ध्यायतो विषयान्मुसः संगस्तेषूपज्जायते। संग्तात्संजायते कामःकामात्क्रोधोऽभजायते॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहःसम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

— वही, 2.62-63।

भगवान् कृष्ण ने स्वयं को यम,³¹ काल³² और मृत्यु³³ कहा है। इस प्रकार वे ही मृत्यु हैं। उन्होंने आगे भी संसार के विनाश के लिए प्रवृत्त अपने को कालरूप बताया है³⁴। मृत्यु-संसार-सागर से उबारने वाले भी स्वयं परमेश्वर हैं। अतः मृत्यु से बस बचने के लिए एकनिष्ठ होकर उनका ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार, संक्षेपतः उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर मृत्यु-सम्बन्धी अवधारणा को प्रस्तुत करने का यत्किंचित् प्रयास किया गया। वस्तुतः शरीर को चेतन तत्त्व (देही, शरीरी, आत्मा, पुरुष अथवा जिस किसी संज्ञा से बोधित होने वाले) से वियोग ही मृत्यु है।

उपनिषदां मतं सम्यग्गीतामुखविनिःसृतम् । .

मृत्योस्स्वरूपमाख्यातं मनःशान्तिसमृद्धये ॥ 6 ॥

31. यमः संयमतामहम् । - वही, 10.29

32. कालः कलयतामहम् । - वही, 10.30

33. अहमेवाक्षयः कालः । - वही, 10.34

34. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः । - वही, 11.32

मृत्युविमर्श विष्णु पुराण तथा अग्नि पुराण में विद्यमान यमगीताओं के सन्दर्भ में

— कपिलदेव पाण्डेय

आयुष्य-समाप्ति का नाम मृत्यु है। मृत्यु के देवता यम माने गये हैं। *अमरकोश* में दिये गये यम के चौदह पर्यायवाची शब्दों में तीन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, — यम, काल और वैवस्वत। "यमयति कलयति आयुः इति यमः (यम्+अच) कल्+अण्=कालः। विवस्तो अपत्यम् वैवस्वतः (विवस्वत्+अण्)।" *कठोपनिषद्* में भी यमराज अर्थात् मृत्यु देवता को सूर्य का पुत्र वैवस्वत बताया गया है। काल का एक अर्थ समय भी होता है, जो सूर्य से ही उद्भूत या नियन्त्रित होता है। सूर्य की गति से ही दिन-रात, सौर-मास, संक्रान्ति, वर्ष, अर्यमन, युग और कल्प बनते हैं। काल अर्थात् मृत्यु के सन्दर्भ में भी सूर्योद्भूत कालात्यय आयुष्य के उपचयापचय की कल्पना है। लोकव्यवहार में भी मृत्यु को व्यक्ति विशेष कायाजीव का काल आ जाने की बात कही जाती है। परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत शरीरापचय हेतु काल उपस्थित होने पर मृत्यु हो जाती है। मेदिनीकोषकार ने मृत्यु के दो पर्याय दिये हैं — मरण और यम (मृत्युर्मा मरणे यमे)। इस लोक में जो कुछ भौतिक या स्थूल है अर्थात् जिस पर देश-काल तथा कारण-कार्य-नियम का प्रभाव पड़ता है, जिसके पूर्वरूप का नाश और पररूप की सृष्टि होती है, उसकी मृत्यु होती है तथा जो देश-काल एवं कारण-कार्य-नियम से परे है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होती, वह मृत्युरहित है, वह अमर है। शरीर की मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। शरीर में उपचयापचयरूप में परिवर्तन होते हैं। मृत्यु का अर्थ आत्यन्तिक विनाश नहीं है, इसका सीधा-सादा अर्थ है परिवर्तन। स्थूल शरीर ही नहीं सूक्ष्म शरीर भी परिवर्तनरूप मृत्यु को प्राप्त होता है। जैसे स्वप्न में हमारे मन द्वारा निर्मित शरीर, जिसे पञ्चभौतिक नहीं कह सकते हैं।

परमेश्वर पृथक् रूपों में तीन कार्य करते हैं – सृष्टि, पालन और नाश। नाश कार्य का ही नाम मृत्यु है। परमेश्वर सबकी मृत्यु हैं। *अथर्ववेद*² में कहा गया है – “आचार्यो मृत्युः”। कहीं-कहीं “मृत्युराचार्यस्तव” ऐसा ब्रह्मचारी को सम्बोधित करके कहा गया है। इस प्रकार निष्कर्ष निकला कि आचार्य (गुरु) मृत्यु है। द्विजन्म मान्यता के सन्दर्भ में इसकी सिद्धि होती है, क्योंकि माता-पिता से जात ब्रह्मचारी जब गुरुकुल में आचार्य के सम्मुख उपस्थित होता है, उसकी मृत्यु होती है और उसका द्वितीय जन्म आचार्य तथा सावित्री से होता है। *अथर्ववेद*³ में उल्लेख है – “मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन, भूतात्पुरुषं यमाप”। यहाँ ब्रह्मचारी मृत्यु को समर्पित हुआ होता है।

मृत्युहेतु उपचयापचयजन्य परिवर्तन को रोकना ही मृत्यु पर विजय या यमयातना से मुक्ति है। विष्णुपुराणस्थ *यमगीता* के अनुसार –

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा।।⁴

“केशवालम्बन” का तात्पर्य है, एक विशिष्ट जीवन-शैली, जो शरीर के उपचयापचय तथा परिवर्तन को रोक सके। इसी प्रकार *अग्नि पुराण* की *यमगीता* में भी मुक्ति का मार्ग बताया गया है, जिसका अर्थ है जन्म तथा मृत्यु पर विजय। यहाँ कहा गया है, कि पुरुष ही परम तत्त्व है, जहाँ पहुँचने पर किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता –

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।⁵

प्रस्तुत प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि विष्णुपुराणस्थ *यमगीता* ने बताया है कि सर्वथा परम तथा चरम सर्वोच्च तत्त्व विष्णु के सच्चे निष्ठावान् भक्त को यमयातना नहीं होती। यह बात *यमगीता* के अन्तिम श्लोक में स्वयं वैवस्वत यम ने बतायी है।⁶ *विष्णु पुराण* के तृतीय अंश में वर्णित विभिन्न अन्य विषयों के सातत्य में *यमगीता* में प्रतिपादित विष्णु-भक्ति के वर्णन का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। *यमगीता* का यह अध्याय सम्भव है बाद में जोड़ दिया गया। *यमगीता* के स्वरूप को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुराणों में विद्यमान गीताओं में यह *यमगीता* प्राचीनतम है। *गीता* विधा के विशेष, स्वरूपनिर्धारण के पूर्व यह लिखी गयी हो सकती है।

अग्नि पुराण का उपात्तम अध्याय (382वाँ) भी *यमगीता* के रूप में प्रख्यापित है। यम के द्वारा *कठोपनिषद्* में नचिकेता को दिये गये कुछ उपदेश इस *यमगीता* में लिये गये हैं।

2. *अथर्ववेद*, 11.5.14।
3. *अथर्ववेद*, 6.133.6।
4. *विष्णु पुराण*, 3.7.38।
5. *अग्नि पुराण*, 382.28।
6. *विष्णु पुराण*, 3.7.39।

गीतायें चाहे महाभारत के अन्तर्गत की हों या पुराणों में, सभी उपदेशपरक हैं। गीताओं की कोई प्रतिपाद्य विषय-सम्बन्धी समरूपता नहीं है। सभी दार्शनिक या आध्यात्मिक ही हों, ऐसी भी बात नहीं है।

पूरा *विष्णु पुराण* विष्णु को सर्वोच्च तत्त्व के रूप में मानकर उनकी स्तुति करता है। सामान्य रूप से पुराणों में वर्णित सभी विषय (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित) इसके छः अंशों (भागों) में आ गये हैं। इसके अतिरिक्त यह पुराण बताता है, कि कैसे जन्म और मृत्यु के चक्र पर नियन्त्रण किया जा सकता है। केवल उन्तालीस श्लोकों में निबद्ध यह *यमगीता* सिखाती है कि कैसे कोई जीव मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसका मत है कि विष्णु को सच्चा भक्त यम की यातना से मुक्त रहता है। ब्रह्माण्ड में विभिन्न व्यक्त पदार्थ एक ही परम तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं, प्रकाशन हैं, प्रकटीकरण हैं। एक ही तत्त्व व्यक्तावस्था में विविध नाम तथा रूप प्राप्त करता है। जैसे एक ही स्वर्ण भेदरहित होकर भी कटक, कुण्डल, इत्यादि नाना रूपों से व्यक्त होता है, वैसे ही एक ही विष्णु देव, मनुष्य, पशु, आदि विविध रूपों में अभिव्यक्त होते हैं।⁷ ये रूप गुणों में विद्यमान सन्तुलन (साम्यावस्था) के भग्न होने के कारण उत्पन्न होते हैं और पुनः अन्त होने पर उसी सनातन परमात्मा में लीन हो जाते हैं। जैसे वायु के शान्त होने पर उसमें उड़ते हुए धूलिकणरूप परमाणु पृथ्वी में पुनः समाहित होकर एक हो जाते हैं, वैसे ही गुणक्षोभ से उत्पन्न हुए देवता, मनुष्य, पशु आदि उस सनातन परमात्मतत्त्व में लीन हो जाते हैं।⁸ इस विवेचन के अनन्तर उन गुणों तथा स्वभावों का वर्णन किया गया है, जो विष्णु के सच्चे भक्त को अन्यों से पृथक् करते हैं। इसी सन्दर्भ में उस व्यक्ति का भी वर्णन किया गया है, जो विष्णु का भक्त नहीं है।

इस प्रकार इस लघु गीता में *विष्णु पुराण* के सार-तत्त्व को बताने का प्रयत्न किया गया है और बताया गया है कि विष्णु की भक्ति ही जन्म-मृत्यु के चक्र से किसी को मुक्ति दिला सकती है और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर प्रवृत्त कर सकती है।

अग्निपुराणस्थ *यमगीता* के मात्र सैंतीस श्लोकों में बोध के अनेक उपाय बताये गये हैं,⁹ जिनके आश्रयण से भोग तथा मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है तथा यमयातना तथा मृत्यु की भीति अपास्त हो जाती है। यह *यमगीता* मूलतः *कठोपनिषद्* के यम-नचिकेता-संवाद पर आधारित है, जिसे उद्धृत कर अग्निदेव ने वसिष्ठ को मृत्यु के संदर्भ में समझाया है। ब्रह्माण्ड तथा जीवों के क्षणिकत्व-स्वभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यहाँ कपिल एवं पंचशिख महर्षियों के मतों को यम ने उद्धृत किया है। इसके पश्चात् गंगा, विष्णु, जनक, इत्यादि के द्वारा बताये विभिन्न मार्गों की प्रशंसा की गयी है। जैगीषव्य का मत बताया गया है कि

7. *विष्णु पुराण*, 3.7.16।

8. तदेव, 3.7.17।

9. *अग्नि पुराण*, 382.2-5।

वेदत्रयी में प्रतिपादित कर्मों को कर्तव्य समझकर अनासक्त भाव से अनुष्ठित करना श्रेयस्कर है, क्योंकि कर्म सर्वोत्तम मार्ग है, जो ब्रह्म की ओर प्रवृत्त करता है। ज्ञानी पुरुष जगत् के जीवों तथा परम तत्त्व में कोई भेद नहीं देखता। यह *यमगीता* तपश्चर्या का महत्त्व बताती है, जिससे ज्ञान, बुद्धि, ईश्वर में विश्वास, सम्पन्नता, सौभाग्य, आदि की प्राप्ति होती है।¹⁰ यहाँ विष्णु की उपासना एवं भक्ति, मुक्ति के सभी मार्गों में से एक मार्ग बताया गया है। विष्णु परम तत्त्व हैं, जिनका प्रख्यापन मात्र शब्दों से नहीं किया जा सकता। एक ही वह परम तत्त्व विभिन्न भक्तों के द्वारा विविध रूपों से जाने जाते हैं, जैसे यज्ञेश, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, ईश्वर, इत्यादि। कुछ लोग इन्द्रादि नामों से तथा कुछ अन्य लोग सूर्य, चन्द्र या काल रूप से उस तत्त्व को पाना चाहते हैं। इनका प्रत्यभिज्ञान, ध्यान, भक्ति, व्रत, आदि की विधियों से सम्भव है। रथादि रूपक के माध्यम से मन तथा इन्द्रियों को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में बताया गया है कि बुद्धिरूपी सारथि के अविवेकी होने से रथरूपी शरीर संसारगर्त में गिर जाता है तथा वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं होता। जो बुद्धिरूपी सारथि विवेकी होता है, वह इन्द्रियों तथा मन को नियन्त्रित रखने के कारण जन्म-मृत्यु से मुक्त हो परम पद को प्राप्त करता है।

योगमार्ग की चर्चा करते हुए *यमगीता* में बताया गया है कि यम-नियम के द्वारा जीव-ब्रह्मैक्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी क्रम में योग के सभी अंगों – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की भी चर्चा की गयी है। समाधि योग का अन्तिम चरण है, जिसमें जीव ब्रह्म का सामंजस्य रूप ऐक्य प्राप्त होता है। जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में विलीन होकर एक हो जाता है, वैसे ही मुक्त जीव शरीरपात के अनन्तर ब्रह्म (परम तत्त्व) में विलीन होकर एक हो जाता है। पुराणों में विद्यमान गीतायें या तो उपदेष्टा को महत्त्व देने के लिए या प्रतिपाद्य विषय को महत्त्व देने के लिए गीता कहलाती हैं। यमगीताएँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। ये यह बताने के लिए कि सभी मार्ग एक ही गन्तव्य तक जाते हैं, ज्ञान के विविध विश्वासों तथा उपायों की चर्चा करती हैं।

विभिन्न पुराणों में विद्यमान सभी गीतायें एक ईश्वर को चाहे नाम कोई दें, परम तत्त्व मानती हैं और अन्य नामों से व्यपदिष्ट देवताओं को उसकी अभिव्यक्ति। जैसे *विष्णु पुराण* की *यमगीता*, *अग्नि पुराण* की *यमगीता* और *वराह पुराण* की *रुद्रगीता* में विष्णु परम तत्त्व के रूप में, *कूर्म पुराण* की *ईश्वरगीता* में शिव परम तत्त्व के रूप में स्वीकृत हैं और *देवी भागवत* में विद्यमान *देवीगीता* में देवी परम तत्त्व के रूप में वर्णित हैं। परम तत्त्व सभी मृत्यु के क्षेत्र से बाहर है, तदतिरिक्त सभी तत्त्व परिवर्तनशील हैं अर्थात् उन पर मृत्यु का नियन्त्रण है।

पुराणों में विद्यमान सभी गीतायें कर्म को ब्रह्मज्ञान का साधन नहीं मानतीं, भले ही वे कर्म-नियम से सहमत हैं, कि सभी कर्मों का फल भोगना पड़ता है। पुराण भक्ति को ही ब्रह्म-ज्ञान का सर्वोत्तम साधन मानते हैं। ब्रह्म-ज्ञान के विविध मार्गों पर विचार करते हुए *यमगीता* कर्म-मार्ग को भी एक साधन मानती है, लेकिन वह उन्हीं कर्मों को जो अनासक्त भाव से किये गये हों -

कर्तव्यमिति यत्कर्म ऋग्यजुःसामसंश्रितम् ।
कुरुते श्रेयसे संगत् जैगीषव्येण गीयते ॥¹¹

विष्णु पुराण की *यमगीता* तो कर्म बन्धन मानती है जो जन्म-मृत्यु के चक्र की ओर उन्मुख करता है -

अंगुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम ।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धनाः ॥
सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन् किज ।
आयुषोऽन्ते तथा यान्ति यातनास्तत्प्रेचोदिताः ॥¹²

यही बात *देवीगीता* में भी कही गयी है कि कर्म बन्धन के साधन हैं, मोक्ष के नहीं। केवल ज्ञान ही बन्धन के उच्छेद का काम करता है। बन्धन का उच्छेद और कर्म-मार्ग प्रकाश तथा अन्धकार के तुल्य हैं, जिनका सहभाव सम्भव नहीं है। अज्ञान के निवारण से ही ब्रह्म-ज्ञान सम्भव है। *अग्नि पुराण* की *यमगीता* कहती है - ब्रह्म-ज्ञान, सुवर्णादिदान, पवित्र तीर्थों में स्नान, ध्यान, व्रत, पूजा और धर्म के श्रवण आदि से जो प्राप्त होता है उसे कर्म-भक्ति कहते हैं, जिसमें कर्म और भक्ति दोनों का सम्मिश्रण होता है। केवल कर्म से जन्म-मृत्यु से मुक्ति नहीं मिल सकती। उसमें भक्ति या ज्ञान का सम्मिश्रण होना चाहिए।

भक्ति का अर्थ है निरन्तर, निर्बाध, सर्वदा ईश्वरविषयक चिन्तन। निरन्तर उपासना से जीव स्वयं ईश्वर हो जाता है -

अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे ।
इत्येव स स्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत् सह हरिर्भवेत् ॥¹³

इस प्रकार भक्तिपूर्ण जीवन-शैली से आचरण करने वाला सच्चा भक्त बार-बार यम के वश में नहीं आता। यम का नियन्त्रण उसी पर होता है, जो विष्णु या परम तत्त्व को समर्पित नहीं है। एक सच्चा भक्त वह है, जो स्वयं दूसरे प्राणियों एवं परम तत्त्व या वासुदेव में भेद नहीं मानता। वह विविध मनोमलों से मुक्त हो जाता है जो शरीर के उपचयापचयरूप परिवर्तन से उत्पन्न मृत्यु के हेतु हैं।

11. तद्वै, 382.8।

12. *विष्णु पुराण*, 3.7.4-5।

13. *अग्नि पुराण*, 382.16।

गीता में मृत्यु की संकल्पना

— बंशीधर त्रिपाठी

गीता में मृत्यु की संकल्पना किस रूप में की गयी है इसे जानने के लिए इस ग्रंथ के विषय में दो बातों का जानना आवश्यक है। पहली, प्रस्थानत्रयी में गीता का क्या स्थान है; दूसरी, गीता तो एक है, पर इसके भाष्य अनेक, ऐसा क्यों?

प्रस्थानत्रयी में गीता का स्थान

परम्परागत रूप से प्रस्थानत्रयी में श्रौत, स्मार्त एवं दर्शन प्रस्थान आते हैं। श्रौत प्रस्थान के अन्तर्गत एकादश उपनिषदों की गणना की जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता स्मार्त प्रस्थान के रूप में प्रतिष्ठित है। दर्शन प्रस्थान के अन्तर्गत बादरायण व्यासकृत ब्रह्मसूत्र आता है। इन तीनों प्रस्थानों के विवेच्य विषय ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति हैं। क्या ये तीनों प्रस्थान समान रूप से प्रामाणिक माने जाते हैं अथवा इनमें कोई सोपानात्मकता है, विद्वानों एवं मनीषियों को यह प्रश्न उद्बलित करता रहा है। मेरी दृष्टि में इन प्रस्थानों में सोपानात्मकता है। बादरायण व्यास ने अपनी तर्क-शक्ति, बुद्धि-शक्ति के बल पर ब्रह्मसूत्र की रचना की। आस्तिक दर्शनों में इनका स्थान सर्वोच्च माना जाता है। इसे उत्तर-मीमांसा भी कहा जाता है। उपनिषदों की रचना ऋषियों के माध्यम से हुई। वे औपनिषदिक मंत्रों के द्रष्टा माने जाते हैं (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः)। ऋषियों को मंत्रों का वक्ता भी माना जा सकता है (ऋषयो मन्त्रवक्तारः)। ऋषिगण मंत्रों के द्रष्टा हैं, वक्ता हैं, पर कर्ता नहीं। मंत्रों का कर्ता ईश्वर है। इसीलिए वेद को अपौरुषेय कहा जाता है। वेद के चार भाग हैं — संहिता (मन्त्र), ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद्। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषद् को वेदान्त भी कहा जाता है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि वेद न तो पूर्णतया पौरुषेय हैं और न ही पूर्णतः अपौरुषेय। वेद अंशतः पौरुषेय इस अर्थ में हैं कि ऋषिगण मन्त्रों के द्रष्टा व वक्ता हैं। वेद अंशतः अपौरुषेय इस अर्थ में हैं कि उनकी रचना ईश्वरीय है। अतः मेरी दृष्टि में वेद

पौरुषापौरुषेय हैं। गीता की स्थिति इन दोनों प्रस्थानों से भिन्न है। गीता स्वयं भगवान् की रचना मानी जाती है। कहा जाता है —

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरेः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपदमाद्दिनिःश्रिता।।

गीताकार योगीराज कृष्ण हैं। लोक में यह मान्यता प्रचलित है कि कृष्ण स्वयं भगवान् हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। ऐसी स्थिति में प्रस्थानत्रयी में गीता का स्थान सर्वोच्च माना जाना चाहिए। गीता के बाद उपनिषद् का स्थान आता है क्योंकि इसकी रचना ऋषियों के माध्यम से हुई है। उपनिषद् आर्ष रचना है। ऋषियों ने अंतर्दृष्टि से मन्त्रों का दर्शन किया। ब्रह्मसूत्र का स्थान प्रस्थानत्रयी में सबसे नीचे है, क्योंकि इसकी रचना बुद्धि एवं तर्क-शक्ति के आधार पर की गयी है।

गीता एक भाष्य अनेक, ऐसा क्यों?

गीता एक है, पर इसके भाष्य अनेक हैं क्योंकि गीता एक अति ही दुरुह ग्रन्थ है। इसी दुरुहता के कारण व्याख्याकार एक श्लोक के अनेक अर्थ निकालते हैं। जहाँ गीता में आचार्य शंकर निर्विशेषाद्वैत की झलक पाते हैं, वहीं रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य एवं मध्वाचार्य को इससे क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं द्वैत का प्रकाश मिलता है। गीता की दुरुहता के विषय में यहाँ दो प्रमाण प्रस्तुत हैं। पहला, गीता का प्रथम श्रोता अर्जुन है। द्वितीय अध्याय में योगीराज कृष्ण द्वारा कही गयी बातें अर्जुन की समझ में नहीं आतीं। भगवान् की ऊँची-ऊँची बातें सुनते-सुनते उसकी बुद्धि सम्भ्रम में पड़ जाती है। गीता का तीसरा अध्याय अर्जुन के ही वक्तव्य से प्रारम्भ होता है। वह बोलता है, "भगवन्, जब आपके मतानुसार कर्म की तुलना में बुद्धि अथवा ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर आप मुझे कर्म में क्यों झोंक रहे हैं? आप अपनी अस्पष्ट एवं परस्पर विरोधी बातों से मेरी बुद्धि में व्यामोह पैदा कर रहे हैं। दो-टूक शब्दों में बोलिए, मुझे क्या करना है।" अर्जुन की इस बात से स्पष्ट है कि गीता में भगवान् ने जो कुछ कहा है उसमें दुरुहता अवश्य है। दूसरा, आचार्य शंकर ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा है। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र जैसे जटिल ग्रन्थ उन्हें दुरुह नहीं लगे परन्तु जब वे गीता पर भाष्य लिखने लगे तो उन्हें यह ग्रन्थ जटिल लगा। गीता भाष्य के उपोद्घात में वे लिखते हैं "तदिदं गीताशास्त्रं समस्त वेदार्थसार संग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्... अतः तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया।" अर्थात् यह गीता शास्त्र सभी वेदों का सार है लेकिन दुरुह भी है। इसलिए मैं इसका अर्थ बताने का प्रयास कर रहा हूँ।

गीता में प्रकृति, पुरुष एवं मृत्यु

गीता स्वयं उपनिषद् है, ब्रह्मविद्या है, योगशास्त्र है। प्रस्थानत्रयी में वह स्मार्त्त प्रस्थान है। इसमें जो कुछ कहा गया है, वह भारतीय चिन्तन का नवनीत है, निचोड़ है। गीता के विवेच्य विषय अनेक हैं। इनमें से मृत्यु एक है। इस ग्रन्थ में जहाँ कहीं भी आत्मतत्त्व का विवेचन

किया गया है, उसमें बार-बार यह बात कही गयी है कि आत्मतत्त्व नित्य है, अविनाशी है, अप्रमेय है, अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, अशोष्य है, शाश्वत् है, सर्वगत है, स्थाणु है, अचल है, अव्यय है, सनातन है, अव्यक्त है, चेतन है, अचिन्त्य है, अविकारी है, अवध्य है, अज है, अमर है, त्रिगुणातीत है, किंवा स्वयं परमात्म तत्त्व है। जीव रूप में देह में स्थित है। आत्मतत्त्व का ही दूसरा नाम पुरुष है।

प्रकृति आत्मतत्त्व से भिन्न सत्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है। इसमें सत्, रज, तम, तीन गुण होते हैं। प्रकृति का एक नाम माया भी है। माया अथवा प्रकृति को जड़ माना जाता है। जड़ होते हुए भी प्रकृति जीव की दृष्टि-क्रिया में व्यवधान उपस्थित करती है, सत्यासत्य, नित्यानित्य का ज्ञान प्राप्त करने में बाधा डालती है। प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से ही जन्म अथवा सर्ग की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। सारी लीला, सारा प्रपंच, प्रकृति का है, माया का है, पुरुष अथवा आत्मतत्त्व को इस लीला का माध्यम बनाया जाता है। गीता की मान्यता है कि पुरुष अथवा आत्मतत्त्व न जन्म लेता है और न ही उसकी मृत्यु होती है। जन्म-मृत्यु तो प्रकृति का धर्म है। जब जड़ प्रकृति का संयोग अव्यक्त एवं चेतन पुरुष के साथ होता है तो वह अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है। व्यक्त होने के कारण उसकी संज्ञा "व्यक्ति" होती है। व्यक्ति, वैसे तो भाववाचक संज्ञा है पर क्रमशः इसका प्रयोग जातिवाचक संज्ञा के रूप में होने लगता है।

आत्मतत्त्व अथवा पुरुष स्वभावतः अव्यक्त होता है। प्रकृति के सम्पर्क में आने के कारण वह अव्यक्त से व्यक्त होता जाता है। परन्तु जब प्रकृति से उसका पार्थक्य होता है तो वह पुनः अपनी मूलस्थिति अथवा अव्यक्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है। प्रकृति से जीव का पार्थक्य ही मृत्यु है। ज्ञातव्य है कि आत्मतत्त्व में कृतित्व एवं भोक्तृत्व के गुण नहीं होते। परन्तु जब आत्मतत्त्व प्रकृति के सान्निध्य में आता है तब उसमें भोक्तृत्व एवं कृतित्व जैसे गुण आ जाते हैं। वह प्रकृति के गुणों का भोग करने लगता है और प्रकृति से सान्निध्य के कारण ही उसका जन्म सत् और असत् योनियों में होता रहता है। पुरुष जब प्रकृति से संयोग की स्थिति में आता है तब वह देहगत हो जाता है। उसे देह में रस आने लगता है। वह देहगत ज्ञानेन्द्रिय-प्राक्धानों का उपयोग करके उसी में रमने लगता है। उसे देह ठीक उसी प्रकार मधुर लगने लगती है जैसे कमलकोष में बन्द भ्रमर को कोष से रसानुभूति मिलती है। जीव अथवा पुरुष आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा तथा मन के माध्यम से विषय का सेवन करता है। देह में उसकी आसक्ति होने लगती है। भ्रमवश वह स्वयं को देह का पर्याय मान लेता है। जब पुरुष अथवा जीव देह से पृथक् होता है तो इस स्थिति को ही मृत्यु कहते हैं। पार्थक्य के इस क्रम में मृत्यु देह की होती है, जीव की नहीं। देह की मृत्यु भी देह के विनाश के अर्थ में नहीं होती। मृत्यु-क्रम में पंचभूतों से निर्मित देह तत्त्व-भूतों में पुनः लौट जाते हैं। भूतों का लौटकर अपनी मूल-स्थिति में जाना ही मृत्यु है। मृत्यु की घटना पुराने वस्त्रों को उतारने जैसी है। पुनर्जन्म की घटना नये वस्त्रों को धारण करने जैसी है।

पुनर्जन्म जीव के कर्मानुसार होता है। प्रकृति के सम्पर्क के कारण जीव में जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी के अनुसार उसका अगला जन्म होता है। यदि जीव में तमोगुण की प्रधानता होती है तो गुणानुसार उसकी वैसी प्रवृत्तियाँ बन जाती हैं। उसका आगामी जन्म क्रमशः निम्नतर योनियों में होता रहता है। जीव का प्रवाह तिर्यक् योनियों की ओर बढ़ता रहता है। ज्ञातव्य है कि जीव द्वारा किये गये कर्म कभी नष्ट नहीं होते। तमोगुण प्रेरित कर्म जीव को अधोमुखी बनाते रहते हैं। यदि प्रकृति के सम्पर्क के कारण जीव में रजोगुण की प्रधानता होती है तो उसका अगला जन्म मध्यम श्रेणी में होता है। सतोगुण से प्रेरित जीव ऊर्ध्वगति वाला होता है। यदि सतोगुण प्रधान कोई जीव देहोत्सर्ग करता है तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। चिरकाल तक स्वर्ग में रहने के बाद उसका जन्म उच्च कुल में होता है। अथवा ऐसा जीव किसी योगी के कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार उसका क्रमिक उन्नयन होता रहता है। यदि जीव उन्नयन-क्रम में ब्रह्मलोक तक पहुँच जाता है तो वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति को मोक्ष, निर्वाण अथवा कैवल्य कहा जाता है।

ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध में अन्य चिन्तक

गोस्वामी तुलसीदास *मानस* में जीव और देह के सम्बन्ध को लेकर जो रूपक बाँधते हैं, उसका स्वर *गीता* से भिन्न है। गोस्वामी जी मानते हैं कि प्रकृति जड़ है और जीव चेतन। इन दोनों के बीच मिलन की एक गाँठ बन गयी है। यह गाँठ इतनी उलझ गयी है कि इसे सुलझाना सब जीवों के बस की बात नहीं है। गोस्वामी जी के अनुसार देह में जीव की स्थिति वही है जो पिंजड़े में तोते और मदारी की डोर से बँधे बन्दर की होती है। *गीता* का जीव ऐसी दासता की स्थिति में नहीं है। गीता का जीव तो अपने, गुणकर्मानुसार देह का वरण करता है, देह को उपकरण बनाकर उसका उपभोग करता है। देहगत ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से वह बाह्य एवं देहान्तरिक जगत् का रसास्वादन करता है। देह में वह दास्यभाव से न रहकर स्वामीभाव से रहता है।

कबीर देह को घट और जीव को घटजल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। घटजल का दृष्टान्त और *गीता* का जीव एक-दूसरे से भिन्न हैं। घटजल में पुरुषार्थ का नितान्त अभाव रहता है जबकि *गीता* के देहस्थित जीव में पुरुषार्थ की प्रधानता रहती है। जीव के पुरुषार्थ के आधार पर ही उसके अगले जन्मों का स्वरूप निर्धारित होता है। इसी प्रकार घटाकाश की संकल्पना भी *गीता* वर्णित जीव-देह सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न है। ज्ञातव्य है कि घटजल और घटाकाश में न तो कर्तृत्व है और न ही भोगतृत्व जबकि *गीता* के जीव में ये दोनों गुण हैं। मेरी मान्यता है कि *गीता* में जीव और देह की जो संकल्पना प्रस्तुत की गयी है, वही जन्म एवं मृत्यु की गुत्थियों को सुलझाने में सक्षम है।

मृत्यु की अवधारणा भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

— रघुनाथ गिरि

भारतीय दर्शन की दृष्टि से जब किसी सिद्धान्त, मान्यता या अवधारणा का विवेचन प्रारम्भ किया जाता है तब सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि क्या इस सिद्धान्त, मान्यता या अवधारणा की चर्चा भारतीय चिन्तन के मूल स्रोत ऋग्वेद में कहीं उपलब्ध है? यदि ऋग्वेद में इसकी चर्चा का प्रदर्शन कर दिया जाता है तो इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वह सिद्धान्त या अवधारणा कोई नवीन अवधारणा नहीं है अपितु भारतीय चिन्तन के आरम्भ बिन्दु से ही उस अवधारणा पर विचार होता आ रहा है। इसलिए मृत्यु की अवधारणा पर विचार करते समय भारतीय चिन्तन के मूल स्रोत वैदिक संहिता से ही इस अवधारणा पर विचार आरम्भ किया गया है।

ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्त में यह उल्लेख मिलता है कि एक समय ऐसा भी था जब न असत् था और न सत् था, न मृत्यु थी और न अमृत था, न दिन था और न रात्रि थी, आदि।¹ इस कथन से मृत्यु के अस्तित्व का निषेध तो हो रहा है किन्तु मृत्यु की अवधारणा की पुष्टि हो रही है। इस कथन से तार्किक दृष्टि से एक और भी तथ्य उद्घाटित हो रहा है कि मृत्यु और जीवन में तार्किक विरोध नहीं है अपितु मृत्यु एवं अमृतत्व में तार्किक विरोध है। सांस्कृतिक विकास-क्रम में संवर्धित साहित्य के अवलोकन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मृत्यु से छुटकारा प्राप्त करने के लिए अमृत की खोज में देव, असुर एवं मानव सतत प्रयत्नशील रहे हैं। अमृत की खोज के लिए देवताओं की प्रयत्नशीलता से यह स्पष्ट होता है कि देवता भी अमर नहीं हैं उन्हें भी मृत्यु का भय था। असुरों के साथ देवताओं का समुद्र-मंथन अमृत की प्राप्ति और अमृत के बंटवारे में देवताओं का कपटपूर्ण व्यवहार

1. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अहं आसीत् प्रभेतः।

और उनका अमृतपान अनेक प्रश्नों को उपस्थित करता है जिस पर यहाँ विचार करना प्रासंगिक नहीं है। केवल यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि देवता अमृतपान करने के पश्चात् भी सापेक्षिक अमरत्व ही प्राप्त कर सके। उनके अमरत्व का मात्र इतना ही अर्थ है कि मनुष्यों की अपेक्षा उनका जीवन अधिक दिनों तक रहता है जो देववर्ष से सौ वर्ष होता है।

असुरों द्वारा विभिन्न प्रकार की कठोरतम तपस्याएं, मानवों द्वारा रंस भस्म, पारद की खोज, कायाकल्प की प्रक्रिया एवं मृत्युंजय की उपासना अमरत्व की प्राप्ति का असफल प्रयास माना है। उक्त नासदीय सूक्त में मृत्यु के संकेत के पश्चात् ऋक् संहिता में मृत्यु सूक्त और यम सूक्त नाम से दो सूक्त उपलब्ध होते हैं जिनमें देवयान, पितृयान, मृत्यु की सर्वशक्तिमत्ता, व्यापकता तथा यम के कार्य, यमदूतों का विवरण, यम से दीर्घायु होने की प्रार्थना आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।²

ऋग्वेद के बाद कठोपनिषद्, जो सम्पूर्ण रूप से मृत्यु या यम के साथ नचिकेता के संवाद का विवरण है, में कुछ ऐसे बिन्दुओं का संकेत किया गया है जिनसे मृत्यु की अवधारणा के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं। उपनिषद् का आरम्भ इस बात से होता है कि वाजश्रवा के पुत्र वाजश्रवस ने विश्वजित यज्ञ का अनुष्ठान किया जिसमें सब कुछ दे दिया जाता है किन्तु देने वाली वस्तुओं में वे गायें भी सम्मिलित हैं जो अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो चुकी हैं और दूध देने योग्य नहीं रह गयी हैं।³ इन गायों को दान में देते देख वाजश्रवस के पुत्र नचिकेता में श्रद्धा का भाव उदित होता है और चिन्ता के साथ अपने पिता से पूछता है कि आप मुझे किसको दान में दे रहे हैं। इस बात को अनेक बार कहने पर पिता आवेश में आकर कहते हैं कि "मृत्यवे त्वां ददामीति"। अर्थात् तुम्हें मृत्यु को दे रहा हूँ और इस कथन से नचिकेता मृत्यु या यम के पास चला जाता है।

इस आख्यान से जो विचारणीय प्रश्न उपस्थित होते हैं उनका यहाँ संकेत किया जा रहा है — क्या उपनिषद् काल में ही यज्ञ प्रदर्शन के लिए होने लगे थे? उपनिषद् के ऋषि और दान के प्रति उनकी उक्त निष्ठा में संगति कैसे स्थापित हो सकती है? क्या ऐसे ऋषि के वचन में ऐसी क्षमता संभव है कि उसके कहने मात्र से उसका पुत्र यमलोक या मृत्यु लोक में चला जाए? आदि। इस आख्यायिका में मृत्यु के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु नचिकेता का यम से प्रथम वरदान के रूप में यह माँगना है कि जब आपके यहाँ से मैं अपने पिता के पास जाऊँ तो वे मुझे पहचानकर मुझसे बातचीत करें।⁴ इस वरदान से यह ध्वनित होता है कि मृत्यु के यहाँ से वापस तो आया जा सकता है किन्तु वापस आने पर उसकी

2. मृत्युसूक्त, ऋग्वेद, 10,18,1-14।

यमसूक्त, ऋग्वेद, 10,14,1,16।

3. पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रिया

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्। — कठोपनिषद् 3.

4. त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीतः एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।

पहचान नहीं हो पाती है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या यह नियम सभी मरने वालों पर समान रूप से लागू होता है या केवल कुछ विशेष लोगों तक ही सीमित रहता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए यहाँ *श्रीमद्भगवद्गीता* को उद्धृत किया जा रहा है, जहाँ यह स्पष्ट निर्देश है कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मरेगा उसका जन्म होना भी अनिवार्य है।⁵ इस कथन का पूर्वाद्घ सर्वानुभव-सिद्ध है सार्वभौम एवं निर्विवाद है किन्तु उत्तराद्घ अर्थात् जो मरता है उसका जन्म होना भी निश्चित, निर्धारित एवं अनिवार्य है केवल शास्त्र-प्रमाण या श्रद्धा एवं विश्वास के आधार पर ही मान्य हो सकता है साथ ही साथ यह निर्विवाद भी नहीं है क्योंकि विश्व में अनेक ऐसी धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यतायें हैं जिनमें मृत्यु के बाद जन्म होने की बात स्वीकृत नहीं है।

भारत के केवल उन धर्मों को यह मान्य हो सकता है जो कर्म के सिद्धान्त को अपनी दार्शनिकता एवं नैतिकता के आधार के रूप में स्वीकार करते हैं। *गीता* के दसवें अध्याय में विभूतियों के निरूपण के प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण अपने को मृत्यु रूप में भी प्रस्तुत करते हैं जिसका कार्य सबका संहार करना है।⁶ यहाँ सर्व शब्द के अर्थ की सीमा विचारणीय है क्योंकि यह सामान्यतया सम्पूर्ण, समस्त या निःशेष का वाचक है। इससे यह ध्वनित होता है कि विश्व या ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वह मृत्यु के प्रभाव के अन्तर्गत आता है और मृत्यु उसका अन्त करती है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विकास-क्रम को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि "स्वर्गकामो यजेत" एवं "स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत" आदि विधि-वाक्यों के आधार पर स्वर्ग को मृत्यु के प्रभाव से ऊपर माना जाता रहा है और स्वर्ग को मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में मानकर उसकी प्राप्ति की विविध प्रक्रियाओं के विकास में चिन्तन एवं जीवन दोनों दीर्घ काल तक संलग्न रहे हैं। किन्तु विचार में प्रतितार्किकता के प्रभाव ने जब मत उपस्थित किया कि जैसे कर्मातीत लोक का विनाश होता है उसी प्रकार पुण्यार्जित लोक का विनाश अवश्य होता है।⁷ इसी पृष्ठभूमि में *गीता* का यह उद्घोष कि पुण्य के क्षीण होने पर स्वर्ग में रहने वाला मृत्यु लोक में आ जाता है,⁸ दार्शनिक चिन्तन को उद्वेलित कर चिन्ताग्रस्त बना देता है तथा दार्शनिकों को एक ऐसी कल्पना के लिए बाध्य करता है कि वे एक ऐसी स्थिति, अवस्था पद या स्थान को सुनिश्चित करें जो मृत्यु के प्रभाव से किसी प्रकार प्रभावित न हो सके। इस खोज में चार्वाक को छोड़कर भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय न केवल

5. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
6. यथा कर्मचितो लोकः क्षीयते तथैव पुण्यचितः लोकः क्षीयते।
7. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
8. अभेद्योऽयमच्छेद्योऽयऽशोष्य अदाहयो एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।

अग्रसर हुए अपितु आगम एवं तर्क का आश्रय लेकर उसकी स्थापना एवं सिद्धि में सभी परस्पर के विरोधों को मिटाकर एकजुट हो गए हैं और सांख्य ने यह स्थापना करने का प्रयास किया कि जो दृष्ट जगत् है उसमें किया जाने वाला प्रयास जिस प्रकार नश्वर है उसी प्रकार वेद-वाक्यों के आधार पर किया गया प्रयास तथा उससे प्राप्त होने वाला फल अविशुद्धिक्षय एवं अतिशयता आदि दोषों से ग्रस्त होने के कारण उपादेय नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक चिन्तन में उस पद, स्थिति, अवस्था का निर्देश किया जाने लगा जो मृत्यु के प्रभाव से सदा के लिए विनिर्मुक्त है जिसे मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग, परमपद, निर्वाण, निःश्रेयस, आदि शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाने लगा और उसकी प्राप्ति के उपायों पर वैचारिक दृष्टि से चिन्तन एवं व्यावहारिक दृष्टि से आचरण एवं अनुष्ठान का आरम्भ हुआ। यह पद आकर्षक एवं लुभावना तो है किन्तु श्रद्धा, विश्वास एवं शास्त्र-प्रमाण से अतिरिक्त इसको मानने के लिए कोई दृढ़ आधार नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष एवं तर्क की सीमा से परे माना जाता है।

जिसकी मृत्यु होती है उसका तात्त्विक स्वरूप क्या है? इस स्वाभाविक प्रश्न के उत्तर के लिए हम भारतीय तत्त्वमीमांसा की दो धाराओं का उल्लेख करना चाहेंगे जिसमें एक धारा नित्यतावादी है और दूसरी धारा अनित्यतावादी है। दोनों धाराओं में मृत्यु के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

नित्यतावादी धारा में मृत्यु से सम्पृक्त आत्मा को नित्य अपरिवर्तनशील वृद्धि, ह्रास, क्षय, विनाश आदि से रहित, अचल एवं सनातन माना जाता है। इस प्रकार के स्वरूप वाले आत्मा के साथ विनाशक शक्ति रूप मृत्यु की संगति स्थापित नहीं हो पाती और यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि जब आत्मा की मृत्यु नहीं होती तो उसका जन्म भी नहीं हो सकता तब इस जन्म-मृत्यु के भवचक्र में परिभ्रमण करने वाला कौन है?.

दूसरी ओर अनित्यतावादी धारा में कोई भी वस्तु या तत्त्व स्थायी, नित्य, अपरिवर्तनशील नहीं है अतः जिसे आत्मा नाम दिया जाता है वह भी रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान, एवं सतत परिवर्तनशील, इन पंच स्कन्धों का संघात माना है। अतः यह भी प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक वस्तु तथा पंच स्कन्ध के प्रत्येक स्कन्ध सतत परिवर्तनशील हैं तो क्षण, क्षण-में होने वाले परिवर्तन से मृत्युसंज्ञक परिवर्तन में भेद किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है।

उक्त दोनों धाराओं में जन्म और मृत्यु की व्याख्या अपनी तत्त्वमीमांसीय आधारों एवं दार्शनिक पूर्व मान्यताओं के सहयोग से की जाती है जिसकी संगति के लिए उनकी पूर्व मान्यताओं को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

उक्त दोनों धाराओं में जन्म-मृत्यु के चक्र की व्याख्या के लिए कर्मवाद पूर्व मान्यता का रूप स्वीकृत है जिसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म करता है उसका सुखात्मक एवं दुःखात्मक फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है तथा वह जो कुछ भी

सुख या दुःख पाता है वह अपने पूर्व में किए हुए कर्मों के फल रूप में ही पाता है। इस आधार पर दोनों धाराओं में यह स्वीकृत है कि इस जीवन के पूर्व भी जीवन था जिसमें किए गए कर्मों का फल इस जीवन में भोगा जाता है और इस जीवन के आगे भी जीवन होगा जिसमें इस जीवन में किए गए कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। इस आधार पर उक्त दोनों धाराओं में मृत्यु-जीवन माना कि समाप्ति नहीं है अपितु माना किसी एक जीवन की समाप्ति है इसके पश्चात् दूसरे जीवन का भी पूर्ण निश्चय है। इस जीवन-मृत्यु चक्र या भवचक्र की समाप्ति दोनों धाराओं में मान्य है जिसे मोक्ष या निर्वाण के रूप में विवेचित किया जाता है।

उक्त दोनों धाराओं के संदर्भ में यह एक विचारणीय प्रश्न है कि कूटस्थ, नित्य, निर्विकार आत्मा मानने पर मृत्यु एवं कर्मफल-भोग व्यवस्था की व्याख्या कैसे की जाती है? और सब कुछ क्षणिक मानने पर मृत्यु एवं फलभोग-व्यवस्था कैसे संभव होती है? यहाँ प्रथम पक्ष में तीन प्रकार के शरीर की कल्पना की जाती है स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर। इनमें मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर जीवात्मा के साथ स्थूल शरीर का परित्याग कर देता है और दूसरे स्थूल शरीर के निर्माण की प्रक्रिया में प्रतिष्ठ हो जाता है। सूक्ष्म शरीर में पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, पंचतन्यात्राएं रहती हैं और उनके साथ आत्मा का सम्बन्ध बना रहता है। इसी प्रकार सृष्टि से प्रलयपर्यन्त सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर का परित्याग एवं ग्रहण करता है। जब प्रलय होता है तो सूक्ष्म शरीर भी नष्ट हो जाता है किन्तु कारण शरीर, जो अविद्या की ग्रन्थि के रूप में रहता है, विद्यमान रहता है और नयी सृष्टि होने पर पुनः सूक्ष्म शरीर का निर्माण कारण शरीर के आधार पर हो जाता है। इस प्रकार आत्मा में परिवर्तन न होने पर भी इससे संबद्ध स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीरों का परिवर्तन या मृत्यु औपचारिक रूप से आत्मा में लागू होती है।

अनित्यतावादी धारा भी प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर मृत्यु के पश्चात् जन्म और कर्म फलयोग की व्यवस्था की व्याख्या करती है। इसके अनुसार मृत्यु के पश्चात् भी अविद्या एवं संस्कार अपने में परिवर्तन करते हुए प्रवाह रूप में चलते हैं तथा अगले जीवन के लिए विज्ञान, नाम रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, आदि का उत्पाद करते हुए अगले जन्म की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार मृत्यु एवं कर्मफल-भोग की व्यवस्था चलती रहती है।

जीवन, जिसका एक छोर जन्म और दूसरा छोर मृत्यु है, की अवधि को आयु कहा जाता है और इसका निर्धारण अनेक आधारों पर होता है। जिसमें प्रमुख आधार वह योनि है जिसमें प्राणी जन्म ग्रहण करता है। आयु का निर्धारण, जहाँ जीव-विज्ञान में शरीर संस्थान की संरचना के आधार पर किया जाता है, वहीं दर्शन-शास्त्र में इस योनि में प्राप्त होने वाले भोग और उसकी मात्रा पर आयु का निर्धारण होता है।

विश्व में एक ओर ऐसे प्राणी भी हैं जिनकी आयु कुछ क्षण से कुछ माह तक सीमित होती है और दूसरी ओर कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जिनकी आयु कुछ वर्षों से लेकर हजारों वर्षों तक ही होती है। दर्शन-शास्त्र इसका कारण भोग की मात्रा को मानता है।

सामान्यतया मानव की आयु सौ वर्ष मानी जाती है किन्तु कतिपय लोग ही पूर्ण आयु का भोग कर पाते हैं। कम आयु की मृत्यु को अकाल मृत्यु कहा जाता है जिसके कारणों पर सप्रामाणिक विस्तृत एवं गम्भीर विचार की आवश्यकता है।

पुराण साहित्य में मानव वर्ष के आधार पर दिव्यवर्ष की कल्पना की गयी है और यह बतलाया गया है कि मानव का एक वर्ष देवताओं के लिए एक दिन-रात के बराबर होता है। इसी तरह उनका पक्ष, माह एवं वर्ष बनता है और उन देवताओं की आयु उनके अपने वर्ष से सौ वर्ष मानी जाती है। इसी क्रम में ब्रह्मा का वर्ष, विष्णु का वर्ष एवं महेश के वर्ष का निर्धारण होता है और उनकी आयु भी उनके अपने वर्ष से सौ वर्ष मानी जाती है। अन्त में केवल एक तत्त्व जिसे परात्पर तत्त्व कहा जाता है उसका न जन्म होता है और न मृत्यु। वह काल की अवधि से परे होता है। इसे कहीं परात्पर विष्णु, कहीं सदाशिव, कहीं परब्रह्म आदि नामों से अभिहित किया जाता है किन्तु वास्तविक रूप में वह नाम आदि से परे होता है जिसकी कल्पना मन द्वारा संभव नहीं होती अतः कोई भी शब्द उसका वाचक नहीं होता क्योंकि वह वाणी की परिधि से परे होता है। इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डों में ऐसा कोई भी प्राणी मनुष्य, देव, देवाधिदेव नहीं है जो मृत्यु के प्रभाव से परे हो। सभी की सीमा का निर्धारण और सबका अन्त मृत्यु है।

भारतीय दर्शन में मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त होने वाली जिस स्थिति की चर्चा की जाती है वह मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस, आदि नामों से जाना जाता है। इस परमपद या चरम पुरुषार्थ के स्वरूप के विषय में प्रत्येक दर्शन सम्प्रदाय अपना मत प्रस्तुत करता है जो उसके तत्त्वमीमांसीय परिधि में होता और उसके साधनों के स्वरूप उनके अनुष्ठान की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन भी करता है। किन्तु यह एक मान्यता है कि 84 लाख योनियों में केवल मानव में ही वह क्षमता और योग्यता है जिससे वह उन साधनों का अनुष्ठान कर मृत्यु से परे जाकर इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

मृत्यु की अवधारणा एक अनुचिन्तन

— वशिष्ठ नारायण सिन्हा

मृत्यु के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि व्यक्ति का जब जन्म होता है उसी समय से मृत्यु की ओर उसका प्रस्थान प्रारम्भ हो जाता है। व्यवहार में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति जब साठ वर्षों का हो जाता है तब वह बूढ़ा घोषित कर दिया जाता है। यदि वह किसी सेवा में है, विशेषकर सरकारी सेवा में तो सरकार उसे सेवामुक्त कर देती है। समाज इसे मानता है और वह व्यक्ति भी स्वयं स्वीकार कर लेता है कि वह बूढ़ा हो गया है। तबसे मृत्यु भी उसके दरवाजे पर अपनी दस्तक किसी-न-किसी रूप में देना शुरू कर देती है। कोई उस दस्तक को जल्द समझ जाता है, कोई उसे देर से समझता है और कोई-कोई उसे नहीं भी समझ पाता है। अतः मृत्यु की दस्तक को अथवा मृत्यु को समझना बूढ़े लोगों का काम है। जो युवक हैं, युवती हैं उन्हें चाहिए कि वे जीवन को समझने का प्रयास करें। इसके दो कारण दिए जा सकते हैं—

1. युवावस्था जीवन के निकट और मृत्यु से दूर होती है। इसके विपरीत वृद्धावस्था मृत्यु के निकट और जीवन से दूर होती है।
2. जीवन को समझने के बाद ही मृत्यु को समझा जा सकता है। जिसने जीवन को नहीं समझा है उसके लिए मृत्यु को समझना असम्भव है।

मृत्यु की अवधारणा निरूपित करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बाधाएँ उपस्थित होती हैं—

- (क) मृत्यु-सम्बन्धी न तो कोई अनुभव प्राप्त होता है और न किसी प्रकार की अनुभूति ही इसकी होती है। अनुभव आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा के माध्यम से प्राप्त होते हैं। मृत्यु का बोध तो किसी भी इन्द्रिय से नहीं होता है। दिल भी मृत्यु की अनुभूति

- ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि मृत्यु के समय सारी बोधगम्यता समाप्त हो जाती है। जो भी अनुभव या अनुभूति होती है वह जीवन में ही होती है।
- (ख) मृत्यु के सम्बन्ध में कोई अनुमान भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रमाण-शास्त्र का कहना है कि अनुमान उसी का होता है जिसका कभी-न-कभी प्रत्यक्षीकरण हुआ करता है। चूँकि मृत्यु का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है इसलिए इसका अनुमान भी सम्भव नहीं है।
- (ग) पाश्चात्य अस्तित्ववादी दार्शनिक सार्त्र ने कहा है कि आदमी की कोई अवधारणा नहीं बनती है क्योंकि मनुष्य सदा होने की स्थिति में रहता है। अवधारणा तो उसकी बनती है जो पूरा हो चुका होता है। यह समर्थन दर्शन जगत् में प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। हमें अपने सम्बन्धों में विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं। हमें अनुभूतियाँ भी होती हैं, फिर भी हम अपनी अवधारणा मानने को तैयार नहीं हैं। फिर मृत्यु की अवधारणा हम कैसे मान सकते हैं जिसके विषय में हमें कोई अनुभव प्राप्त नहीं होता है।
- (घ) सबसे विचारणीय बात तो यह है कि मृत्यु होती किसकी है? क्योंकि शरीर जड़ होता है और आत्मा अमर होती है।
- अतः मुझे ऐसा नहीं लगता है कि मृत्यु की कोई अवधारणा बनती भी है।

मृत्यु के लिए प्रयुक्त प्रमुख शब्द -

- (क) प्राणान्त - मृत्यु के लिए एक बहुत ही प्रसिद्ध शब्द है प्राणान्त। मृत्यु के लिए कभी भी "जीवान्त" या "आत्मान्त" प्रयोग नहीं होता। क्योंकि जीव और आत्मा को अविनाशी समझा जाता है। मृत्यु से तात्पर्य होता है प्राणान्त। हिंसा ब्रताते हुए जैन परम्परा में कहा गया है "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरो पणं हिंसा"।¹

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वही हिंसा है। मृत्यु भी हिंसा है यदि घात करने से वह होती है। जिस शक्ति से हम जीव को किसी-न-किसी रूप में जीवित देखते हैं वह शक्ति प्राण है, जिसके अभाव में कोई भी शरीर गतिहीन हो जाता है इसी वजह से प्राण के दस भेद किए गए हैं -

1. स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण
2. रसनेन्द्रिय बल प्राण
3. घ्राणेन्द्रिय बल प्राण
4. चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण
5. श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण
6. कायबल प्राण

1. तत्त्वार्थ सूत्र-उमास्वाति, अध्याय-7, सूत्र 8।

7. वचनबल प्राण

8. मनबल प्राण

9. श्वासोच्छ्वास बल प्राण

10. आयुष्य बल प्राण²

जब आत्मा और शरीर के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है तब प्राणों की उत्पत्ति होती है। जैसे ही इन दोनों के बीच सम्बन्ध-विच्छेद होता है प्राणों का अन्त हो जाता है। वह स्थिति मृत्यु की होती है।

- (ख) देहान्त — मृत्यु को देहान्त भी कहते हैं क्योंकि मृत्यु के फलस्वरूप देह नष्ट हो जाती है। प्रायः प्राणान्त और देहान्त दोनों ही मृत्यु के लिए व्यवहार में आते हैं किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि पहले प्राणान्त होता है और उसके बाद देहान्त होता है। प्राणान्त के बाद शरीर रहता है जिसे जला दिया जाता है अथवा दफना दिया जाता है। देहान्त होने के बाद प्राणान्त होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।
- (ग) महाप्रयाण — महाप्रयाण को महाप्रस्थान भी कह सकते हैं। छोटा प्रयाण या प्रस्थान करने वाला व्यक्ति लौटकर आ जाता है किन्तु मृत्यु रूप प्रस्थान करने पर कोई लौटता नहीं, वह सदा-सदा के लिए अपनों से दूर हो जाता है। इसलिए मृत्यु को महाप्रयाण कहते हैं। लेकिन व्यवहार में देखा जाता है कि इस शब्द का उपयोग सिर्फ महापुरुषों की मृत्यु के लिए होता है। साधारण व्यक्ति के मरने पर महाप्रयाण शब्द का व्यवहार नहीं होता है। इसका एक कारण हो सकता है कि साधारण व्यक्ति जब मरता है तो वह अपने सगे-सम्बन्धियों से अलग जरूर हो जाता है परन्तु पुनर्जन्म के कारण वह पुनः किसी-न-किसी रूप में इस संसार में लौटकर आ जाता है। किन्तु संत-महात्मा जब मरते हैं तो यह समझा जाता है कि उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया और संसार में आना-जाना छूट गया। अतः उन लोगों की मृत्यु के लिए महा-प्रयाण व्यवहृत होता है।
- (घ) विदेह-मुक्ति — विदेह-मुक्ति भी मृत्यु ही है। किन्तु इस शब्द का व्यवहार साधकों एवं तपस्वियों की मृत्यु के लिए होता है। क्योंकि विदेह-मुक्ति, जिसे पूर्ण मोक्ष कहते हैं, त्यागी, तपस्वी, सन्त, महात्मा ही प्राप्त करते हैं। सामान्य लोगों की मृत्यु को विदेह-मुक्ति नहीं कह सकते हैं।
- (ङ) चिरनिद्रा — सामान्य ढंग से जब कोई सोता है तब तुरन्त अथवा देर से जग जाता है लेकिन मृत्यु-रूपी निद्रा की स्थिति में आने के बाद वह जाग नहीं पाता, वह हमेशा के लिए सो जाता है। इसलिए मृत्यु को चिरनिद्रा भी कहते हैं।
- (च) स्वर्गवास — “स्वर्गवास” शब्द मृत्यु के लिए सामान्यतया व्यवहार में आता है। मरने के बाद स्वर्ग अथवा नरक की प्राप्ति तो व्यक्ति के कर्मों पर आधारित होती है जो

सुकर्मी होते हैं उन्हें स्वर्ग मिलता है और जो कुकर्मी होते हैं उन्हें नरक प्राप्त होता है। किन्तु यह एक शिष्टाचार है कि किसी भी मरे हुए व्यक्ति के स्वर्गवास की कामना की जाती है। ऐसी ही बात महाप्रयाण के साथ है। मुक्ति तो संत-महात्माओं को मिलती है लेकिन अन्य श्रेष्ठ पुरुषों के लिए भी इस शब्द का व्यवहार होता है जिससे उन लोगों के प्रति सम्मान व्यक्त होता है।

- (छ) मरना-मारना – ये दोनों शब्द मृत्यु के लिए बहुत ही प्रचलित हैं। अमुक व्यक्ति मर गया, अर्थात् उसकी मृत्यु हो गई। अमुक व्यक्ति ने अमुक व्यक्ति को मार डाला, अर्थात् जिस व्यक्ति को मारा गया उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु दुःखद होती है और इससे जीवन का विनाश हो जाता है। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इन शब्दों के व्यवहार में कभी-कभी सुख एवं जीवन के विकास का संदेश देखा जाता है। जब कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है “हाय मैं तो मर गया”, “तेरी अदाओं ने मुझे मार डाला” तब यह उक्ति दुःख नहीं सुख का संचार करती है। जीवन को उत्साहित करती है। मरने वाला स्वयं बोलता है “मैं मर गया”।

अतः मृत्यु के लिए व्यवहृत होने वाले शब्दों को इनके संदर्भों को देखते हुए ही सही रूप में समझा जा सकता है।

मृत्यु की कामचलाऊ अवधारणा

यद्यपि मृत्यु की कोई अवधारणा बनती नहीं है फिर भी “अर्थक्रिया कारित्वम सतं” के सिद्धान्त के आधार पर इसकी कुछ कामचलाऊ अवधारणा बन सकती है। मृत्यु हो जाने पर जो कुछ होता है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मृत्यु ऐसी नहीं होती है। मृत्यु होने पर प्राणान्त हो जाता है, देहान्त हो जाता है, चिरनिद्रा की स्थिति आ जाती है, आदि। अतः कह सकते हैं –

- (क) मृत्यु वह है जिससे प्राणों का अन्त हो जाता है।
 (ख) मृत्यु वह है जिसके कारण मरने वाले की चेतना हमेशा के लिए समाप्त हो जाती है अथवा चेतना का सदा के लिए समाप्त हो जाना ही मृत्यु है।
 (ग) मृत्यु वह है जिसके कारण व्यक्ति स्थायी निद्रा की स्थिति में आ जाता है।
 (घ) मृत्यु वह है जिसके कारण व्यक्ति सदा-सदा के लिए अपनों से दूर हो जाता है और उसके लौटने की आशा नहीं रह जाती है।

मृत्यु के प्रकार

मृत्यु के निम्नलिखित प्रकार माने गए हैं –

- (1) सामान्य मृत्यु – जब कोई व्यक्ति बूढ़ा होकर अथवा बीमार होकर मरता है तब उसे सामान्य मृत्यु कहते हैं।

- (2) अकाल मृत्यु – किसी आकस्मिक घटना के कारण जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो उसे अकाल मृत्यु कहते हैं, जैसे किसी ऊँचे स्थान से गिरकर, पानी में डूबकर, किसी यन्त्र आदि से दुर्घटनाग्रस्त होने पर होने वाली मृत्यु।
 - (3) आत्महत्या – किसी विवशता के कारण जीवन से ऊबकर स्वयं अपनी हत्या कर लेना। जैसे विषपान कर लेना, ऊँचे स्थान से कूद जाना, ट्रेन से कट जाना, पानी में छलांग लगा देना, बन्दूक आदि से अपने पर ही प्रहार कर लेना, इत्यादि।
 - (4) इच्छा-मृत्यु – इच्छा-मृत्यु का अर्थ है कि स्वेच्छा से मृत्यु को गले लगाना। इसकी चर्चाएँ विभिन्न परम्पराओं में अलग-अलग ढंग से मिलती हैं।
- (क) वैदिक परम्परा – महाभारत में भीष्म पितामह की इच्छा-मृत्यु का उल्लेख मिलता है। स्वेच्छा से प्राण त्यागने की क्षमता उनमें थी। प्राण त्यागने के लिए उन्होंने सूर्य के उत्तरायण में होने की प्रतीक्षा की। इसके अतिरिक्त साधकों के द्वारा स्थायी रूप से समाधिस्थ होने की बातें भी मिलती हैं।
- (ख) जैन परम्परा – जैन परम्परा में इच्छा-मृत्यु के लिए संथारा, समाधिमरण, आदि शब्द भी देखे जाते हैं। इसमें बताया गया है कि जब व्यक्ति अपने जीवन में सन्तोष प्राप्त कर लेता है, उसे किसी चीज की अपेक्षा नहीं रह जाती है तब वह धीरे-धीरे अपना खान-पान त्यागना शुरू कर देता है और अन्त में मृत्यु की स्थिति में आ जाता है।
- (ग) ग्रीक परम्परा – ग्रीक परम्परा की सिरिनाइक तथा सिनिक शाखाओं में भी मृत्यु को वरीयता दी गई है। सिरिनाइक शाखा के हेगेसियस ने यह माना है कि जीवन का कोई महत्त्व नहीं है, बल्कि जीवन की तुलना में मृत्यु व्यक्ति के लिए ज्यादा अनुकूल है, क्योंकि उसमें सभी प्रकार की निराशाओं एवं दुःख का अन्त हो जाता है। वे लोग बड़े भाग्यवान होते हैं जिनका जीवन कष्टमुक्त होता है। ज्यादातर लोगों के जीवन में तो क्लेश का आधिक्य ही देखा जाता है। ऐसी स्थिति में आत्महत्या ही मात्र ऐसा मार्ग रह जाता है जो व्यक्ति को दुःख से छुटकारा दिलाता है। अतः वे आत्महत्या का समर्थन करते हैं। सिनिक लोगों के विचार में निर्धनता, कष्ट, रोग, गुलामी तथा अपने आप में मृत्यु भी अशुभ नहीं है। गुलाम से स्वतन्त्र को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता, कारण गुलाम के पास यदि धार्मिकता है तो वह स्वयं स्वतन्त्र है और जन्मजात शासक है। आत्महत्या को एक अपराध नहीं कहा जा सकता, यदि कोई अपने दुःख के दमन के लिए नहीं बल्कि जीवन के प्रति अपनी उपेक्षा भावना के कारण आत्महत्या करता है।

मृत्यु के प्रकारों को देखते हुए कहा जा सकता है कि आत्महत्या और इच्छा-मृत्यु में अन्तर है। आत्महत्या में विवशता होती है जबकि इच्छा-मृत्यु में संतोष एवं स्वतन्त्रता होती

है। वैदिक परम्परा की इच्छा-मृत्यु से ऐसा लगता है कि मरने वाले के पास मृत्यु को रोकने की क्षमता है किन्तु जैन परम्परा की इच्छा-मृत्यु में मरने वाले में ऐसी क्षमता का अभाव जान पड़ता है। वह जीवन से संतुष्ट होकर शरीर का त्याग कर सकता है लेकिन मृत्यु को रोक नहीं सकता है। सिरेनाइक की आत्महत्या एक सामान्य आत्महत्या की तरह है। इसकी तुलना में सिनिक लोगों की आत्महत्या सबसे भिन्न है। इसमें न तो जीव के प्रति साधारण आत्महत्या की तरह दुःख की विवशता है और न जैन इच्छा-मृत्यु की तरह जीवन की संतुष्टि है, बल्कि जीवन के प्रति उपेक्षा भाव है।

जीवन और मृत्यु

जीवन और मृत्यु एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों को बिल्कुल अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता है। शरीर का धारण करना जन्म या जीवन है, और शरीर का त्यागना मृत्यु है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है। कहा जाता है कि सामान्यतः जो जन्म लेता है, वह मरता है और जो मरता है वह जन्म लेता है। परन्तु जो मुक्त हो जाता है उसके विषय में यह मान्यता है कि वह फिर शरीर धारण नहीं करता या जन्म नहीं लेता है। जन्म लेने वाले के विषय में मरने की बात पूरी तरह मान ली गई है परन्तु शास्त्रों में एक-दो ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे जन्म के बाद मृत्यु की बात खंडित हो जाती है। हनुमानजी त्रेतायुग में थे, द्वापर में थे और आज भी हैं। इनके जन्म की कथा तो मिलती है किन्तु मरने की बात कहीं नहीं मिलती है। महाभारत में एकमात्र अश्वत्थामा की चर्चा मिलती है जो द्रोणाचार्य के पुत्र थे। उनके विषय में भी कहा जाता है कि वे मरे नहीं और आज भी जीवित हैं।

मृत्यु निश्चित अथवा अनिश्चित

मृत्यु के विषय में कहा जाता है कि मृत्यु बिल्कुल निश्चित होती है। किसी व्यक्ति की मृत्यु जिस समय, जिस स्थान पर और जिस माध्यम से होने को होती है ठीक उसी समय, उसी स्थान पर तथा उसी माध्यम से होती है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः मृत्यु सर्वथा निश्चित है। किन्तु इस निश्चितता का बोध न तो मरने वाले को होता है और न अन्य किसी को। यदि मृत्यु के विषय में कुछ पहले से ज्ञात होता तो मरने वाला यथाशक्ति अपनी सुरक्षा का उपाय करता। लेकिन ऐसा नहीं होता है। मृत्यु हो जाने के बाद अन्य लोग बताते हैं कि अमुक व्यक्ति की मृत्यु इस प्रकार हुई है। अतः मृत्यु अनिश्चित भी है। इस तरह मृत्यु चाहे जितनी भी निश्चित हो उसकी निश्चितता के बोध का अभाव उसे अनिश्चितता की कोटि में ला देता है।

मृत्यु साध्य या साधन

मृत्यु हमेशा साधन के रूप में ही जानी जाती है। यह साध्य नहीं बनती है। साधकों की

विदेह-मुक्ति नहीं होती जब मृत्यु होती है। अतः विदेह-मुक्ति के लिए यह एक साधन है। निराशावादी लोगों के लिए वर्तमान कष्टों से छुटकारा दिलाने वाली मृत्यु ही होती है। वे समझते हैं कि मर जाने से जीवन की सभी समस्याओं की समाप्ति हो जाती है। सिनिक लोगों के प्रति उपेक्षा भाव की पूर्ति मृत्यु से ही होती है। अतः मृत्यु साधन है।

ज्योतिष-शास्त्र में मृत्यु-विचार

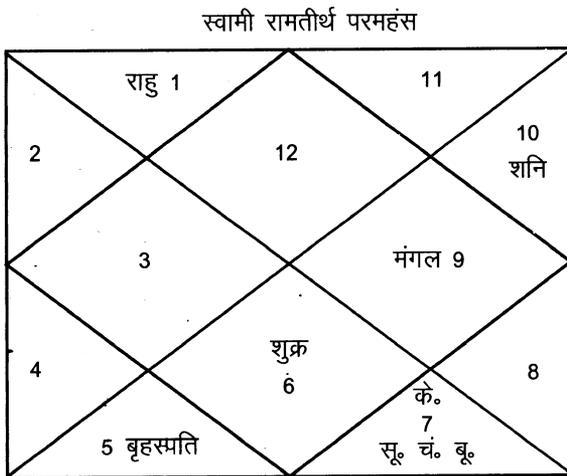
— पंडित त्रिलोकनाथ मिश्र

प्राचीन विद्वानों के अनुसार ज्योतिष विद्या के अठारह प्रवर्तक माने गये हैं। सूर्य, ब्रह्मा, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, भृगु, मरीचि, मनु, अंगिरस, लोमश, पौलिस, च्यवन, पवन, मनु और शौनक।

ज्योतिष के दो प्रमुख विभाग हैं। एक गणित और दूसरा फलित। इन दोनों का वही सम्बन्ध है जो शब्द और अर्थ का। *सूर्य सिद्धान्त* ज्योतिष का आर्ष ग्रन्थ है। ज्योतिष के अनुसार मृत्यु के कई प्रसंग और पक्ष हैं। शुभ और अशुभ ग्रहों की स्थिति के अनुसार मृत्यु का विचार किया जाता है। जैसे जातक (बालक) के जन्म के अनुसार माता और पिता के मृत्यु का समय, स्त्री की मृत्यु, संतान की मृत्यु, ग्रह-स्थिति के अनुसार अल्पायु का विचार, मारकेश का विचार, मृत्यु-समय के लग्न का ज्ञान, मृत्यु का स्थान, ग्रहयोगानुसार मृत्यु-कारण, ग्रहों से मृत्युकारी रोगों का अनुमान। इसी क्रम में इनका संक्षेप में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

जातक के जन्म-अनुसार उसके माता-पिता की मृत्यु के समय के अनेक योग होते हैं। उदाहरणस्वरूप एक योग प्रस्तुत किया जा रहा है — जन्म काल में चन्द्रमा से चतुर्थ स्थान में पापग्रह (सूर्य, मंगल, शनि, उपलक्षण से राहु तथा केतु) हो और उसके साथ शुभ ग्रह न हो या उस पर शुभ ग्रह की दृष्टि न हो तो जातक की माता अल्पकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होती है।

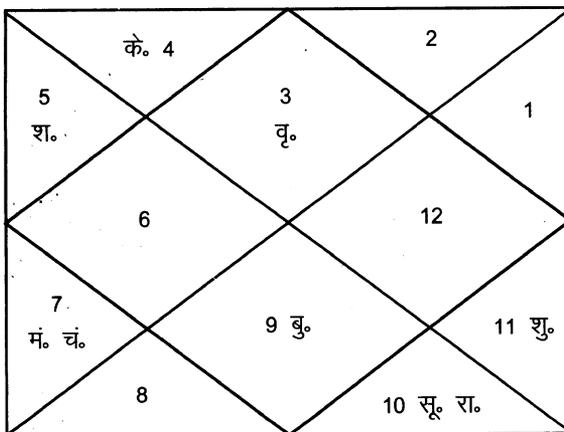
देखें नीचे चक्र में -



इनकी माता नौ. मास की अवस्था में उन्हें त्यागकर चल बसी थीं।

जातक के जन्म से पिता की मृत्यु का विचार

यदि जन्म के समय नवम स्थान का स्वामी-ग्रह राहु से छठे अथवा आठवें स्थान में बैठा हो और राहु की महादशा में जन्म हो अथवा नवमेश की महादशा में हो तो पिता की मृत्यु होती है। प्रस्तुत है मिथिला के महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह जी की जन्म कुण्डली चक्र -



उपर्युक्त चक्र में नवमेश शनि से राहु छठे स्थान में बैठा है तथा राहु से शनि आठवें स्थान में है और स्वामी नक्षत्र में जन्म होने के कारण इनका जन्म राहु की महादशा में हुआ

था। फलस्वरूप इनके पिता का देहान्त इनकी बाल्यावस्था में हुआ था। इसी तरह यदि लग्न व चौथे स्थान में राहु हो और शत्रु राशिगत बृहस्पति हो तो पिता की मृत्यु जातक के 23वें वर्ष में होती है।

जातक के जन्म के अनुसार स्त्री-पुरुष के भी अनेक योग होते हैं जिनमें एक योग ऐसा भी है – यदि पुरुष कुण्डली में कन्या लग्न का जन्म हो और उसमें सूर्य हो तथा सप्तम स्थान में मीन का शनि हो तो शनि की दशा में स्त्री की मृत्यु होती है। इसी तरह दूसरा योग यह भी है – किसी पुरुष कुण्डली में मंगल छठे स्थान में हो, सातवें में राहु और आठवें में शनि हो तो ऐसे व्यक्ति की स्त्री जीवित नहीं रहती। यदि जन्म लग्न कन्या हो और मंगल मकर राशिगत हो तो ऐसे व्यक्ति के कई संतानों की मृत्यु होती है। पंच स्थानगत मंगल पुत्र के लिए सर्वदा हानिकारक होता है। यदि मंगल पंचम स्थान के प्रथम तृतीयांश (10 अंश) के नीचे हो तो प्रथम पुत्र, दूसरे में (20 अंश तक में) दूसरे पुत्र एवं तृतीय (30 अंश) के भीतर का हो तो छोटे पुत्र की मृत्यु होती है।

अल्पायु विचार के सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि बुध, बृहस्पति और शुक्र छठे, आठवें या बारहवें में हो तथा यदि सूर्य चन्द्रमा के साथ लग्न में हो और आठवें या बारहवें में पापग्रह हो अथवा शुक्र एवं बृहस्पति लग्न से हो और सूर्य पापग्रह के साथ होकर पाँचवें में हो तो जन्म लेने वाला अल्पायु होता है।

व्यक्ति कब मरेगा यह विचार अत्यन्त गूढ़ है। इस संबंध में भली प्रकार विचार करने के लिए कहा गया है। लग्न चक्र में दूसरा स्थान तथा सातवां स्थान ये दोनों ऐसे स्थान हैं जहाँ से मृत्यु के सम्बन्ध में काल (समय) का ज्ञान होता है।

मारकेश अर्थात् मारने वाला ग्रह कौन होगा इसका नियम यह है –

1. द्वितीयेश के साथ वाले पापग्रह को मारकत्व की प्रबल प्रधानता होती है।
2. सप्तमेश के साथ वाले ग्रह को उससे कम।
3. द्वितीयस्थ पापग्रह को उससे कम।
4. सप्तमस्थ पापग्रह को उससे कम।
5. द्वितीयेश को उससे कम।
6. सप्तमेश को उससे कम।
7. उसके बाद द्वादशेश को।
8. उसके बाद द्वादशेश के साथ वाले पापग्रह को।

इसके बाद तृतीयेश, इसके बाद षष्ठेश, फिर एकादशेश, अंत में ग्रहों के पापत्व को देखते हुए मारकेश की प्रधानता स्थिर करनी होती है।

पहले यह देखना होगा कि बालारिष्ट है या नहीं, फिर यह देखना होगा कि अल्पायु, मध्यमायु व दीर्घायु है। इतना निश्चय करने के बाद यह देखना होगा कि उस आयु प्रमाण के समय विंशोत्तरी दशानुसार किस ग्रह की दशा-अन्तर्दशा पड़ती है। उस आयु के अनुकूल उपर्युक्त मारकेशों में से किसी की दशा-अन्तर्दशा आयेगी तो उसी में मृत्यु या मृत्युवत् क्लेश होगा। उदाहरणार्थ मान लिया जाये कि जातक अल्पायु नहीं है परन्तु जन्म से पाँच ही वर्ष बाद द्वितीयेश के साथ वाले पापग्रह की दशा आती है तो ऐसे स्थान में उस ग्रह की दशा में उस जातक की मृत्यु नहीं होगी, केवल कष्ट होकर रह जायेगा। इसी प्रकार यदि मान लिया जाये कि बालक को बालारिष्ट योग नहीं है परन्तु जन्म समय ही में मारकेश की दशा है तो ऐसे स्थान में वह मारकेश ग्रह अनिष्टकारी तो अवश्य होगा परन्तु मृत्युकर नहीं होगा।

अल्पायु, मध्यमायु व दीर्घायु के समय विचारपूर्वक देखना होगा कि बली मारकत्व किस ग्रह को है, उसी की दशा-अन्तर्दशा तथा गोचर क्रम में वह ग्रह मारेगा। किन्तु मृत्यु का ठीक समय-ज्ञान बहुत कठिन है। सप्तम, द्वितीय और द्वादश स्थान में पापग्रह हो और लग्न, अष्टम या छठे स्थान में चन्द्रमा हो और लग्न से दूसरे, सातवें, आठवें व बारहवें घर के स्वामी की दशा-अन्तर्दशा चल रही हो तो अवश्य मृत्यु को देने वाला होता है या फिर उपर्युक्त दशा काल जब कभी आता है साथ ही गोचर क्रम में भी 2, 6, 7, 8 या 12वें घर में पापग्रह आता है तो मृत्युकारी होता है।

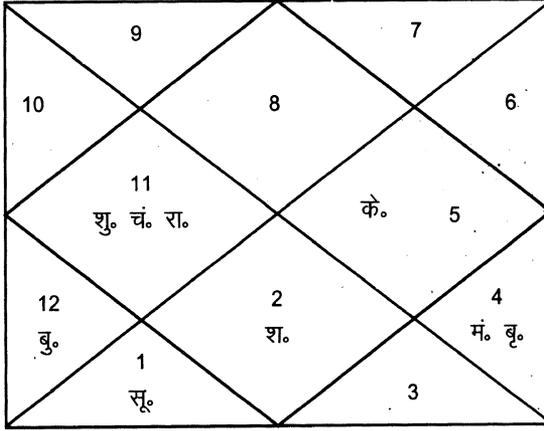
लग्नयो मृत्यु पश्चापि मृत्यौ स्याता बुभौ यदि।

स्थितौ प्रेष्काण एकस्मिन् तदा मृत्युर्न संशयः॥

यदि चक्र में पहले घर (लग्न) का स्वामी और अष्टम घर का स्वामी राशि के एक ही प्रेष्काण 1/3 में स्थित हो जाये तब मृत्यु को प्राप्त कराता है।

- (1) मृत्यु स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है कि उपर्युक्त योग के समय यदि अष्टम भाव घर (1, 4, 7, 10) राशि हो तो जन्म स्थान से बिलग किसी अन्य नगर में मृत्यु होती है।
- (2) यदि अष्टमेश पापग्रह हो और लग्न में बैठा हो और उस पर लग्नेश की दृष्टि हो तो जातक की मृत्यु अकस्मात् अपने घर में होती है।
- (3) यदि अस्माधिपति पापग्रह हो और सप्तम स्थान में बैठा हो तो जातक की मृत्यु रास्ते में होती है।
- (4) यदि मंगल नवम भाव में हो तो मार्ग में।
- (5) यदि नवमेश नवम में हो तो तीर्थ या गंगा के समीप मरण होता है।

यदि लग्नेश बृहस्पति व शुक्र के साथ हो तो तीर्थ में मृत्यु होती है। उदाहरणस्वरूप वल्लभाचार्य जी का जन्म-चक्र प्रस्तुत है -

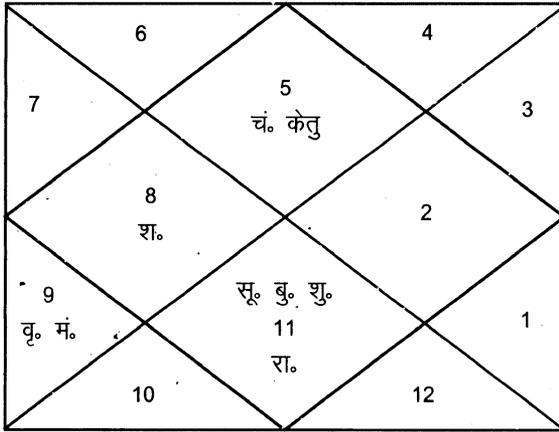


यहां लग्नेश मंगल बृहस्पति के साथ नवम स्थान में है। इनकी मृत्यु काशी में हुई थी। तीर्थ मरण के भी अनेक योग और भेद हैं विस्तार से नहीं दिया जा रहा है।

इसी तरह ग्रह-योगानुसार मृत्यु-कारण के सम्बन्ध में कहा गया है-

- (1) यदि कर्क अथवा सिंह राशिगत होकर चन्द्रमा सप्तम व अष्टम स्थान में बैठा हो और राहु से युत हो तो किसी पशु द्वारा मृत्यु होती है।
- (2) यदि दशम स्थान में सूर्य और चतुर्थ स्थान में मंगल हो तो किसी सवारी पर से गिरकर मृत्यु होती है।
- (3) दशम स्थान में सूर्य और चतुर्थ में मंगल बैठा हो तो वाहन से टकराकर मृत्यु होती है।
- (4) यदि राहु अष्टम स्थान में हो और उस पर पापग्रह की दृष्टि हो तो फोड़ा इत्यादि या सर्प डसने से मृत्यु हो।
- (5) शुभ ग्रह शत्रु राशिगत होता हुआ 6, 8 या 12वें स्थान में बैठा हो और मंगल शत्रु राशिगत होता हुआ शत्रुग्रह के साथ हो तो सर्प के डसने से मृत्यु होती है।
- (6) यदि मीन लग्न का जन्म हो और उसमें सूर्य और चन्द्रमा किसी अन्य पापग्रह के साथ हो और अष्टम स्थान में भी पापग्रह हो तो किसी स्त्री के हाथ से मृत्यु होती है।
- (7) लग्नेश, अष्टमेश और सप्तमेश के एकत्र होने से जातक की मृत्यु स्त्री के साथ होती है।

- (8) चतुर्थश जिस राशि में हो उस राशि के स्वामी पर यदि चतुर्थश की दृष्टि पड़ती हो अथवा वह चतुर्थश के साथ हो तो जातक की मृत्यु जल में डूबने से होती है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु के साथ हुआ, देखें चक्र नीचे है -



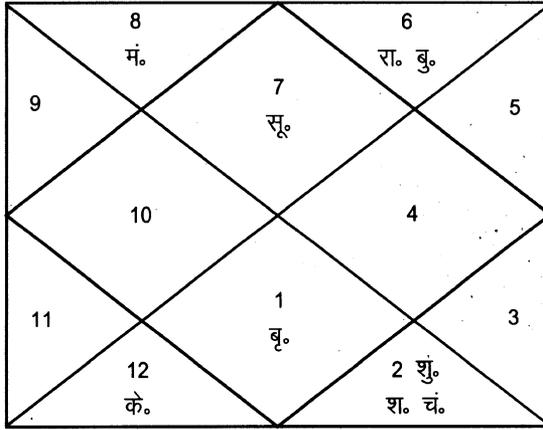
इनकी मृत्यु 1533 ई. के आषाढ सप्तमी रविवार को जल में डूबने से हुई थी।

- (9) यदि द्वितीयेश और षष्ठेश, शनि के साथ होकर 6, 8 वा 12वें भाव में हो तो जातक की मृत्यु विषपान से होती है।

इस तरह मृत्यु कारण के भी अनेक योग बताये गये हैं।

रोगादि के सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि अष्टम स्थान में कोई शुभ ग्रह बैठा हो तो जातक की मृत्यु क्लेशकर नहीं होकर सुखमयी होती है। पर यदि अष्टम स्थान में पापग्रह बैठा हो तो मृत्यु पीड़ा के साथ होती है। जो ग्रह अष्टम स्थान में बैठा रहता है उसी ग्रह के धातु प्रकोपादि से अथवा उन ग्रहों के जाति-अनुसार मनुष्य की मृत्यु होती है।

यदि अष्टम स्थान में सूर्य बैठा हो तो अग्नि एवं ज्वरादि से, यदि चन्द्र बैठा हो तो जल, दस्त की बीमारी या रुधिर-विकार रोग से, यदि मंगल बैठा हो तो अकस्मात् मृत्यु या हैजा, प्लेगादि से, यदि बुध बैठा हो तो ज्वर, चेचकादि से, और यदि बृहस्पति बैठा हो तो लाइलाज रोग से मृत्यु होती है। शुक्र के बैठे रहने से प्यास, शनि बैठा हो तो क्षुधा या अधिक भोजन होने के कारण मृत्यु होती है। इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इसी क्रम में सूर्यादि ग्रह के उच्च, नीच उच्च नवाँश, मित्र-गृही, शत्रु-गृही, शत्रु नवाँश, मित्र नवाँश, स्वगृही, वर्गोत्तम, शुभ षडवर्ग, क्रूर षडवर्गादि में होने पर अनेकानेक रोगों के कारण से मृत्यु संभव कही गयी है। उदाहरणार्थ चक्र दिया जा रहा है—



उपर्युक्त चक्र में अष्टमेश शुक्र अष्टम स्थान में शनि तथा चन्द्रमा के साथ है तथा पापग्रह मंगल द्वारा देखा जा रहा है अतः ऐसे व्यक्ति की मृत्यु जल में डूबने से होती है।

ज्योतिष से भिन्न अन्य शास्त्रों में भी मृत्यु पर विचार किया गया है। *कठोपनिषद्* में मृत्यु के देवता यम और बालक नचिकेता के संवाद से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा परिव्यापी है तथा मृत्यु शरीर तक सीमित है। *गीतोपनिषद्* में कहा गया है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ 2.27 ॥

अर्थात् जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है, और मृत्यु के पश्चात् उसका पुनर्जन्म भी निर्धारित है। अतः हे अर्जुन! अपरिहार्य कर्तव्य का पालन करो, तुम्हें विलाप नहीं करना चाहिये।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जिर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ 2.22 ॥

जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को त्यागकर मनुष्य नवीन वस्त्र को धारण करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा वर्तमान शरीर को त्यागकर नवीन शरीर को धारण करता है।

महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष का एक प्रसंग है। यक्ष ने युधिष्ठिर से चार प्रश्न पूछे थे, उसमें दूसरा प्रश्न था — कि इस चराचर जगत् में आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने कहा —

अहन्यहन्यभूतानि गच्छन्ति यम मन्दिरे।

अपरे स्थातु भिच्छन्ति किमाश्चर्यं मतः परम॥

अर्थात् यह जानते हुए भी कि प्रत्येक व्यक्ति यमराज गृह (मृत्यु) को जाता है। फिर भी मैं नहीं मरूँगा, मेरे साथ ऐसी घटना नहीं होगी, ऐसी निडरता बनी रहती है — इससे बढ़कर दूसरा कोई आश्चर्य नहीं।

गरुड़ पुराण (13.34) में मृत्यु के अन्तिम क्षण तथा मृत्यु के पश्चात् मृतक की आत्मा की यात्रा और तत्सम्बन्धी अनुभव का विषय वर्णन है। श्री भगवान ने कहा — हे पक्षिराज गरुड़! मैं भयंकर यममार्ग का वर्णन करता हूँ, पापी लोग जिसमें होकर यमलोक को जाते हैं। सुनने वाले को भी वह वर्णन अति भय देने वाला है, परन्तु मैं तुम्हारे आग्रह से कहता हूँ। सर्वदा पाप में ही जो लोग आसक्त रहते हैं, धर्म और दया से रहित हैं, कुसंगति में रहते हैं, सत्संगति और उत्तम वेद-शास्त्र से विमुख रहते हैं, जो अपने को सम्मानित मानकर घमंड में फूलते हैं, धन तथा मर्यादा के गर्व से युक्त हैं, दैवी-शान्ति रूपी सम्पत्ति से हीन होकर राक्षसी भाव प्राप्त होते हैं, जो भोग तथा काम में लीन रहते हैं, मन जिनका माया-जाल में फँसा हुआ है, अपवित्र नरक में वें गिरते हैं। मनुष्य जो दान देने वाले हैं मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो लोग पापी हैं वे यम-त्रासना सहते हुए दुःखपूर्वक यमलोक जाते हैं। इस संसार के पापियों को जैसे दुःख मिलते हैं उन दुःखों को भोगने के पश्चात् जैसी मृत्यु होती है, तथा जैसा कष्ट वे पाते हैं तुमसे उसका वर्णन करता हूँ, ध्यान से सुनो। संसार में मनुष्य जन्म लेकर पूर्व जन्म के संचित किये हुये अपने पुण्य और पाप से अच्छे-बुरे फल को भोगता है। शेष अशुभ कर्म के संयोग से शरीर में कोई रोग हो जाता है। रोग और विपत्ति से युक्त वह प्राणी जीवन की आशा से उत्कण्ठित रहता है। युवावस्था का वेदनाहीन वह प्राणी स्त्री-पुत्रों से सेवित होने पर भी जरावस्था को प्राप्त होता है, बलवान सर्प के समान काल एकाएक उसके सिर पर आ पहुँचता है। वृद्धावस्था के कारण रूपहीन होकर घर में मृतक के समान रहता है। गृहस्वामी द्वारा अपमानयुक्त दिये हुये आहार का श्वान के समान भोजन करता है, रोग और मन्दाग्नि के कारण उसका आहार घट जाता है, चलने-फिरने की शक्ति घट जाती है और चेंष्टाहीन हो जाता है। जब कफ से स्वर-नालियाँ रुक जाती हैं, श्वाँस के आगमन में कष्ट होता है, खाँसी और श्वाँस के वेग के कारण उसके कण्ठ में घुर-घुर शब्द होने लगता है। चेतना रहने के कारण चारपाई पर पड़ा हुआ सोचता है, बन्धु वर्ग से घिरा हुआ वह प्राणी मृत्यु के सन्निकट पहुँचता रहता है, बुलाने से भी नहीं बोलता है। इस प्रकार अब भी कुटुम्ब के पालन-पोषण में जिसकी आत्मा लगी रहती है, उस परिवार के प्रेम की वेदना से वह प्राणी रोता हुआ परिवार के बीच में मर जाता है। हे गरुड़! मृत्यु के समय देवताओं के समान प्राणी की दिव्य दृष्टि हो जाती है। वह संसार को एकमय देखता है, कुछ भी बोलने में असमर्थ हो जाता है। इन्द्रियों की व्याकुलता से चैतन्य प्राणी भी जड़ के समान

हो जाता है। जब प्राण आदि पाँचों वायु अपने स्थान से चल देते हैं, उस समय मरते हुए पापी को एक क्षण भी कल्प के समान बीतता है। सौ बिच्छुओं के काटने से जो पीड़ा होती है, वैसी ही व्यथा श्वासों के निकलते समय होती है। उस जीव के मुख से (यमदूत के भय से) लार और फेन गिरने लगते हैं। अतः पापियों का प्राणवायु गुदा के मार्ग से बहिर्भूत होता है। प्राण निकलते समय प्राणियों को यमदूत मिलते हैं जो क्रोध से लाल नैन वाले, भयानक मुख, पाश और दण्ड को लिये, नग्न शरीर, दाँतों को पीसते हैं। टेढ़े मुख वाले विशाल नखरूपी शस्त्र वाले, कौओं के समान काले शरीर वाले, ऊपर को उठे हुए केशवाले यमदूत वहाँ आकर उपस्थित रहते हैं। वह प्राणी उन दूतों को देखकर भय से मल-मूत्र का त्याग करने लगता है। वह जीव हाय-हाय करता हुआ शरीर से निकल कर अंगुष्ठमान शरीर को धारण करता है और मोहवश अपने घर को देखता है और यमदूतों द्वारा उसी समय पकड़ लिया जाता है, जैसे अपराधी पुरुष को राजा के सिपाही पकड़कर ले जाते हैं। इस प्रकार मार्ग में ले जाते हुये वे यमदूत उस जीव को धमकी देते हैं तथा बारम्बार नरकों के भयानक वर्णन करते जाते हैं।

इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मृत्यु का क्षण अत्यन्त भयावह होता है। इस समय व्यक्ति के मन में भय उत्पन्न होता है और मृतक की आत्मा (अंगुष्ठमान शरीर) की कठिन यात्रा प्रारम्भ होती है। यमलोक पहुँचने पर वह जीव यमराज का दर्शन करता है तथा घोर नरक की यातना को देखकर एक मुहूर्त में यमराज की आज्ञा से फिर मनुष्यलोक में आता है। वह जीव यहाँ आने पर अपने पूर्व शरीर में पुनः प्रवेश करने की इच्छा करता है परन्तु उसे यमदूत पाश में बांधे रहते हैं। इस कारण क्षुधा-तृषा के दुःख दुःख को वह विकल होकर सहता और रोता है। तब पुत्रों द्वारा मृत्यु के स्थान पर दिये गये पिण्ड और मरने के समय दिये हुए दान को वह जीव खाता है। जिसका पिण्डदान नहीं होता, वे निर्जन वन में कल्प भर प्रेतयोनि में दुःखपूर्वक भ्रमण करते हैं। छः करोड़ कल्प तक बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता है और जीवों को बिना यम की यातना भोगे मनुष्य का जन्म भी नहीं मिलता। इसी से दस दिन पुत्र को पिण्डदान करना चाहिये। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य मृत्यु के पश्चात् भी अपने परिवार पर आश्रित है। अर्थात् मृत्यु और जीव की सातत्यता बनी रहती है। शरीर की मृत्यु होती है। मृत्यु के पश्चात् की दो अवस्थायें हैं। एक है — पितरलोक में निवास करना, दूसरा है — फिर से मृत्युलोक में जन्म लेना। मृतक के पुत्रादि समय-समय पर पितृश्राद्ध करते हैं। अतः उनके लिए मृत्युलोक में पितर के पुनः जन्म लेने की बात असंगत है। शास्त्रों में मृतक के लिये शान्ति तथा नारायण बलि आदि का विधान है। इससे मृतक को पितरलोक में पहुँचने का मार्ग सुलभ हो जाता है। देवलोक की तरह पितरलोक भी अमरता का आधार है।

निष्कर्षतः ज्योतिष-शास्त्र में मृत्यु की अवधारणा दैहिक स्तर तक ही सीमित है। उपनिषद् और पुराण ने इसकी अवधारणाओं को और अधिक व्यापक बनाया है। गरुड पुराण मृत्यु के कर्मकाण्ड का एक आवश्यक अंग है। ज्योतिष भी कर्मकाण्ड का अंग है।

मृत्यु का कर्मकाण्ड

— संतोष कुमार मिश्र

जीवन क्या है और मृत्यु क्या है? यह एक सनातन और शाश्वत् प्रश्न है। संसार के प्रायः सभी धर्मों, सम्प्रदायों तथा दर्शनों में लोक-परलोक तथा पुनर्जन्म की चर्चा की गयी है। *कठोपनिषद्* तथा *श्रीमद्भगवद्गीता* के बीज प्रश्न भी यही हैं। अन्यान्य उपनिषदों-पुराणों और दर्शन-ग्रंथों में भी इस विषय पर विचार हुआ है। वस्तुतः जीवन और मृत्यु, पुनर्जन्म तथा परलोक-संबंधी संवाद के बिना अध्यात्म विमर्श हो ही नहीं सकता।

मनुष्य मृत्यु से घबराता है। इसके बारे में सोचने से कतराता है क्योंकि वह मृत्यु ही है जो प्राणी के अस्तित्व को ही मिटा देती है, उसे वर्तमान से भूत में बदल देती है। इसलिये मृत्यु हमेशा से दार्शनिकों और धर्म-ग्रन्थों के पाले में रही। रघुकुलभूषण मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने अपने गुरु वशिष्ठ से पूछा था "मृत्यु क्या है?" गुरु वशिष्ठ ने भगवान श्रीराम से प्रतिप्रश्न किया — अगर तुम शैय्या पर लेटे हो और छत से साँप लटकता नजर आये तो तुम क्या करोगे? भगवान श्रीराम ने कहा — हम वहाँ से भाग जायेंगे। वशिष्ठ ने कहा तो बस मृत्यु भी यही है। इससे बचो, भाग निकलो। भगवान श्रीकृष्ण ने *गीता* में मृत्यु की विशद एवं गंभीर व्याख्या की है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यानि संयाति नवानि देही ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

जीवन और मृत्यु एक चक्र है, यह जीवन की निरंतरता है क्योंकि आत्मा अमर है। यह कभी नहीं मरती। किसी भी कारण से नहीं, बस चोला बदल लेती है। नचिकेतों तो चल पड़ा था,

साक्षात् यमराज से ही मृत्यु का रहस्य जानने के लिये —

येयं प्रेते विचित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीत चैक ।

तद्विद्यामनुशिष्टस्तत्वयाहं वाराणामेष वस्तुतीयः ॥

गीता का द्वितीय अध्याय कठोपनिषद् पर आधारित है। दोनों में “नायं हन्ति न हन्यते” इत्यादि कई सिद्धांत-वाक्य समान रूप से उपलब्ध होते हैं, यह बात विद्वानों को विदित है।

शास्त्रकारों ने जीवन और मृत्यु के इस चक्र को अलग-अलग रूपों में परिभाषित किया है। ज्योतिष जहाँ काल के भोगों को मृत्यु मानता है वहीं वेदांत आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हुए मृत्यु को देहांतर कहता है।

मानव शरीर पंचमहाभूत — पृथ्वी, जल, पावक, गगन, समीर; पंचकर्मेन्द्रिय — हाथ, पैर, गुदा, लिंग, जिह्वा; पंचज्ञानेन्द्रिय — श्रोत्र, चक्षु, रसना, त्वक, घ्राण; पञ्चप्राण — प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान; अंतःकरण चतुष्टय — मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और सत्त्व, रजस्, तम एवं आत्मा 27 तत्त्वों से घिरा है, जिसे स्थूल शरीर कहते हैं। स्थूल पंचमहाभूत और स्थूल पंचकर्मेन्द्रिय इन दस तत्त्वों के अतिरिक्त जो शेष 17 तत्त्व बचते हैं, उतने संघात व सूक्ष्म पंचभौतिक — यह सूक्ष्म शरीर है। मृत्यु का अर्थ है स्थूल पंचकर्मेन्द्रिय युक्त शरीर से प्राण का संयोग न होना, क्योंकि कर्म योग के लिये होता है, अतः मृत्यु से प्राणी का सर्वनाश नहीं हो जाता अपितु पूर्वोक्त दस तत्त्वों का कर्माशय समाप्त होने से निवृत्ति मात्र हो जाती है।

सत्ताईस तत्त्वों से आवेष्टित इस प्राकृतिक शरीर की शुद्धि के लिए षोडस संस्कारों का विधान है जो जन्म से लेकर मृत्यु के बाद तक सम्पन्न किये जाते हैं। संस्कृत साहित्य में संस्कार को विविध रूपों में परिभाषित किया जाता है। परन्तु ऋग्वेद से लेकर आधुनिक साहित्य तक में शरीर की शुद्धि को प्रमुखता दी गयी है। इनसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है। सनातन (हिन्दू) धर्मशास्त्र के अनुसार षोडस मुख्य संस्कार हैं — गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण (नामधेय), निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन (यज्ञोपवीत), वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। सोलह संस्कारों में से चौदह संस्कार माता-पिता एवं गुरु द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं। जीवन सातत्य को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले शेष दो संस्कार विवाह (पाणिग्रहण) स्वयं व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होता है, तथा अंतिम संस्कार पुत्र के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

सनातन धर्म के अनुसार मृत्यु-संस्कार अंतिम संस्कार है। इसे सम्पन्न करने के लिये अनेक नियमों का विधान किया गया है। मृत्यु के प्रारम्भिक लक्षण स्पष्ट होने के साथ ही अंतिम संस्कार की तैयारियाँ आरम्भ हो जाती हैं। इसमें सनातन (हिन्दू) धर्मशास्त्र एवं

लोकाचार दोनों विधियों का पालन किया जाता है। जब मरणासन्न व्यक्ति के परिजनों को उसकी मृत्यु के आसन्न होने का पूर्ण विश्वास हो जाता है, तभी से मृत्यु का कर्मकाण्ड आरम्भ हो जाता है। यह कर्मकाण्ड मुख्यतः तीन चरणों में सम्पादित होता है - पूर्वा, मध्यमा एवं उत्तरा। मृत्यु-संस्कार को सम्पादित करने वाले को "कर्ता" कहते हैं। धार्मिक मतानुसार जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् "पुम" नाम के नरक में चली जाती है, जो इस नरक से त्राण दिलाने में सहायक होता है उसे ही पुत्र कहते हैं। "पुम नाम नरकायतेत ते पुत्रः।" इसलिये कहा गया है कि "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" अर्थात् जिसे पुत्र नहीं है उसकी मुक्ति नहीं है। इसलिये *विष्णु पुराण* के अनुसार मृत्यु का कर्मकाण्ड करने वाला अधिकारी व्यक्ति-पुत्र, प्रपौत्र अथवा भ्राता की संतान पुत्रवत् यह कर्मकाण्ड कर सकते हैं। *शंखवचनानुसार* "पुत्रभावे पत्नीस्यात् तद्भावे च सहोदरः तद्भावे भ्रातिः भ्राता तद्भावे भ्रात्री संततिः" अर्थात् पुत्र के अभाव में यह कर्मकाण्ड पत्नी द्वारा, पत्नी के न रहने पर सगे भाई द्वारा, उसके न रहने पर चचेरे भाई द्वारा, उसके भी न रहने पर भाइयों की संतान द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। याज्ञवल्क्य के मतानुसार "तत्समः पुत्रिका पुत्रः" अर्थात् दौहित्र (पुत्री का पुत्र) भी इस कर्मकाण्ड को सम्पादित कर सकता है। लेकिन जो व्यक्ति इस कर्मकाण्ड को सम्पन्न करेगा वह उस समय पुत्रवत् ही होगा। इस प्रकार "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" स्वयं खंडित हो जाता है।

पूर्वा क्रिया

यह क्रिया मृत्युकाल से प्रारम्भ होकर दस दिनों तक रात्रिपर्यन्त चलती है -

1. वैतरणीदान - सनातन (हिन्दू) शास्त्रों के अनुसार यमलोक के द्वार पर वैतरणी नदी प्रवाहित होती है जिसे प्रायः काली गाय ही पार कर सकती है। वैतरणी को सरलता से पार करने के उद्देश्य से कर्ता मृत्यु को प्राप्त हो रहे व्यक्ति के हाथों में काली गाय की पूँछ का स्पर्श कराकर गोदान की क्रिया को सम्पन्न करता है।
2. भूमियोग - धार्मिक मान्यतानुसार मनुष्य को अंतिम समय में माया-मोह से मुक्त होकर शरीर का परित्याग करना चाहिए। इसके प्रतीक स्वरूप अंतिम समय में परिजन शरीर का परित्याग करने वाले को खुले आकाश के नीचे बंधन रहित परिवेश में भूमि पर लिटा देते हैं। इसका उद्देश्य शरीर त्याग करने वाले को उसके संज्ञान में ही माया-मोह रहित हो जाने की प्रतीति कराना है।

मृतम शरीरम् उत्श्रज काष्ठ लोष्ट समच्छितै।

विमुखा बांधवा यन्ति धर्म तत्र गच्छति।।

मृत्यु के उपरांत जीवात्मा मृत शरीर को लकड़ी और लौह के समान पृथ्वी पर छोड़कर चली जाती है। बिछुड़े हुए बंधु-बांधव कुछ दूर जाकर वापस आ जाते हैं,

मात्र धर्म ही आगे साथ जाता है।

मिथिला में मृत्यु के समय भूमियोग का विशेष माहात्म्य है। ऐसा लोक-विश्वास है कि देवी सीता के अनुरोध पर भगवान श्रीराम ने सीता की विदाई के समय यह वरदान दिया कि मिथिला की इस परम पावन भूमि पर मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु जो कोई भी अपने शरीर का त्याग करेगा वह सीधे बैकुण्ठ लोक को प्राप्त होगा। अतः आज भी देहावसान के समय परिजनों द्वारा मृतक को भूमि पर लिटा दिये जाने की परम्परा यथावत् है।

3. शव-यात्रा — इसे अंतिम यात्रा के नाम से संबोधित किया जाता है। मृत्यु के उपरांत मृतक के शरीर को स्नान कराकर सुगन्धित द्रव्य चन्दन आदि का लेप लगाकर नवीन वस्त्र धारण कराया जाता है। यदि मृतक सौभाग्यवती स्त्री होती है तो उसका दुल्हन की तरह सोलहों शृंगार किया जाता है। तत्पश्चात् उसे अपने वंश परम्परानुसार निर्मित खटिया, बाँस की सीढ़ी, पलंग अथवा पटरे पर लिटाकर कम-से-कम चार व्यक्ति कंधे पर उठाते हैं और बोलो हरि-हरि बोल, श्रीराम अथवा रामनाम सत्य है आदि परम पावन नामों का उद्घोष करते हुए शव को श्मशान तक ले जाते हैं। शवयात्रा का नेतृत्व मृतक का ज्येष्ठ पुत्र या प्रमुख शोकार्त संबंधी करता है। शव-यात्रा का नेतृत्व करने वाला व्यक्ति अपने हाथ में जलती हुई लकड़ी लिये रहता है जिसे वह गार्हपत्य अग्नि से प्रदीप्त करता है। उसके पीछे अर्थां रहती है, जिसका अनुसरण मृतक के संबंधी और बंधु-बंधव करते हैं। गृह्य-सूत्रों के अनुसार दो वर्ष से अधिक आयु के सभी सपिण्डों को शव के साथ श्मशान तक जाना चाहिए। शव-यात्रा में सम्मिलित होने वालों का स्थान-क्रम उनकी आयु के अनुसार होता है, अर्थात् वयोवृद्ध आगे-आगे चलते हैं अन्य लोग पीछे। प्राचीन काल में अग्निहोत्र की प्रथा प्रचलित थी जिसकी झलक अंतिम यात्रा के समय आज भी देखने को मिलती है। अग्निहोत्र ब्राह्मण की अग्नि उनके उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत) के समय आचार्य द्वारा प्रज्वलित करायी जाती थी। अग्निहोत्र ब्राह्मण इस अग्नि को जीवन-पर्यन्त प्रज्वलित रखते थे और मृत्यु होने पर उनके कर्ता पुत्र शव-यात्रा में इसी अग्नि को साथ ले जाते थे एवं इसी अग्नि से शवदाह करते थे। आज भी भारतीय समाज की अनेक जातियों में शव-यात्रा के दौरान गृह से अग्नि ले जाने का विधान मिलता है। शव-यात्रा आरम्भ होते समय उसका अग्रणी एक मंत्र की आवृत्ति करता है जिसका भावार्थ है — “पुषा जो मार्ग को भली-भाँति जानता है, तुम्हें ले जाने के लिये जिसके उत्तम प्रशिक्षित पशु हैं, और जो लोक का रक्षक है, वह तुम्हें यहाँ से ले जा रहा है, वह तुम्हें पितृलोक में स्थानान्तरित कर दे। अग्नि जो यह जानता है कि तुम्हारे लिये क्या उचित है, यहाँ से ले जाये।”

4. दाह-संस्कार – जातीय तथा लौकिक परम्परा एवं संस्कृति के अनुसार शव-यात्रा के मार्ग में पिण्डदान करते हुए शव को श्मशान भूमि तक लाया जाता है। श्मशान भूमि पहुँचने के पश्चात् सर्वप्रथम चिता की स्थापना के लिये उपयुक्त स्थान का चयन किया जाता है। श्मशान भूमि के निकट अस्थि विसर्जन हेतु किसी नदी के न होने पर चयनित स्थान पर विशेष आकार का गड्ढा बनाने की प्रथा भी प्रचलित है जिससे कि दाह-संस्कार के पश्चात् अस्थि संचय के कार्य में सुविधा हो। शवदाह के पूर्व श्मशान-भूमि में की जाने वाली क्रियाओं का उल्लेख आरण्यकों में नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि आरम्भ में दाह-क्रियाएं मंत्रों के बिना ही की जाती थीं। किन्तु गृह्य-सूत्र इस विषय में, विशेषतः चिता स्थापना के विषय में निश्चित नियमों का विधान करते हैं। स्थान के चुनाव के विषय में निर्दिष्ट नियम देवताओं को बलि देने के स्थान संबंधी नियमों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार विधिवत् चुना हुआ स्थान- शुद्ध किया जाता है और भूत-प्रेत के निवारण के लिये मंत्र पाठ किया जाता है। आश्वलायन के अनुसार गड्ढा बारह अंगुल गहरा, पाँच बिता चौड़ा, शव की लम्बाई (हाथों को पार्श्व में खोल देने पर अनुमानित लम्बाई) जितना लम्बा होना चाहिए। प्रयोग में आने वाले ईंधन के प्रकार, चिता की माप तथा निर्माण और अन्य संबद्ध नियम धार्मिक ग्रंथों द्वारा निर्धारित हैं। शोकार्त संबंधियों आदि के स्वेच्छाचार के लिये कोई अवकाश नहीं छोड़ा गया है। दाह-संस्कार में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या विषम होती है। श्मशान में विषम संख्यात्मक मात्रा में लकड़ी से चिता निर्मित कर उस पर शव को लिटाया जाता है। तत्पश्चात् कर्ता वैदिक मंत्रोच्चारण के बीच परम्परानुसार तीन, पाँच अथवा सात बार शव की परिक्रमा करके शव को मुखान्नि देता है। मृतक के वर्णानुसार ब्राह्मण के हाथ में एक स्वर्ण-पिण्ड, क्षत्रिय के हाथ में धनुष और वैश्य के हाथ में मणि होनी चाहिए। जब शव जलकर “कपोत” प्रमाण मात्र शेष रह जाता है तब कर्ता मिट्टी के घड़े में जल लाकर चिता को शांत करता है। तत्पश्चात् सभी बंधु-बांधव स्नान करने जाते हैं और मृतक के साथ प्रेत शब्द जोड़कर उसे तिलांजलि देते हैं। इसके साथ ही मृतक के साथ सभी संबंधियों का लौकिक संबंध समाप्त मान लिया जाता है। तत्पश्चात् सभी लोग गृह को लौट आते हैं। मैथिल परम्परा में स्नान करने के पश्चात् गृह आने पर सभी लोग अग्नि, जल, लौह, पत्थर का स्पर्श करते हैं तथा मिर्च को मुख से स्पर्श करते हैं। इस प्रकार भारत के विभिन्न कुल, वंश, जाति एवं जनपदों में शवदाह की अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परा है।
5. एकल अग्नि संस्कार – जब पति-पत्नी की मृत्यु संयोगवश एक साथ हो जाती है तो उनका दाह-संस्कार एक ही चिता पर लिटाकर किया जाता है।
6. जल-समाधि – संन्यासी तथा महामारी एवं सर्पदंश से मरने वाले लोगों के शव

को नदी के जल में विसर्जित कर देते हैं, इसे जल-समाधि के नाम से संबोधित किया जाता है।

7. भू-समाधि – भारतीय परम्परानुसार पाँच वर्ष तक के बच्चों तथा प्रवाहित नदी समीप न होने पर साधु-संन्यासियों एवं महामारी में मरने वालों के शव को भू-समाधि दे दी जाती है।
8. पर्णनर दाह – कभी-कभी किसी परिस्थितिविशेषवश मृतक का शरीर दाह करने योग्य अवस्था में प्राप्त नहीं होता, मृतक की मात्र अस्थियाँ ही उपलब्ध होती हैं। ऐसी स्थिति में अस्थियों पर घी छिड़ककर तथा वस्त्र से उसे ढककर सामान्य रीति से ही दाह-संस्कार करना चाहिए। किन्तु यदि अस्थियाँ भी उपलब्ध न हों अथवा व्यक्ति के बारे में बहुत दिनों तक कोई सूचना न प्राप्त हो तो पलाश अथवा टेसू के तीन सौ आठ पत्तों से विधिपूर्वक पुतला (पर्णनर) बनाकर दाह-संस्कार करना चाहिए। इसका उल्लेख *आदि पुराण* में मिलता है। गृह्य परिशिष्ट में आश्वलायन के कथनानुसार सिर के लिये चालीस, गर्दन के लिये दस, दोनों बाँहों के लिये सौ, अंगुलियों तथा छाती के लिये तीस, पेट के लिये बत्तीस, ज्ञानेन्द्रियों के लिये चार, अण्डकोश के लिये छः, दोनों जाँघों के लिये सौ, घुटने के जोड़ के ऊपरी भाग के लिये तीस तथा पैर की अंगुलियों के लिये दस पत्ते लेने का विधान है। पत्तों को चित्तीदार हिरण की चमड़ी में लपेटकर ऊन के धागे से बाँध देना चाहिए फिर अच्छी तरह पीसे हुए जौ के आटे का पानी में लेप बनाकर उस पर चढ़ा देना चाहिए। इस प्रकार विधिवत निर्मित पर्णनर का दाह-संस्कार कर देना चाहिए। ब्राह्मणादि वर्णों के पर्णनर का दाह-संस्कार अशौच के भीतर ही क्रमशः आठवें, दसवें, तेरहवें, और अट्ठाईसवें दिन करना चाहिए। परदेश में गये हुए व्यक्ति के बारे में यदि पंद्रह वर्ष से ऊपर तक कोई सूचना न मिले तो इसी विधि से उसका संस्कार करना चाहिए। संस्कार की तिथि के निर्धारण के लिये जिस महीने की जिस तिथि को वह व्यक्ति गृह से बाहर निकला हो उसी तिथि में, यदि तिथि याद न हो तो उस मास की अमावस्या को, यदि मास भी स्मरण न रहे तो आषाढ़ की अमावस्या में यह क्रिया करनी चाहिए।
9. अशौच – मृतक व्यक्ति के ग्रामजनों, जीवित संबंधियों तथा कुल के सभी लोगों को एक निश्चित अवधि तक अशौच का पालन करना होता है। इस अवधि में उनके लिये कोई भी शुभ-अशुभ धार्मिक अथवा सामाजिक कार्य करना निषिद्ध होता है। इस निषेध के कारण का किसी भी ग्रंथ में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसके मूल में चाहे जो भी धार्मिक, भावनात्मक कारण अथवा धारणा रही हो पर अनुमानतः कहा जा सकता है कि इसका प्रचलन किसी सीमा तक शव की संक्रामक प्रकृति के कारण

ही हुआ होगा। शव का स्पर्श प्रायः सभी प्रदेशों में वर्जित माना जाता है और इसमें अत्यधिक सावधानी बरती जाती है। अशौच का काल और प्रभाव क्षेत्र मृतक की जाति, आयु और लिंग के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। गृह्य-सूत्र अशौच की साधारण अवधि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिये दस दिन और वैश्य तथा शूद्र के लिये क्रमशः पंद्रह दिन तथा एक मास बताते हैं। पाराशर-स्मृति के अनुसार अग्निहोत्र एवं वेद का स्वाध्याय करने वाला ब्राह्मण एक दिन में, मात्र वेद का स्वाध्याय करने वाला तीन दिन में तथा दोनों की उपेक्षा करने वाला दस दिनों में शुद्ध हो जाता है। बालक की मृत्यु से अल्प अशौच होता है। दो वर्ष से कम आयु के बालक की मृत्यु से मात्र माता-पिता को ही एक या तीन रात्रि का अशौच होता है। दाँत निकल आने तथा चूड़ाकरण संस्कार होने के पश्चात् मृत्यु होने पर समस्त बांधव अशुद्ध हो जाते हैं। नामकरण के पूर्व मृत्यु पर कोई अशौच नहीं होता।

गृह्य-सूत्र स्त्री-पुरुष के लिये अलग-अलग अशौच की अवधि की कोई व्यवस्था नहीं देते परन्तु स्मृतियों में इसका उल्लेख मिलता है। कन्या विवाह से पूर्व शिशुवत मानी जाती है और उसकी मृत्यु से तीन दिनों का अशौच होता है। चूड़ाकरण से पूर्व मृत्यु हो जाने पर अशौच एक दिन का होता है। पिता की मृत्यु माता के पूर्व होने पर पिता की मृत्यु के अशौच के साथ ही माता की मृत्यु का अशौच समाप्त हो जाता है। परन्तु माता की मृत्यु पहले हो जाने पर अशौच पिता की मृत्यु के समय से आरम्भ होता है।

गृह्यसूत्रानुसार कुलपुरोहित, स्वसुर, वैवाहिक संबंधी तथा भानजों की मृत्यु होने पर अशौच व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु धर्मसूत्र और स्मृतियों में इसे अनिवार्य कहा गया है। अशौच की अवधि मृतक से संबंध की निकटता के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है।

10. अस्थि संचय – सनातन धर्म और संस्कृति में प्रचलित मृत्यु के कर्मकाण्डों में दाह-संस्कार के बाद अस्थि संचय करने की परम्परा है। वस्तुतः यह एक आदिम प्रथा को संरक्षित करने का प्रयास है। सूत्रकाल में शव का दाह कर देने के बाद प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिये अस्थि अवशेषों के संचयन और "निखात" की परम्परा आरम्भ हो गयी थी। आश्वलायन के अनुसार यह क्रिया मृत्यु के तेरहवें या पंद्रहवें दिन करनी चाहिए, जबकि बौधायन इसका विधान दाह के दिन से तीसरे, पाँचवें अथवा सातवें दिन करते हैं। इस क्रिया में सर्वप्रथम चिता को दूध और जल से सिंचित करना चाहिए तत्पश्चात् अस्थियों को पृथक् करने के लिये औदुम्बर या गूलर की लकड़ी से उन्हें हटाना चाहिए। यह क्रिया मंत्रोच्चारण के साथ करनी चाहिए। तैत्तिरियों में वर्णित व्यवस्था के अनुसार अस्थि संचयन का अधिकार मृतक की पहली

पत्नी को था। बौधायन ने इस क्रिया हेतु एक मंत्र का उल्लेख किया है जिसका अभिप्राय है — “यहाँ से उठो और नवीन स्वरूप धारण करो, अपने देह के किसी भी अवयव को न छोड़ो। तुम किसी भी लोक को जाना चाहो, जाओ। सविता तुम्हें स्थापित करें, यह तुम्हारी एक अस्थि है, तुम ऐश्वर्य में तृतीय से युक्त हो, सम्पूर्ण अस्थियों से युक्त होकर सुन्दर बनो, तुम देवों के लिये प्रिय बनो।”

इस श्लोक में अस्थि संचयन का प्रयोजन स्पष्ट हुआ है। तत्कालीन प्रथानुसार अस्थियों का प्रक्षालन कर एक पात्र में रख शमी वृक्ष की शाखा से लटका दिया जाता था। आश्वलायन स्त्रियों के लिये छिद्रयुक्त पात्र तथा पुरुषों के लिये बिना छिद्र के पात्र का विधान करते हैं। सूत्र-युग के बाद इस पद्धति में आमूल परिवर्तन हो गया। नदियों की पवित्रता बढ़ गयी। दाह-संस्कार सामान्यतः नदियों के तट पर होने लगे। इसी क्रम में वर्तमान में दाह-क्रिया करने वाला व्यक्ति दाह के तत्काल पश्चात् अवशेषों को जल में प्रवाहित कर देता है अथवा किसी एकांत ऊसर में डाल देता है।

11. श्मशान — पितृमेध या श्मशान अर्थात् मृतक के अवशेषों पर समाधि निर्माण करना भी अन्त्येष्टि-संस्कार के अन्तर्गत माना जाता है। वर्तमान में ईसाई एवं इस्लाम धर्म में मृतक के शरीर पर सामर्थ्यानुसार समाधि अथवा मकबरे का निर्माण करने की परम्परा है। समाधि निर्माण का उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। परन्तु यह इस प्रथा के अप्रचलित होने का प्रमाण नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्ड के प्रमुख ग्रन्थ “ब्राह्मण” में इसका विवरण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है। समकालीन सभी गृह्य-सूत्रों में इसका उल्लेख न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि समाधि निर्माण की प्रथा सभी स्थानों में प्रचलित नहीं थी। शास्त्रकारों ने यह सम्मान महान् सिद्ध महात्माओं तथा संन्यासियों के लिये विशेष रूप से सुरक्षित किया है। आधुनिक हिन्दू समाज में यह परम्परा सामान्यतः लुप्त है।

समाधि निर्माण किसके लिये, किस समय तथा किस स्थान पर की जाए, इन विषयों पर अनेक मतभेद हैं। मृत्यु के पश्चात् वर्ष के ऋतु, अधिष्ठाता नक्षत्र, इत्यादि को ध्यान में रखा जाता है। इनमें भी शुक्ल पक्ष प्रतिपदा को प्रधान माना गया है।

समाधि निर्माण के लिये स्थान का चुनाव कर एक दिन पूर्व कुछ पौधे लगा दिये जाते हैं। पौधे से उत्तर दिशा में भूमि खोद देते हैं तथा निकली हुई मिट्टी से 600 से लेकर 2400 तक ईंटें बनायी जाती हैं। भस्मावशेष का पात्र भूमि पर पलाश की तीन टहनियों के बीच रख उस पर एक झोंपड़ी का निर्माण कर दिया जाता है। वाद्ययंत्रों

की ध्वनि के साथ उपस्थित व्यक्ति उस स्थान की प्रदक्षिणा करते हैं। भिन्न सम्प्रदायों में इस पद्धति में भेद पाये जाते हैं।

इस प्रकार निर्मित रचना मृत्यु का प्रतीक समझी जाती है और जीवलोक को मृत्युलोक से पृथक् करने के लिये मंत्रोच्चारण करते हुए मिट्टी के ढेरों, पथरों और वृक्षों की शाखाओं से सीमा रेखा बना दी जाती है।

अन्त्येष्टि-क्रियाएँ पुनः-पुनः दुहरायी जाने तथा विस्तृत होने पर भी अत्यन्त साधारण हैं। साधारणतया धर्म के किसी भी क्षेत्र में आदिम आस्था इतने ज्वलन्त रूप में विद्यमान नहीं है जितना अन्त्येष्टि-क्रियाओं में है। परलोक इस लोक का दूसरा प्रतिरूप है और मृतक की आवश्यकताएँ भी वे ही हैं जो जीवित व्यक्ति की होती हैं। मृतक संस्कार की सभी क्रियाओं में मृत व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओं के लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिये इच्छा का बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति की प्रार्थनाएँ बहुत कम हैं। उसका उदय कर्मकाण्ड के विकास की नवीनतम शृंखला में जाकर ही हो सका। संपूर्ण संस्कार प्रायः आदिम प्रकार का है और वह अत्यंत सुदूर अतीत में उद्भूत विश्वास की सूचना देता है। आदिम विश्वासों और पद्धतियों के साथ-साथ इस संस्कार में इहलौकिक परिष्कार और पारलौकिक परमार्थ के कतिपय तत्त्व वर्तमान हैं। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक स्वच्छता और स्वास्थ्य का इसमें पूरा प्रावधान है। वियोग से उत्पन्न शोक को दूर करने के लिये इसमें विविध उपाय किए गए हैं। प्रेतात्मा के ऊर्ध्वगमन और आध्यात्मिक कल्याण के लिये इसमें पर्याप्त संकेत मिलते हैं।

12. दशगात्र श्राद्धकर्म – इसे दशगात्र पिण्डदान भी कहते हैं। लौकिक-परम्परानुसार मृत्यु अथवा दाह-संस्कार के दिन से कर्ता मृतक के अंगपूर्णार्थ दस दिन तक, प्रतिदिन एक पिण्ड के हिसाब से दस पिण्ड का दान करता है। ये दस पिण्ड क्रमशः सिरःपूरक, कर्णाक्षिकम्य, नासिकापूरक, मोसभुजपक्षपूरक, नाभि, लिंग, गुदापूरक, जानुजंघापादणुपूरक, सर्वमर्मपूरक, सर्वनादिपूरक, दन्त लोभादिपूरक, वीर्यपूरक एवं पूर्णतत्त्वत्रिप्तक्षुदीयपर्ययपूरक होते हैं।

भविष्यपुराणानुसार –

गृहद्वारे श्मशाने वा तीर्थं देवगृहेपि वा।

यत्राद्ये दीयते पिण्डस्त्र सर्व समाचरेत्।।

अर्थात् पिण्डदान घर के दरवाजे पर, श्मशान में, तीर्थ में अथवा देव मंदिर में करना चाहिए। आश्वलायन के अनुसार—

असगोत्रः सगोत्रो वा यदि वा स्त्री यदि वा पुमान् ।
प्रथमेहनि यो दद्यात् दशाहं दशगात्रं समापयेत् ॥

उपरोक्त वचनानुसार जो व्यक्ति प्रथम पिण्डदान करता है उसे दस पिण्ड दान करने पड़ते हैं। यदि किसी कारणवश अधिकारी कर्ता के स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति दाह-संस्कार करता है तो उसे दस पिण्ड देना अनिवार्य है, साथ ही वास्तविक श्राद्धाधिकारी कर्ता को भी दसवें दिन दस पिण्ड देने होते हैं। पिण्ड-दान काल में पिण्ड-शेषान्न को पिण्ड के चारों ओर बिखेर दिया जाता है। ऐसी पौराणिक मान्यता है कि मृतक जो प्रेत रूप में होता है श्राद्धपर्यन्त इसी पिण्ड-शेषान्न को ग्रहण करता है।

13. पंचनख अथवा क्षौरकर्म — लौकिक परम्परानुसार मृतक के अथवा दाह-संस्कार के दसवें दिन कर्ता सहित एक वंश के सभी लोग पंचनख अथवा क्षौरकर्म कराते हैं। पंचनख का आशय बाल, मूँछ, दाढ़ी, हाथों एवं पैरों के नाखूनों को कटवाने से है। क्षौरकर्म के जिये कुल, परिवार के लोग जो अशौच में होते हैं, तथा परिवार के शुभेच्छुगण भले ही वे किसी भी जाति एवं धर्म के हों सभी एक स्थान पर एकत्र होते हैं। क्षौरकर्म के उपरांत ये लोग कर्ता के साथ स्नान करते हैं। विवाहित कन्या तथा विगोत्री तीसरे दिन ही पंचनख कटवाते हैं। दसवें दिन सूर्यास्त के बाद श्राद्ध कर्ता को छोड़कर शेष सभी सगोत्र बांधव अशौच से मुक्त होकर पवित्र हो जाते हैं।

मध्यमा क्रिया

दशगात्र के पश्चात् सपिण्डीकरण तक के श्राद्ध कर्म को मध्यमा क्रिया के अंतर्गत रखा गया है —

1. एकादशाह श्राद्धकर्म — शास्त्रों के अनुसार ग्यारहवें दिन षोडशी श्राद्ध का प्रमुख श्राद्ध जिसे आद्य श्राद्ध कहते हैं, सम्पादित कराया जाता है। यदि मृतक की मृत्यु असामयिक अथवा किसी दुर्घटनावश होती है तो उसकी शांति के लिये नारायणबलि श्राद्धकर्म किया जाता है। मिथिला में नारायणबलि के स्थान पर एकादशाह श्राद्ध कर्म के पूर्व शैय्यादान, कांचन पुरुष, गोदान, छत्रदान, उपानहदान (जूतादान) ये पंचदान किये जाते हैं।
2. वृषोत्सर्ग श्राद्धकर्म — कुछ लोग एकादशाह श्राद्धकर्म के साथ वृषोत्सर्ग श्राद्ध भी करते हैं। इस विशेष श्राद्ध के पूर्व महाब्राह्मण की पत्नी का पूजन किया जाता है, तत्पश्चात् एक बछड़े को चक्र से दागकर चार बछियों के साथ साँड़ बनने के लिये छोड़ दिया जाता है। सनातन (हिन्दू) धर्मशास्त्रों के अनुसार सधवा स्त्री के श्राद्ध में वृषोत्सर्ग श्राद्ध का निषेध किया गया है।
3. सामान्योत्सर्ग अथवा वस्तुदान — हिन्दू लौकिक परम्परानुसार दाहकर्म के ग्यारहवें अथवा तेरहवें दिन मृतक की स्वर्ग प्राप्ति की कामना से ब्राह्मण को घरेलू

उपयोग की वस्तुएँ यथा बर्तन, वस्त्र, गृह, वृक्ष (फलदार), भूमि, वर्ष भोजन, इत्यादि वस्तुएँ दान में दी जाती हैं।

4. द्वादशाह श्राद्धकर्म – मृत्यु के पश्चात् बारहवें दिन का कर्मकांड द्वादशाह श्राद्धकर्म के नाम से संबोधित किया जाता है। यह कर्मकांड दो भागों में सम्पादित होता है – (अ) मासिक (ब) सपिण्डीकरण।

(अ) मासिक – सर्वप्रथम इस दिन षोडस श्राद्धांतर्गत चौदह मासिक श्राद्धकर्म किये जाते हैं। वर्ष के भीतर अधिमास होने पर चौदह के स्थान पर पंद्रह मासिक श्राद्धकर्म करने पड़ते हैं। प्राचीन काल में मृत्यु की तिथि पर ये श्राद्ध वर्षपर्यन्त प्रत्येक महीने किये जाते थे। वर्ष में जहाँ बारह महीने होते हैं वहीं मासिक श्राद्ध चौदह किये जाते हैं। ऐसी शास्त्रीय मान्यता है कि मृत्युलोक एवं बैकुण्ठ के बीच में छः-छः महीने पर दो पड़ाव आते हैं इसलिये मासिक श्राद्ध में षष्ठम एवं सप्तम मासिक को उनषानमासिक एवं पानमासिक और तेरहवें एवं चौदहवें मासिक को अवार्षिक एवं वार्षिक कहते हैं।

(ब) सपिण्डीकरण श्राद्धकर्म – ऐसी मान्यता है कि स्थूल शरीर का त्याग करने के पश्चात् जीवात्मा प्रेत योनि धारण करती है तथा इस योनि से मुक्ति पाये बिना वह पुनः नया शरीर धारण नहीं कर सकती। सपिण्डीकरण श्राद्ध के द्वारा जीवात्मा को इस प्रेतत्व से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस श्राद्ध में मृतक के पूर्व की तीन पीढ़ियों को सम्मिलित किया जाता है। इन तीन पीढ़ियों से ऊपर के पितरों को देवतुल्य माना जाता है, उनकी विश्वदेव के रूप में पूजा की जाती है। सर्वप्रथम मृतक तथा मृतक से तीन पीढ़ी पूर्व के पितरों हेतु पिण्ड बनाये जाते हैं। मृतक के पिण्ड को स्वर्ण, रजत अथवा कुश की शलाका से तीन खण्डों में विभाजित कर एक-एक खण्ड को क्रमशः शेष तीनों पिण्डों के साथ मिलाते हैं तत्पश्चात् इन सभी पिण्डों को एक साथ सम्मिलित कर देते हैं। इस क्रिया को “पिण्ड सम्मेलन” या “पितर मिलन” कहते हैं। पिण्ड सम्मेलन निम्नलिखित क्रमानुसार होता है –

1. मृतक पुरुष का पिता, पितामह एवं प्रपितामह के साथ।
2. मृतक पुरुष के पिता के जीवित रहने पर पितामह, प्रपितामह एवं वृद्ध-प्रपितामह के साथ।
3. सौभाग्यवती स्त्री का पति के कुल की स्त्री के साथ तीन पीढ़ियों तक।
4. विधवा स्त्री का पति एवं पति के पूर्व पुरुषों की दो पीढ़ियों के साथ।

पिण्ड-सम्मेलन के पश्चात् मृतक के नाम के साथ प्रेत शब्द का सम्बोधन नहीं किया जाता है।

उत्तर क्रिया

भारतीय संस्कृति में हिन्दू परम्परानुसार मृत्यु के कर्मकाण्ड की उत्तर क्रिया अत्यन्त वृहद्, व्यापक और विलक्षण है, जो किसी अन्य धर्म एवं सम्प्रदाय में नहीं दिखती। ये क्रियायें पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं। इनमें प्रमुख उत्तर क्रियायें निम्नलिखित हैं —

1. वार्षिक श्राद्धकर्म — यह श्राद्ध प्रत्येक वर्ष मृत्यु की तिथि पर किया जाता है। प्रथम वार्षिक श्राद्ध के पूर्व घर में कोई मांगलिक कार्य नहीं किये जाते हैं। इससे एक वर्ष का पारिवारिक शोक प्रदर्शित होता है। प्रत्येक वर्ष मृतक का वार्षिक श्राद्ध (एकोद्दिष्ट श्राद्ध) तब तक किया जाता है जब तक कि उसका कोई पुत्र जीवित है।
2. गया श्राद्धकर्म — पिता की मृत्यु के पश्चात् कर्ता परिवार के सभी सदस्यों की अनुमति लेकर अपने पूर्वजों का गया (भारत में बिहार प्रदेश का एक जिला तथा नगर) में श्राद्धकर्म करता है। गया श्राद्धकर्म एक दिन, तीन दिन, सात दिन, पन्द्रह दिन एवं तीस दिन की अवधि का होता है। श्राद्ध कर्ता उपरोक्त अवधि में से अपनी सुविधानुसार किसी एक अवधि का चयन करता है। मुख्य रूप से गया में चार स्थलों पर श्राद्धकर्म का विशेष माहात्म्य है। ये स्थल क्रमशः प्रेतशिला, फाल्गु नदी, विष्णुमंदिर और अक्षयवट हैं।

गया में ही श्राद्ध कर्ता एक पिण्ड विष्णु के हाथों में इस आशय से समर्पित करता है कि यदि किसी कारणवश उसका स्वयं का श्राद्ध न हो पाए तो उस समय यह पिण्ड उसे भगवान श्री विष्णु की ओर से वापस मिल जाए।

3. तीर्थ श्राद्ध — हिन्दू समाज का कोई व्यक्ति जब किसी तीर्थ स्थल की यात्रा करता है तो अपनी कौलिक परम्परानुसार उन तीर्थों में अपने मृत पितरों का पिण्डदान श्राद्ध करता है। तीर्थ श्राद्ध में ब्रह्मकपाली (बद्रीनाथ), प्रयाग एवं काशी के श्राद्ध का विशेष माहात्म्य है।
4. त्रिपिण्डी श्राद्ध — यह श्राद्ध उन मृतकों के उद्धार के निमित्त किया जाता है जो जन्म लेने से पूर्व नष्ट हो गये अथवा जन्म लेते ही मृत्यु को प्राप्त हो गये अथवा किसी कारणवश जिनका सामयिक श्राद्ध उचित विधि-विधान से न हो पाया हो।
5. पितृपक्ष श्राद्ध — सम्पूर्ण भारत में आश्विन माह के कृष्ण पक्ष को पितृपक्ष कहा जाता है। *विष्णु पुराण* के अनुसार सभी पितर इस अवधि में मृत्युलोक में आगमन करते हैं। पितृपक्ष की अवधि में कोई भी शुभ कार्य नहीं किया जाता। पक्ष भर लोग अपने

मृत पितरों का जल से तर्पण करते हैं और मृत पितरों के निमित्त उस तिथि में ब्राह्मण-भोज कराते हैं।

6. पार्वण श्राद्ध – यह श्राद्ध पितृपक्ष में मुख्य रूप से तीर्थ स्थलों पर किया जाता है। इसमें क्रम से द्वादश-दैवत-पार्वण श्राद्ध – पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, पितामही, प्रपितामही, मातामह, प्रमातामह, वृद्ध प्रपितामह, मातामही, प्रमातामही, वृद्ध-प्रमातामही के लिये श्राद्धकर्म किया जाता है। इसी प्रकार कुछ स्थानों पर षोडश-दैवत-पार्वण श्राद्ध का भी विधान है।
7. नन्दीमुख श्राद्ध – हिन्दू समाज में पाणिग्रहण (विवाह) एवं यज्ञोपवीत आदि पंरम पावन कार्यों से पूर्व मृत पितरों से आशीर्वाद प्राप्त करने का विधान है। ये श्राद्ध इसी उद्देश्य से किये जाते हैं। इस श्राद्ध का संकल्प लेने के उपरांत वंश में मृत्यु हो जाने पर भी यज्ञोपवीत एवं विवाह संस्कार नहीं रुकता है।

सनातन (हिन्दू) समाज में व्यक्ति पूजा-पाठ, दर्शन, तीर्थ अनुष्ठान जैसे धार्मिक कर्मों को अपने परिवार एवं स्वयं की समृद्धि एवं कल्याण के लिये करता है। जबकि दूसरी ओर मृत्यु के पश्चात् मृतक के पुत्रों द्वारा जो विभिन्न प्रकार के श्राद्ध किये जाते हैं वे सिर्फ पितरों की मुक्ति के लिये किया जाता है, जिनसे प्रायः वह मिला भी नहीं होता है। भारतीय समाज में मृत्यु के ये संस्कार वंश-परम्परा एवं पारिवारिक एकता का विर्लक्षण आधार प्रस्तुत करते हैं। दशगात्र श्राद्ध के दसवें दिन जब मृतक के परिजन क्षौर कराते हैं-उस समय सभी पुरुष सदस्यों के चेहरे तथा सिर केशविहीन होने के कारण, एक जैसे लगते हैं। उन्हें एक साथ देखकर ऐसा लगता है मानो शोक साक्षात् प्रकट हो गया है। लेकिन पारिवारिक एकता उस विपत्ति को भी आत्मसात कर लेती है। मृत्यु के पश्चात् बारह दिनों तक संवेदना प्रकट करने वाले, जो भिन्न-भिन्न जातियों के होते हैं, मृतक के परिजनों को धैर्य प्रदान करते हैं जो उसके शोक को शमित करता है।

श्राद्धकर्म के समय कर्ता जिस स्थान पर श्राद्ध करता है सर्वप्रथम उस स्थान के स्वामी के पूर्वजों को श्राद्धान्न अर्पित करता है, फिर अपने वंश के ऐसे मृतकों को जिनकी मृत्यु किसी दुर्घटनावश या अकाल मृत्यु हुई हो उन्हें श्राद्धान्न समर्पित करने के पश्चात् ही मृतक का श्राद्ध करता है। इस प्रकार इहलौकिक एवं पारलौकिक एकता मृत्यु के कर्मकाण्ड के द्वारा सिद्ध होती है।

पितरों से सम्बन्धित पर्व

- (1) मकर संक्रान्ति – इस पावन दिवस पर पितर प्रेतत्त्व से छूटे हुए पूर्वज के निमित्त तिल,चावल, दाल, कम्बल आदि वस्तुओं के दान का विधान है। अगहन महीने में धान की फसल तैयार होने पर लोग अन्न सर्वप्रथम अपने पितरों को अर्पित करना चाहते

हैं। माघ मास में नये चावल की खिचड़ी लोगों को प्रिय होने के कारण अपने पितरों को समर्पित करने के उपरांत ही स्वयं ग्रहण करते हैं।

- (2) मेष संक्रान्ति – इसे चैत्र माह की संक्रान्ति के नाम से संबोधित किया जाता है। इस पावन पर्व पर पितरों के निमित्त मिट्टी के घड़े में जल भरकर उसके साथ सत्तू, गुड़, बेल, ककड़ी एवं पंखा दान करने का विशेष माहात्म्य है। जौ, चना, आम का टिकोरा, बेल आदि वस्तुएँ अपने पितरों को अर्पित करने के पश्चात् ही स्वयं खाने की परम्परा है। गर्मी में लोगों को अपने लिये शीतल जल की आवश्यकता होती है इसीलिए वे अपने मृत पितरों के निमित्त भी घटदान करते हैं जिससे उन्हें शीतल जल प्राप्त हो सके। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी ब्राह्मण को छोड़कर अन्य जातियाँ जो घटदान करती हैं, प्रायः एक महीने तक दान किये हुए घड़े में नित्य जल भरकर दान प्राप्तकर्ता के घर सुबह-शाम पहुँचाया करती हैं। यहाँ पर दानकर्ता का यह दृढ़ विश्वास होता है, कि उसके द्वारा नित्य घड़े में भरकर दिया जाने वाला जल ब्राह्मण नहीं पीता अपितु उसके माध्यम से उनके (दानकर्ता के) पितर को प्राप्त होता है।
- (3) अक्षय तृतीया – वैशाख शुक्ल तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से संबोधित किया जाता है। इस परम पावन तिथि में व्यक्ति अपने पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को शर्बत पिलाते हैं एवं दक्षिणा, यज्ञोपवीत, पान-सुपारी, आदि देते हैं। ऐसी धार्मिक मान्यता है कि अक्षय तृतीया के दिन किये गये धार्मिक कार्यों का संचित पुण्य कभी नष्ट नहीं होता, वह युग-युगांतर तक अक्षय बना रहता है। शास्त्रीय मान्यतानुसार अक्षय तृतीया के दिन किये गये दान से अर्जित अक्षय पुण्य का फल, उन पितरों को प्राप्त होता है, जो किसी कारणवश स्वर्ग सुख पाने से वंचित रह गये होते हैं।

श्राद्धकर्म के द्वारा ही व्यक्ति मातृ-ऋण एवं पितृ-ऋण से मुक्त होता है। श्राद्धकर्म के दौरान कर्ता बारह दिनों तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है। उसका भोजन अत्यन्त सात्विक एवं नमक रहित होता है। कर्ता को कोई दूसरा व्यक्ति शरीर से स्पर्श इसलिये नहीं करता कि वह अपवित्र है, अपितु इसलिये कि वह अपने मृत माता या पिता को मोक्ष दिलाने का मार्ग प्रशस्त करने के परम पावन कृत्य में लगा होता है। इसलिये वह किसी दूसरे कार्य में भाग नहीं लेता है। परिवार के अन्य सदस्य भी इस कार्य में कर्ता की मदद करते हैं। दस दिनों तक मृतक के परिवार के सदस्य *गरुड़ पुराण* सुनते हैं जिसमें मृत्यु के पश्चात् आत्मा की यात्रा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

लौकिक जीवन में मृतक का संबंध अपने परिवार में ही कई अन्य सदस्यों से अच्छा नहीं होता परन्तु मृत्यु के पश्चात् जो नूतन संबंध बनता है उसमें सभी सदस्य मृतक को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। मरणोपरांत उसे देवतुल्य मानते हैं, क्योंकि उनका संबंध अब

अलौकिक होता है। देवता के पश्चात् सनातन हिन्दू समाज में पितर का ही स्थान होता है एवं अनेक शुभ कार्यों में उनका आह्वान किया जाता है एवं पूजा की जाती है।

मृत्यु के पश्चात् अन्त्येष्टि से लेकर श्राद्धकर्म तक विभिन्न जातियाँ एक-दूसरे की सहायता करती हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी ब्राह्मण की मृत्यु हुई है तो काशी में अग्नि डोम से ली जाती है। महाब्राह्मण अन्त्येष्टि कराता है, नाई पंचनख काटता है एवं बारह दिनों तक श्राद्धकर्म के दौरान महाब्राह्मण एवं कर्ता की सहायता पूरी श्रद्धा एवं लगन के साथ करता है। कुम्हार मिट्टी का बर्तन देता है, डोम बाँस का बर्तन देता है, बड़ई लकड़ी का सामान बनाकर देता है एवं सभी सेवा के बदले में पारितोषिक प्राप्त करते हैं। हिन्दू समाज में मृत्यु के कर्मकाण्ड एवं अन्य सामाजिक कार्यों में यजमानी व्यवस्था के द्वारा सभी जातियों के लोग एक-दूसरे से बंधे हुए हैं।

हिन्दू समाज मृत्यु को ही जीवन का अंत नहीं मानता बल्कि मृत्यु के बाद भी व्यक्ति अलौकिक रूप से पितर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रहता है। इस प्रकार गीता में वर्णित आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म का संदेश मृत्यु के प्रचलित कर्मकाण्ड द्वारा सिद्ध होती है। मृत्यु के कर्मकाण्ड की व्यापकता सनातन संस्कृति की एक अनुपम व्यवस्था है जो इसे अन्य धर्मों एवं संस्कृतियों से पृथक् करती है।

संदर्भ ग्रंथ

कठोपनिषद्।

कृत्यसारसमुच्चय, श्रीमदमरनाथ झा, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2000।

श्रीमद्भगवद्गीता।

गरुड़ पुराण।

Brahmanic Ritual Tradition, B.N. Saraswati, Indian Institute of Advanced Study, Simla, 1997.

Death In Banaras, Jonathan P. Parry, Cambridge University Press, 1994

हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1995।

श्राद्ध पारिजात, रुद्रदत्त पाठक, विष्णु प्रकाशन औरंगाबाद (बिहार) संवत्, 2057।

श्राद्ध पद्धति, पं. रामचन्द्र झा द्वारा सम्पादित, संस्कृत सीरिज चौखम्भा, वाराणसी।

खण्ड 3
मृत्यु और आधुनिक ज्ञान

मृत्यु की अवधारणा प्राचीन शास्त्र और आधुनिक ज्ञान

— भानुशंकर मेहता

भारत का महाकाव्य है *महाभारत* और इसके अंतर्गत कृष्ण-अर्जुन संवाद आता है जो *श्रीमद्भगवद्गीता* के नाम से विख्यात है और सनातनधर्मियों के लिये "पवित्र ग्रंथ की" मान्यता प्राप्त है। यद्यपि *गीता* में बहुत कुछ है पर वर्तमान प्रसंग की दृष्टि से उसका आरंभ "मृत्यु" के प्रश्न से ही होता है। अर्जुन दोनों ही पक्ष की सेनाओं में खड़े अपने प्रियजनों को देखकर विषाद से भर जाता है और विचार करता है कि क्या मुझे इन्हें मार डालना है। वह अपनी मृत्यु से विचलित नहीं है पर दूसरों की मृत्यु नहीं चाहता। श्रीकृष्ण उसे समझाते हुए कहते हैं कि संसार का नियम है कि "जो जन्मा है वह मरेगा और मरने पर पुनः जन्म लेगा।" इस प्रकार श्रीकृष्ण भारतीय दर्शन की एक मान्यता स्थापित करते हैं — जन्म-मरण के चक्र की। वे यह भी स्थापित करते हैं कि देह में स्थित आत्मा नित्य सनातन है, शाश्वत् है और देह के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता। देह और आत्मा के संबंध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे हम पुराने कपड़े त्यागकर नये पहन लेते हैं वैसे ही आत्मा भी नया शरीर धारण करती है। अस्तु "मृत्यु" के लिये शोक करने की जरूरत नहीं है।

इसी महाकाव्य के शांति-पर्व में शरशय्या पर पड़े भीष्म पितामह के पास श्रीकृष्ण के साथ युधिष्ठिर आते हैं, और पितामह युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं। यहाँ व्यास ने कहा है कि मृत्यु एक व्यक्ति है, अत्यंत रमणीय और सम्मोहक। वास्तव में वह (मृत्यु) एक कमनीय और रमणीय युवती है। यह मृत्यु का अनूठा काव्य है।

आगे अनुशासन-पर्व में पितामह मृत्यु का कारण बताते हुए गौतमी की कथा सुनाते हैं। गौतमी के पुत्र को सर्प ने काट लिया। शिकारी अर्जुन सर्प को पकड़कर गौतमी के समक्ष लाता है। सर्प अपने बचाव में कहता है कि दोष मेरा नहीं मृत्यु का है — उसी के आदेश पर मैंने ऐसा किया। मृत्यु आकर कहती है — दोष मेरा नहीं है, मैं तो काल का आदेश पालन

कर रही थी और काल देवता का बयान है कि वे भी दोषी नहीं हैं, यह तो मृत बालक का कर्मफल था। सर्प, मृत्यु, काल सभी निमित्त मात्र हैं। गौतमी शिकारी से सर्प को मुक्त कर देने को कहती है। यह थी भारतीय दर्शन की मृत्यु-संबंधी धारणा।

“मृत्यु” एक रहस्य है जो आज भी समझा नहीं जा सका है। सर्वत्र एक मान्यता है कि “आया है सो जायेगा राजा रंक फकीर”। फिर भी मन नहीं मानता और प्रबुद्ध मनीषी लगातार उसका चिंतन करते रहते हैं। आदिम जाति के लोग भी “मृत्यु क्या है, क्यों होती है?” पर विचार करते थे तो अत्यंत आधुनिक विज्ञानी भी इसी प्रश्न से जूझ रहे हैं। और जब मृत्यु आती है तो दार्शनिक, वैज्ञानिक, ज्ञानी और पण्डित अवाक् हो खड़े रह जाते हैं। किसी का कोई बस नहीं चलता। आधुनिक विज्ञान ने बड़ी प्रगति की है, बहुत से रहस्य खुले हैं, जीवन की अवधि बढ़ी है, अकाल मृत्यु की घटनाएँ कम हुई हैं फिर भी मृत्यु कब, क्यों, कैसे आयेगी कोई नहीं जानता। इस असहायता का वर्णन महर्षि अरविन्द सावित्री में बड़े सूक्ष्म ढंग से करते हैं –

सावित्री के शब्दों में –

भान हुआ हम नहीं अकेले,
कोई आया है, चेतन, विशाल और दारुण
आयी है कोई मौन, अपरिचित छाया
कालिमा से उसकी बुझा है मध्याह्न का आलोक
चतुर्दिक छा गया है एक भयकारी सन्नाटा
मौन है पक्षी कलरव, मौन है पशुओं की चीत्कार
भर गया है जगत आतंक और वेदना की टीस से
और उस निराकार अनाम मौन से
प्रगटी, किसी निष्ठुर दूरवर्ती देवता की छाया
मायामय विश्वविलीन होता उसकी शून्य सत्ता में।

मृत्यु के आगमन की अनुभूति शायद कुछ ऐसी ही होती है। आदिम काल से मानव इस निर्मम नियति के विरुद्ध संघर्ष करता रहा है और यह केवल सोचने-समझने वाले प्राणी की समस्या है, मानवेतर प्राणी, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु, वृक्ष, पादप सभी सहज भाव से इसे स्वीकार कर लेते हैं। आदिम मानव “अज्ञात” से भयभीत था, उसका ज्ञान सीमित था। वह देखता था कि उसका साथी जो अभी बोल रहा था, सहसा चुप क्यों हो गया, सांस क्यों नहीं लेता, हिलता-डुलता क्यों नहीं? अपनी तर्कशक्ति से वह कहता है “शायद यह शत्रु ओझा की शरारत है या किसी अज्ञात देवता का कोप? शरीर में क्या था जो निकल गया?” अस्पष्ट रूप से वह “आत्मा” की चर्चा करता था। मृत्यु से बचने के लिये वह बलि देता, पूजा-पाठ करता, ओझा की सहायता लेता। “शव” को सुरक्षित करता, उसकी पूजा करता। उसका प्रश्न था क्या मृत्यु के बाद जीवन शेष होता है और मृत्यु आती क्यों है?

इन प्रश्नों में "आत्मा", "सोल", "रूह" को जन्म दिया। बिना आत्मा को समझे मृत्यु को समझना कठिन है। यह "आत्मा" आदमी को व्यक्तित्व तथा मानवता प्रदान करती है। यह आत्मा ही "स्व" है, मन है, प्राण है। और आगे यह भी माना गया कि आत्मा परमात्मा का अंश है और मृत्यु के बाद भी जीवित रहती है (जैसा *गीता* में कहा गया है)। विश्व भर में "आत्मा" के स्वरूप, उसका शरीर से संबंध, उसकी अमरता और उद्भव पर विचार किया गया है, सभी देशों में अपने-अपने ढंग से। क्या सभी जीवित प्राणियों में आत्मा होती है? – यह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय था क्योंकि तब यदि कहा जाए कि "आत्मा" केवल मानव में होती है तो आत्माविहीन प्राणियों की हिंसा जायज हो जायेगी।

प्राचीन मिस्र में "द्विआत्मा" का सिद्धांत था – "का" (श्वास, प्राणवायु) मरती नहीं और मृत शरीर के पास मंडराती रहती है और "बा" जो अशरीरी है मरण के बाद पितरों के लोक में चली जाती है।

चीन की मान्यता थी कि एक "हीन" आत्मा होती है जो बड़ी संवेदनशील होती है तथा मृत्यु के साथ विलीन हो जाती है, दूसरी तर्कसंगत आत्मा "हून" जो मरण के बाद भी जीवित रहती है और पितर बनती है, अतः पितर पूजन की परंपरा है।

हिब्रू कहते हैं कि आत्मा शरीर का अभिन्न अंग है और शरीर के साथ मर जाता है। आगे इस विचारधारा में परिवर्तन हुआ और ईथीरियल सोल और कॉरपोरल सोल की बात कही जाने लगी।

यूनान के दार्शनिक मानते थे कि शरीर से आत्मा भिन्न है। ईसाई धर्मगुरुओं ने भी इसी बात का समर्थन किया। भोगवादियों (एपीक्यूरियन्स) ने कहा कि आत्मा भी शरीर की भाँति परमाणुओं से बनती है और शरीर के साथ ही बिखर जाती है। भारत में चार्वाक ने कहा कि देह जल जाने के बाद सब कुछ समाप्त हो जाता है, पुनर्जन्म नहीं होता।

यूनान के अफलातून वर्ग के दार्शनिक कहते हैं – आत्मा अशरीरी है, देवताओं जैसी है फिर भी भौतिक परिवर्तनों और अस्तित्व में शामिल होती है, जबकि अरस्तु वर्ग के विचारक कहते हैं – आत्मा का रूप अस्पष्ट है और इसे शरीर से अलग नहीं किया जा सकता। ईसाई सम्प्रदाय के संत अगस्तीन ने कहा कि आत्मा रथी है और शरीर वाहन। शरीर भौतिक है और आत्मा दैविक पर वे मानते हैं कि शरीर से अलग आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

मध्ययुगीन यूरोप के विद्वान् थामस एक्विना ने यूनानी दर्शन का समर्थन करते हुए कहा कि आत्मा ही शरीर की नियंत्रक है पर अपने आप में स्वतंत्र है।

रेनेसां युग के पुरोधे – रेने डे कार्टेस ने कहा कि मनुष्य आत्मा और शरीर का संयोग है। दोनों अलग हैं पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। उनके लिये मन ही आत्मा है। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा मानते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जबकि

एक और प्रसिद्ध दार्शनिक इमेन्यूएल कांत के विचार से "तर्क द्वारा आत्मा को सिद्ध नहीं किया जा सकता" अतः मन को ही निर्णय करना होगा कि आत्मा का अस्तित्व है, और इस निष्कर्ष के बाद ही नैतिकता और धार्मिकता का विकास संभव होगा। आगे बीसवीं सदी के प्रारंभ में विलियम जेम्स ने स्थापित किया कि आत्मा नहीं है — केवल मन की कपोल-कल्पना मात्र है। भारतीय दर्शन भी मानता है कि शरीर एक रथ है जिसमें इन्द्रियों के घोड़े जुते हैं और आत्मा रथी है।

इस आत्मा और शरीर की कल्पना में एक और विचार जोड़ लें कि क्या मृत शरीर पुनः जीवित हो सकता है? क्योंकि इसी मान्यता के आधार पर मिस्र में शवों का ममीकरण किया गया, शवों को दफन किया गया और प्रतीक्षा काल की अवधि के लिये सुख साधन का प्रबंध किया गया। अन्य लोगों ने शरीर को नश्वर मानकर कहा यह पंच-तत्त्व से बना है अतः इसे अग्नि को समर्पित कर प्रकृति के तत्त्वों को लौटा देना चाहिये। रही "आत्मा" की बात तो मरणोपरांत उसकी यात्रा की कल्पना भी कर डाली।

मृत्यु का क्षण आज भी उतना ही अलौकिक, रहस्यमय और भयकारक है। सही है कि हर व्यक्ति मृत्यु का सामना अपने ढंग से करता है, शहीद हंसते हुए फांसी चढ़ जाता है, मंसूर को सूली चढ़ते हुए लगा कि उसकी शादी हो रही है, संत शांत भाव से मृत्यु का वरण करते हैं, तो दूसरे कांपते हैं, आतंकित हो गुहार करते हैं कि बचा लो, पर वह निर्मम कुछ भी नहीं सुनता।

मृत्यु कैसी है? क्या मरने में बहुत कष्ट होता है या सिर्फ चिरनिद्रा है, सहज और सुखद है? इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता, क्योंकि जो उस पार गये लौटकर नहीं आये। अवश्य ही कुछ लोग मरने के बाद जी उठे हैं और मरणोपरांत अनुभव बताते भी हैं, पर उनके अनुभव की मान्यता कहाँ तक है यह भी एक प्रश्न है। एक बात एक हद तक सही प्रतीत होती है कि यदि मृत्यु चिरंतन निद्रा है और नींद आने में कोई कष्ट नहीं होता तो फिर मृत्यु में क्यों होगा? यदि शरीर से अलग कोई चैतन्य आत्मा है तो इसका कोई प्रमाण नहीं है। आदिवासी अवश्य मानते हैं कि ओझा आत्मा चुरा लेते हैं, दूसरे ओझा आत्मा को पकड़ने के उपकरण बनाते हैं। वे यह भी मानते हैं कि निद्रावस्था में आत्मा शरीर से निकलकर सैर करने चली जाती है।

मृत्यु का आगमन

पुरानी कल्पना में मृत्यु देवता यम और उनके स्वरूप की, यमदूतों के स्वरूप की कल्पना की गयी है, भारत ही नहीं सर्वत्र ही। यमराज भैंसे पर बैठे, भयंकर रूप वाले होते हैं, उनके साथ उनके लिपिक चित्रगुप्त भी होते हैं जो सभी का लेखाजोखा रखते हैं। जीवन की अवधि शेष होने पर यम के दूत लेने आते हैं — ये भी सींग-पूँछधारी भयंकर राक्षस रूम होते हैं। उनके हाथ में आत्मा को बांधने के लिये फंदा और गदा भी होती है। पुराणकारों ने कल्पना की

कि भगवान विष्णु अपने भक्तों के लिये अपने दूत भेजते हैं जो यमदूतों को मार भगाते हैं। ऐसी ही कल्पना अन्य देशों में भी है।

उस पार – यमलोक है, स्वर्ग है, नरक है, परलोक है। जब पृथ्वी सपाट थी तो ऊपर सात लोक थे और नीचे भी सात लोक। इनके अलावा विष्णुलोक, गोलोक, कैलाश, आदि की भी कल्पना की गयी। यात्रा के दौरान प्रेत को वैतरणी पार करनी होती है, उसका फँसला होता है और वह एक अवधि के लिये नरक या स्वर्ग प्राप्त करता है। पुराणों में नरकों का विशद वर्णन है और स्वर्गलोक का मधुर स्वरूप भी बताया है, पर अवधि पूरी होने पर लौटकर फिर आना होता है। इस पुनर्जन्म से – “पुनरपि जननम्, पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम्” के चक्कर से छूटने का उपाय है – मोक्ष। इस कल्पना में कहा गया है कि चक्कर से छूटकर आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है।

नास्तिक और विज्ञानवादी के लिये मृत्यु का अर्थ है जीवन की हलचल की परिसमाप्ति, साँस के चरखे का रुक जाना। वे कहते हैं व्यर्थ का विवाद है क्योंकि इसमें कोई रोमांस नहीं है। पर हेगल जैसा दार्शनिक कहता है – “क्योंकि प्रेम का अर्थ है अपने व्यक्तित्व, सम्पत्ति सबका त्याग और मृत्यु स्वयं प्रेम है, मृत्यु में ही प्रेम की परमावधि उद्घाटित होती है।” ईसा मृत्यु को जीवन का परिष्कार मानते हैं, मृत्यु पहेली नहीं अनंत यात्रा का समाधान है, स्वर्ग का मार्ग है। सुकरात विप्रपान कर जब मृत्यु के पास पहुँचा तो आनंद विभोर हो गया, उसकी आध्यात्मिक शोध की वह चरम परिणति थी। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने प्रार्थना की “हे प्रभु, मेरी यात्रा के कर्णधार बनो, यात्रा आरंभ हो गयी है।” किंतु अस्तित्ववादी सार्त्र निराश है, वह मृत्यु को ढूँढ नहीं पाता क्योंकि वह शोध से परे है, सभी अनुमानों को झुठलाती है।

आइये योग की खिड़की से मरण को देखें। योग के अनुसार शरीर के पाँच आवरण हैं – अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय। बड़ी रोचक अवधारणा है। मृत्यु के समय अन्नमय में बैठी जीवन-शक्ति या चेतना प्राण-मन-विज्ञान कोशों को पार करती आनंदमय कोश में तिरोहित हो जाती है। यही चेतना या आत्मा प्राण-शक्ति से स्पंदित होकर नया अवतार ग्रहण करने की प्रतीक्षा करती है या फिर परमात्मा में विलीन हो जाती है। योग साधना से समाधि अवस्था (आनंदमय स्थिति) या सचेतन मृत्यु प्राप्त की जा सकती है। भारतीय प्रज्ञा इहलोक का मोह त्यागकर अमृतत्व की शोध को श्रेयस्कर मानता है। प्रार्थना करता है “मृत्योर्मांमृतमगमय”। इसी मंत्र का संबल पाकर नचिकेता यम के द्वार खटखटाने का साहस कर सका, स्वयं मृत्युदेवता से जीवन और मरण का रहस्य बताने का अनुरोध कर सका।

मृत्यु का भय मृत्यु से भी ज्यादा भयकारक है और उपरोक्त विवरण – उस पार का मोहक छलावा उस भय को दूर करने के साधन हैं। कुछ बिरले संत कबीर जैसे ताल ठोंककर मृत्यु का आह्वान करते हैं – “हम न मरें मरि है संसारा” उनकी राय में “कबिरा घर है प्रेम का, खाला का घर नाहि, शीश उतारे भुईं घरे सो पैठे घर मांहि।”

हमने देखा कि आत्मा शरीर में प्रवेश करती है तो हम जी उठते हैं और निकल जाती है तो मर जाते हैं। पर "आत्मा" और शरीर का योग कब होता है? इस बाबत भी अनेक थ्योरी हैं। पाइथागोरस ने आत्मा का दिव्य उद्भव माना है और कहता है वह शरीर से पहले था और बाद में भी रहेगा। अफलातून और सुकरात भी आत्मा को अमर मानते हैं। अरस्तु आत्मा का एक अंश "नूस" (NOUS) बताता है जो प्रज्ञा की दिव्यता है। ईसाई मानते हैं - अमर आत्मा ईश्वर का सृजन है और गर्भधारण के समय शरीर में प्रवेश करती है। हिंदू विद्वान् भी मानते हैं कि प्राण या आत्मन् सृजन के समय उत्पन्न हुए और शरीर में बंदी होते हैं। मरण के समय यह शरीर के पिंजरे से छूटकर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होती है और पुनर्जन्म होता है। बड़े भाग हों तो चक्कर से मुक्ति मिल जाती है। यहाँ एक मजेदार बात कही गयी है कि इस पिंजरे के दस दरवाजे या खिड़कियाँ हैं (इन्द्रियाँ) और किसी से भी प्राण निकल सकते हैं। "सँया निकस गये मैं ना लड़ी थी, ना जाने कौन सी खिड़की खुली थी"। कहते हैं योगी के प्राण कपाल से निकलते हैं।

अब एक और प्रश्न उभरता है, क्या मरण किसी क्षण विशेष में होता है? यह कानूनी प्रश्न भी है क्योंकि जब कहते हैं उनकी मृत्यु इतने बजकर इतने मिनट पर हुई तो क्या यह सत्य है? आज के युग में इस बात पर प्रश्नचिह्न लग गया है। पुराने जमाने में जब हृदय का धड़कना बंद हो जाता था, साँस रुक जाती थी तो कहा जाता था कि प्राण निकल गये। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

मरण के साथ जन्म की, जीवन की चर्चा भी चलती है। गीता में बड़े पते की बात कही गई है कि "मृत्यु तो जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है" या कहेँ गर्भ धारण के समय ही मृत्यु की यात्रा आरंभ हो जाती है। नवजात, किशोर और युवा की मृत्यु, अकाल मृत्यु कही जाती है पर कोई जातक जब पूर्ण आयु प्राप्त करता है तो इन्द्रियाँ शिथिल और स्मृति शेष हो जाती है और तब चुपके से महानिद्रा में सो जाता है तो इसे "सहज मृत्यु" कहते हैं। मृत्यु का विशेष चिंतन मृत्युदण्ड पाने वाला या आत्मघात को तत्पर प्राणी करता है और इसके विविध रूप हैं। सूफीवादी चिंतन काव्यमय है। अली सरदार ज़ाफरी कहते हैं कि कल्पना करें किसी घाटी में तीव्र गति से एक नदी बह रही है और व्यक्ति उस प्रवाह में बहता एक तिनका है, फिर एक तेज लहर आती है, तिनके को उठाकर किनारे फेंक देती है। नदी बहती रहती है। हाली के शब्दों में नदी को तो बाढ़ और प्रवाह की चिंता है। उसे क्या गरज कि नाव पार लगती है या मझधार में डूब जाती है। अकबर इलाहाबादी फरमाते हैं "बताऊँ तुमको कि मरने के बाद क्या होगा, पुलाव खायेंगे अहबाब, फातिहा होगा।"

थोड़ी चर्चा अपने वाङ्मय में "मृत्यु" की कर लें। ऋग्वेद कहता है "परममृत्यो अनुपरेहिपंथो"। भारतीय प्रज्ञा मृत्यु को परलोक और पुनर्जन्म के बीच का द्वार मानती है। वे अद्भुत बात कहते हैं (नासदीय सूक्त में) कि सृष्टि के आरंभ में मृत्यु या अमरता नहीं थी। आगम, पुराण, तंत्र तथा दर्शन में विस्तार से मृत्यु और जीव की गति की चर्चा की गयी

है यथा पितृयान, देवयान, देवपथ, ब्रह्मपथ, यमपथ, पितृपथ, आदि। महर्षि अरविन्द कहते हैं कि अभी इतनी प्रगति नहीं हुई कि हम बिना परिवर्तन के चल सकें, अभी सुनम्यता की कमी है। "सुपर माइण्ड" प्राप्त होने के बाद ही अमरता मिल सकती है। हमारे वाङ्मय और संत वाणी में "मृत्यु" पर अपार साहित्य उपलब्ध है और उसकी चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है।

हम आधुनिक युग और आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण की चर्चा करेंगे।

पहला प्रश्न है – मृत्यु कब होती है? तो अनुभव निरीक्षण, परीक्षण और अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि मृत्यु किसी एक क्षण नहीं होती। पर इस कथन का धार्मिक, सामाजिक, पारंपरिक, कानूनी और वैज्ञानिक पहलू है। चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से मस्तिष्क मूल (ब्रेनस्टेम – जिसमें मध्य मस्तिष्क, पास और मेडुला आते हैं) के कार्यकलाप बंद होने को मृत्यु कह सकते हैं क्योंकि इसी क्षेत्र में श्वास और हृदय संचालन, रक्त-संचार के केन्द्र होते हैं, यही वह केन्द्र है जो चेतना का द्वार है। यह बंद हुआ तो अटूट बेहोशी आ जाती है। उच्च मस्तिष्क से वाणी का प्रादुर्भाव भी मन से कंठ तक इसी मार्ग से आता है (माने गला रुंध जाता है)। शरीर में स्वचालित तंत्रिका (सिम्पेथेटिक) प्रणाली है जो शरीर के सभी कार्य संपादित करती है। वह भी इसी मार्ग में है। मस्तिष्क मूल ठप्प हुआ तो चेतना, बुद्धि, ज्ञान सभी का संन्यास हो जाता है। यह "मूल" क्यों काम बंद करता है इसका विस्तृत अध्ययन किया गया है। कानूनी फांसी की प्रक्रिया में कशेरुका की एक हड्डी सहसा इस क्षेत्र में प्रविष्ट हो प्राण हर लेती है।

अब "हार्ट लंग" मशीन बन गयी है, रोगी को इस मशीन से जोड़ देने पर वह "जीवित" रहता है (वर्षों जीवित रह सकता है)। सन् 1958 में ब्रेनस्टेम डेथ की बात फ्रांस के तंत्रिका विशेषज्ञों ने उठाई और कहा यह "कोमा" (सन्निपात) के आगे की अवस्था है। भारत में योगदर्शन में समाधि और तुरीय अवस्था की बात की गयी है।

यहाँ हम ब्रेनस्टेम डेथ के विस्तार में नहीं जायेंगे पर एक और उलझन की चर्चा करेंगे। मस्तिष्क के कोष बिना रक्त के, बिना ओषजन के तीन मिनट जीवित रहते हैं। अतः रक्त संचार पुनः प्रारम्भ करने, हृदय की धड़कन शुरु करने में इससे अधिक विलंब हुआ तो रोगी जीवित तो हो जाता है पर चेतनारहित, सागपात या उद्विज जैसा हो जाता है (वेजिटेटिव लाइफ)। हवा, पानी, भोजन देते रहे तो वह जीवित रहेगा पर निष्क्रिय। अब इसे मृत्यु कहें या जीवन? हम जानते हैं कि सांस और हृदयगति रुक जाने के बाद क्रमशः रक्त कणों, कोशों की मृत्यु होती है, मांसपेशियां कुछ घंटों में मरती हैं (मरने के बाद शरीर का अकड़ना और फिर ढीला पड़ जाना)। केश बहुत समय तक जीते हैं और सबसे अंत में हड्डियाँ मरती हैं। संक्षेप में कहें तो पंच-तत्त्व में भौतिक शरीर का विलीन हो जाना ही मृत्यु है और यह प्रक्रिया काफी समय लेती है।

परंतु जन्म-मरण का खेल तो निरंतर चलता रहता है। हमें पता नहीं चलता पर प्रतिक्षण शरीर के हज़ारों कोश मर जाते हैं और हज़ारों नये बनते हैं। मस्तिष्क कोश मरते तो लगातार हैं पर नये नहीं बनते। फिर भी उनकी संख्या इतनी अधिक है कि पता नहीं चलता सिवा इसके कि वृद्धावस्था में स्मृतिध्वंस होने लगती है, विचार शिथिल हो जाते हैं, इन्द्रियां भी धीमा काम करती हैं। इस मृत्यु को मॉलिक्यूलर डेथ कहते हैं और बड़ी मौत को मॉलर डेथ। इसी कारण आज संभव हो सका है कि दुर्घटना में मरे व्यक्ति का हृदय या गुर्दे निकाल-कर दूसरे प्राणी को जीवन दान दे सके क्योंकि वे जीवित होते हैं। मरणोपरांत नेत्र कनीनिका दान तो अब आम बात है।

क्या बता सकते हैं कि "मृत्यु" किस क्षण होगी? नहीं, हाँ ज्योतिषी, नाड़ी विशेषज्ञ ऐसा दावा करते हैं।

एक पूरा नया विज्ञान उत्पन्न हो गया है जो चिर-यौवन और अमरता की शोध में रत है। सच पूछिये तो आधुनिक विज्ञान का जन्म ही अमृत और पारस की तलाश में हुआ है। बहुत सी थ्योरियाँ बनी कि मृत्यु क्यों होती है और वैसे ही उपाय भी बताये गये पर कोई भी सफल नहीं हुआ। एक मजेदार स्थापना सामने आई कि कोशों के बीच जो अंतराल है जिससे कोश को प्राणवायु और पोषण मिलता है वह उच्छिष्ट से अवरुद्ध हो जाता है तो मृत्यु हो जाती है। किंतु अभी तक अमरौती खाकर कोई नहीं आया। कोई सौ बरस जीता है तो कोई योगी कई सौ वर्ष तक, पर बचा कोई नहीं। स्वयं धन्वन्तरि जो अमृत-घट लेकर आये थे वे भी नहीं रहे। हमारे यहाँ एकमात्र उदाहरण है महाकाल-शंकर का जो विषपान करके भी जीवित रहे। काल पर विजय का यह बिरला उदाहरण है।

हम थोड़ी और सूक्ष्म चर्चा करें। हमने ऊपर कहा कि कोश मरते हैं और शरीर में अरबों कोश हैं। और हर कोश जीवित है — प्राणवान है। हर क्षण शरीर में जन्म-मरण का खेल चलता है पर एक बात समझ में नहीं आती कि उस समय क्या होता है जब समूचा देह नगर मर जाता है? कौन-सा सब पर शासन करने वाला महाप्राण निकल जाता है? पर क्या वास्तव में समग्र मृत्यु होती है?

चार्ल्स डार्विन के विकासवाद सिद्धांत में कहा गया कि अस्तित्व के लिये संघर्ष होता है और इसके लिये हर प्राणी अपनी और अपनी प्रजाति की रक्षा के अनेक उपाय करता है। चिरजीवन का एक उपाय है अपनी प्रजाति की उत्पत्ति और प्रकृति ने वहाँ भी अतिशय प्रबंध किये हैं। यदि किसी प्राणी के सभी अंडे मरे नहीं तो कुछ ही समय में पृथ्वी पर स्थान नहीं रहेगा। मानव में ही नर के अंदर अरबों शुक्राणु बनते हैं और नारी में उत्पादक अवस्था में सैकड़ों डिम्ब बनते हैं। पर इनमें से कुछ ही पूर्ण नया मानव बनाते हैं। यहाँ एक अत्यंत सूक्ष्म बात है प्रत्येक शुक्राणु जीवित होता है, प्रत्येक डिम्ब जीवित होता है और इन दो के मिलन से एक जीवित भ्रूणकोश बनता है जो सम्पूर्ण नवमानव बनाने में सक्षम है (टूट जाये

तो दो-चार भी-बना सकता है)। अर्थात् बीच में कहीं मरण का प्रश्न नहीं आया। जीवन से ही जीवन का उद्भव हुआ। "जीवनद्रव" (प्रोटोप्लाज्म) एक नदी है। वह सदा प्रवाहित रहती है – उसमें बुलबुले उठते रहते हैं और लुप्त हो जाते हैं। यह नदी तभी सूखेगी जब प्रजाति नष्ट हो जाये। इस चिरंतन जीवन की संकल्पना भारत के ऋषियों ने की थी। गया श्राद्ध की विधि से कर्मकाण्ड की बात छोड़ दें तो अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात आती है कि पुत्र विष्णुपदी के समक्ष साक्षी देता है कि मेरे पिता ने धारा तोड़ने का पाप नहीं किया, साक्षी रूप में उपस्थित हूँ। प्रजनन ही अमरत्व है।

हमने जीवित कोश की चर्चा की। कोश की रचना में जायें तो अद्भुत तथ्य सामने आते हैं। कोश निरंतर निर्माण क्रिया में लगा रहता है, वह नये कोश की रचना भी करता है। कोश के अंदर एक केन्द्र होता है जो उससे भी अधिक विस्मयजनक है। इस केन्द्र में गुणसूत्र होते हैं और गुणसूत्र पर सैकड़ों गुणाणु। प्रत्येक गुणाणु प्राणी के किसी भी गुण-दोष का नियामक है। और ये गुणाणु हैं क्या? अणुओं के पुंज जो "अणोरणीयान" की कल्पना साकार करते हैं। जगत् में अणुपुंज तो बहुत हैं पर वे अपना प्रतिरूप नहीं बना सकते। किंतु एक ऐसी परिस्थिति भी आती है जब कुछ परमाणु जुड़ने पर, उनमें जैवगुण आ जाता है, वे जीवित हो उठते हैं। निर्जीव और जीवित की कुंजी यहीं कहीं है। मृत्यु होने पर ये असंख्य परमाणु (जो कोश में हैं) बिखर जाते हैं, किसी अन्य कोश में या निर्जीव अणुपुंज में जुड़ जाते हैं। आप भले मानें कोश मर गया, प्राणी मर गया पर केवल स्थानांतर होता है।

और गहरे उतरें। ये अणु-परमाणु हैं क्या? एक शक्तिपुंज केन्द्र के चारों ओर विद्युताणु चक्कर काटते हैं। समस्त तत्त्वों में मात्र एक अंतर है। इन शक्ति बिंदुओं की संख्या। ये हैं क्या? पदार्थ या स्पंदन (शक्ति का) कोई नहीं जानता। फिर इस सूक्ष्म सौर मंडल में अपार अवकाश है। यदि ये शक्ति बिंदु हैं तो इनके एकत्र होने पर वही स्थिति होगी जो ब्रह्माण्ड के समस्त सौर पिण्डों के एकत्र होने पर। वे इतने छोटे हो जायेंगे मानो अपार तम भरे जंगल के कोने में एक दीया जल रहा हो। समस्त अणु-परमाणु को तोड़ दें तो यह पृथ्वी एक गेंद बराबर भी नहीं होगी। यह कल्पना ऋषियों ने भी की और आधुनिक विज्ञान भी करता है। यह परमाणु जगत् (पिण्ड में भी और ब्रह्माण्ड में भी) महाशक्ति महामाया का खेल मात्र है – एक छलना है। जीवन-मरण तो उसी खेल के दो पहलू हैं – उद्भव और प्रलय, पुरातन और नूतन न हों तो खेल कैसा? उसी ने अमृत बनाया है उसी ने विष भी। अंत में काल तथा अमर देवता भी मरण प्राप्त करते हैं और बालमुकुंद अपना खेल समेटकर मुस्कराते हैं।

जीवन-मरण का खेल समझने में पुरातन और नूतन का नहीं चश्मे का फर्क है। आइये कबीर के शब्दों में ललकारें "हम न मरें मरि है संसारा" और नाटक में अपनी भूमिका निभाने के बाद महानिद्रा में खो जायें।

मृत्यु सच्ची या झूठी ?

— विजय कुमार राय

कथा है *महाभारत* की। यक्ष ने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा — “महाराज, इस संसार में, आपकी दृष्टि में, सर्वोपरि आश्चर्य क्या दिखता है?” “धर्मनन्दन ने तत्काल और बेखटक उत्तर दिया — हर मनुष्य जीवन भर हर जगह मृत्यु का दृश्य देखता ही रहता है, पर, यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि उसकी भी एक-न-एक दिन मृत्यु अवश्य होगी, उसे दृढ़ विश्वास रहता है कि वह मृत्युहीन है। मनुष्य जीवन में कितना बड़ा आश्चर्य है यह?” कितना बेढब बिडबन और उपहास्यास्पद प्रसंग है कि अन्त में धर्मेन्द्र धर्माचार्य और धर्माधिकारी महाराज युधिष्ठिर ने अपनी विवश मानसिक असमर्थता का रोना रोते हुए भी स्वयं के अंतर्जगत् को नित्य और शेष हम सभी को अनित्य बताया। मृत्यु से मुक्ति की कोई आसान युक्ति भी तो नहीं बता पाये।

आखिर जीवन है क्या? जीव की अपरिमित यात्रा। जब तक जीव चैतन्य और चक्षुप्रत्यक्ष दिखता है उसे सजीव कहते हैं। सजीव का प्रारंभिक छोर है जन्म और अंतिम सिरा है मृत्यु। दोनों छोरों के बीच जीता रहता है जीवन। चाहे जिससे पूछ लीजिए कि तुम्हारा जन्म कब हुआ था? वह तुरंत कह देगा कि मैं जानता कहाँ हूँ, मेरे जन्म के बारे में दूसरे लोग बताते हैं। पर उस पर भरोसा कहाँ करता है? मेरा अपना अनुभव तो है नहीं? जन्म हमारा और बताएँ और लोग? ठीक इसी तरह कोई अपना मरना भी नहीं जानता। औरों के कहने पर ही तो लोगों को मालूम होता है। तो क्या जन्म और मृत्यु दोनों ही झूठ हैं? हम जीते रहते हैं दो झूठी बातों के बीच में?

बच्चा पैदा होते ही रोने क्यों लगता है? वह बता तो नहीं पाता पर प्रकृति के रहस्य को जानने वाले अच्छी तरह जानते और बताते हैं कि उसके रोने के कारणों को वह जीवन भर बताता रहता है। जन्म लेने के बाद भी इस गुब्बारे जैसे फूलते-बढ़ते ब्रह्माण्ड में वह आ

गया, कहाँ से आ गया और कब से आता रहा है, उसे नहीं मालूम। धीरे-धीरे उसे यह भी मालूम हो जाता है कि वह रहे या नहीं दुनिया तो यों ही रहेगी। न जाने उसने अपने से, अपनों से जानना चाहा कि आखिर हमारा जीवन है क्या? पूछने की सोच ही रहा था कि अध्यात्म, धर्म, दर्शन, शास्त्र, गुरु, पंडित, विज्ञान, आदि दौड़ पड़े उत्तर देने को। उन्होंने बस इतना भर समझा कि जीवन के दो सिरे हैं जन्म और मृत्यु, पर कोई नहीं बता पाया कि जन्म के पहले क्या और मृत्यु के बाद कहाँ। विद्वान् विज्ञों और अतिशय अभिज्ञों का जानना-मानना है कि हम जानें या नहीं, समझें या नहीं, हमारा जीवन केवल उतना ही नहीं जितना जन्म और मृत्यु के बीच का चैतन्य, जीवंत और जीवित दशा है। वह तो जीवधारी की असीम, अनन्त और अपरिमित यात्रा है। जीव की अनेकानेक जन्म, मृत्यु और जीवन-लीलाएँ होती रहती हैं। बीच-बीच के जीवनचरित तो मार्ग के अस्थायी और अल्पकालिक पथिकाश्रय और ठिकाने-पड़ाव हैं।

जन्म होने पर लोग खुशी और आनन्द मनाते हैं और मृत्यु के बाद दुःख मनाया जाता है। खुशी तो छोटी, पर दुःख तो बड़ा भारी होता है। कारण यह है कि लोग जीवन जीने में इतने व्यस्त रहते हैं कि जीवन की वास्तविकता का मूल्य आँक नहीं पाते, पर जब मरने लगते हैं तो जीवन का महत्त्व, उपयोग और लाभ समझ में आने लगता है। जब तक जिन्दगी का महत्त्व समझ में आने लगता है तब तक मौत सामने खड़ी दिखने लगती है। सच तो यह है कि जन्म के बाद का हर जन्मदिवस मृत्युदिवस को बताने वाला मील-पत्थर का चिह्न होता है। उम्र का बढ़ना अर्थात् आयु का घटना। मृत्यु की छाँव तले ही तो जीवन को विराम, विश्राम और आराम मिलता है। मानव सभ्यता और संस्कृति टिकी है केवल मृत्यु के भय पर। जीवन भर मरते रहने के अतिरिक्त हम करते क्या हैं? घर-परिवार, समाज-राष्ट्र, मंदिर-मस्जिद, गुरुद्वारा-गिरजाघर बने हैं और ठहरे हैं केवल मृत्यु के भय से भयातुर और भयाक्रांत होकर। शरीर तो रहता किसी का नहीं। यों, मरने का मतलब मिटना नहीं केवल रूप का बदलना है। यह परिवर्तन सजीव-निर्जीव दोनों में होता है। हम तो मर-मरकर रूप बदलते ही रहते हैं। खनिज से बदलकर वनस्पति, फिर पशु और ऐसे ही बदलते-बदलते आज मनुष्य के रूप में दिखायी दे रहे हैं। पर हमारी सूरत ही बदली, वृत्तियाँ तो पशु की ही हैं।

जन्म और मृत्यु परस्पर विरोधी नहीं हैं, वे तो जीवन के दो छोर, दो पाँव और दो पाट जैसे हैं। इस परम शाश्वत् और अनन्त जीवन में इनका महत्त्व ही क्या है और कहाँ है? महत्त्व तो दूर रहा अस्तित्व भी तो नहीं। जन्म तो हो जाता है पर जीना सीखना पड़ता है क्योंकि मनुष्य जैसे सर्वोच्च उद्विकसित जीव का जन्मजात शिशु इतना निकृष्ट, निकम्मा और निस्सहाय है कि उसे कुछ भी नहीं आता-जाता, उसे सब कुछ सीख कर ही जानना-समझना पड़ता है। सीखते जाना ही जीवन कहलाता है। बीच में उसे मरने की फुर्सत भी तो नहीं। कितनी बड़ी भूल होती है हमसे, हम सब कुछ सीखना चाहते हैं पर मरना नहीं। इसीलिए तो उसे जीवन ही खोजता फिरता है बड़े प्यार के साथ। यदि मृत्यु को अच्छी तरह

जान समझ गए और उसे गले लगाने की तैयारी कर चुके तब तो मौत भागती फिरेगी और जहाँ इस तैयारी से चूके, वह तुरंत धर दबोचेगी। साँस का आना-जाना ही तो जीते रहने का प्रमाण है। मरना तो है हृदयगति बन्द होने के कारण साँस का रुक जाना। हृदयगति या साँस के रुक जाने का भय ही तो मरने का भय पैदा करता है। इस भय के भी कारण हैं मोहपाश, अज्ञान में की गयी अज्ञाता, अपनी जिजीविषा और अपनों को भी बनाते और जिलाते रहने की तीव्र आकांक्षा और चाहना। मोह का मतलब ही है भयभीत रहना, मोह सफल तो दुःख, असफल तो और भी दुःख। सारी महत्त्वाकांक्षा की तीव्र पर अतृप्त तृष्णा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की होड़, प्रतिस्पर्धा और लागडॉट की दौड़ा-दौड़ी, मंदिर-मस्जिद देवी-देवता तथा भगवान हैं, केवल और केवल मृत्यु के प्रतिकार के लिए। हाँ, अपनी इच्छा से मरने की तैयारी भी जीवन को सार्थक और साभिप्राय बनाने की एक अत्यंत उपयोगी विधि है।

मौत का आना-जाना ही तो जीवन है। जो इस सूत्र में पूरा-पूरा विश्वास करता है वही परम सुखी रहता है। जो यह मानता है कि मेरा शरीर अलग है और मैं अलग हूँ तो उससे मौत स्वयं डर जाती है। पता नहीं यह लोग शब्दों का खेल मानते हैं या केवल धार्मिकों, आध्यात्मिकों, शास्त्रज्ञों, सांस्कृतिक परम्पराओं और रटे-रटाये वाक्यों में विश्वास के कारण ऐसा होता है। विश्व का बहुत बड़ा प्रमाण पुष्ट और प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिक जगत्, जीवननिष्ठ संगठित समूह, निर्भय, विश्वास वंचक और विश्वास जिज्ञासु ज्ञानार्थी जनसमुदाय इसे जानता भी नहीं, मानता भी नहीं। पर, जानता कौन नहीं कि मरण जीवन का अकेला सच है। वह तो अपने शरीर से भी अधिक निकट लगता है। जीवन का रूप चाहे जैसा भी दिखे, जो भी समझ में आये, केवल मृत्युभय के कारण ही है। पर न जाने क्यों बड़े जानदार और जानकार, जांबाज और जानजाँ भी जाने-अनजाने यही बताते फिरते हैं कि मृत्यु से बड़ा झूठ कोई होता ही नहीं। समस्या यह उठ जाती है कि यदि मृत्यु को सच मान लें तो जीवन ही झूठा हो जाता है। जीवन सच है और लोग मृत्यु को भी अपनी आँखों से देखते रहते हैं, अतः जीवन के बारे में तो हम स्वयं बता पाते हैं, परन्तु मौत के बारे में कैसे बताएँ, हम मरे तो हैं नहीं, और अपने मुर्दे से पूछें कैसे?

आत्मा की अमरता चिल्ला-चिल्लाकर कहती है कि मैं मर तो सकती ही नहीं – मृत्यु है ही कहाँ? पर, अभिज्ञों का मानना है कि हम इतने डराकू और डराहुक लोग हैं कि आत्मा का अमरत्व सही मानकर जीते रहने का झूठा भ्रम पाले बैठे हैं। अकेले में तो डरते ही रहते हैं, मरते समय तो हम बेहोश ही हो जाते हैं। मरे तो न जाने कितनी बार पर हर बार बेहोश होकर। संभवतः प्रकृति मरते वक्त संज्ञाशून्यता की दवा देकर व्यक्ति को कष्ट से बचाने के लिए उसे संज्ञाशून्य कर दिया करती है। क्या और कैसी विडम्बना है कि पैदा होते हैं तब भी और मरते हैं तब भी बेहोश हो जाया करते हैं। शायद, अनुभव की याद के अभाव में ही दूसरों को पैदा होते और मरते देखा करते हैं। पैदा होने और मरने में ऑपरेशन का

कष्ट संज्ञाशून्यता की जरूरी दवा के बिना तो होगा ही। प्रकृति कदाचित् इसी मंशा से यह करती है कि मनुष्य आराम से जन्मे भी और मरे भी। मरते वक्त जीवन भर के सुख-दुःख, पद-धन, मान-प्रतिष्ठा, अहंवाद और अहंकृति दिखने लगती है। बेहोशी में कष्ट तो ज्ञात ही नहीं हो पाता। हम पैदा भी होते हैं आराम से और मरते भी हैं आराम से। कहते हैं, जागृत जन्म और जागृत मृत्यु तो केवल जीवनमुक्त के लिए ही संभव है।

सृष्टिकर्ता ने जीवन को अत्यंत बहुमूल्य, जटिल और दिव्य बनाया है, पर, सरल और सहज नहीं। उसके लिए कठोर परिश्रम और प्रयोजनपूर्ण पुरुषार्थ चाहिए। जीवन दुस्साध्य कठिनाइयों और अटकलों तथा अवरोधकों को पार करके जीवनधारा के बहाव को सदा, सतत्, अजस्र और अविच्छिन्न रखने का प्रयास करता रहता है। यों तो मृत्यु अत्यंत डरावनी होती है पर ऐसे लोग भी हैं जो अनेक बार सामाजिक विकृतियों, व्यक्ति की परिस्थितियों और मनःस्थितियों तथा गहरी जटिलताओं में भी खुशी-खुशी जीवन का मोह त्यागकर प्राण त्यागने का जश्न और उत्सव मनाया करते हैं, कारण चाहे जितने भी मनःप्रणीत या मनःपूत क्यों न हों। ये लोग वास्तव में तो मनःसंताप और मनःसंकल्प के विवश शिकार होते हैं। उन्हें न तो मोह से डर लगता है न जीवन से। अति विकसित बीसवीं सदी में भी विश्व में आत्महत्या मानव विकास के प्रमाण से भी संबद्ध है। विद्वान् और ज्ञानी लोग भी इस कार्य को सहर्ष ढंग से करते रहे हैं।

जर्मन विद्वान् गेरे ने अनेकानेक बार आत्महत्या का प्रयास किया, तैयारी भी की, पर इतनी हिम्मत नहीं जुटा पाया कि कर सके। दार्शनिक डोयोजनीज जैसे विद्वान् ने स्वयं "फॉसी लगा ली"। *मुच्छकटिक* के लेखक शूद्रक ने आग में जलकर जान दे दी। लैटिन कवि एम्पेदोक्लीज ने तो ज्वालामुखी के मुँह में छल्लाँग लगाकर खुदकुशी की। चैट्टरटन ने विषपान करके मृत्यु को गले लगाया। गोर्की ने अपनी ही पिस्तौल से अपने को मार डाला। चित्रकार "लाडत्रे" ने भी अपने को अपनी ही गोली से मार डाला। रॉबर्ट क्लाइव ने अपने को तीन बार मारने का प्रयास किया पर तीनों बार निशाना चूक गया। ऐसे अनेक लोग हैं और हुए हैं जिनको जीवन एकदम प्यारा नहीं, बल्कि मौत प्यारी होती है। ये दौर आवेश के होते हैं और विवेक अस्त-व्यस्त सा हो जाता है।

लोग स्वेच्छा वरण से भी मृत्यु को स्वीकार किया करते हैं - अनशन, उपवास और अनवहित होकर आहार एवं जल त्याग कर। साधु-संत तो स्वेच्छा-मरण को स्वाभाविक मृत्यु से अधिक उत्तम मानते हैं। अनेक लोग तो जीवित समाधि ले लिया करते हैं। जैनों में तो सामान्य प्रथा है कि अन्त में अनशन द्वारा अन्न-जल त्यागकर प्राण दिया करते हैं। हाँ, सभी धर्मावलंबी अपने-अपने धर्मग्रन्थों से, पाटंबर ओढ़कर धार्मिक या देवपरक ग्रन्थपाठ उन्हें चौबीस घंटे सुनाते रहते हैं। पाठच्छेद और विराम तो होता ही नहीं। हाँ, पाठक लोग समय से बदलते रहते हैं। पांडवों का स्वर्गारोहण, ज्ञानेश्वर की जीवित समाधि, स्वामी रामतीर्थ

की जलसमाधि, कुमारिल भट्ट का आत्घाती प्रायश्चित्त विधान, हाड़ारानी का स्वयं से शिरोच्छेदन को हमारा इतिहास न जाने कितना सराहता और प्रसन्न होकर गाता फिरता है। हाँ, उनके मन में ऊँचा आदर्श और महान् उद्देश्य भले ही हो पर आत्महत्या को समाज बड़ा ही गर्दा और निंदा तथा दूषित माना जाने का आदी है। उसे समझदारी की बात नहीं मानते बल्कि मानसिक असंतुलन का परिणाम मानते हैं। यह जीवन का तिरस्कार तो है ही। क्या अच्छा होता कि आत्मकेन्द्रता छोड़कर वे लोग औरों की सेवा-सुश्रूषा, सर्वक और सर्वतः सहायता तथा सर्वदा और सर्वथा सहकारिता और सहचारिता के प्रचार-प्रसार में जीवन अर्पण कर देते।

मरने की तिथि, मरने का समय, मरने की विधि और मरने का कारण, ऐसे भी देखे जाते हैं जिनका औचित्य किसी की समझ में नहीं आता, विशेषकर ऐसी दशा में जब व्यक्ति मारा जाता है, अपने मन से मरता है या खुशी-खुशी मरण चुनता है। महात्मा गांधी, श्रीमती इन्दिरा गांधी को गोली से मारा गया। स्वामी दयानन्द, सुकरात को जहर पिलाया गया। क्या कारण-कार्य समझ में आते हैं? उनके कर्म क्या इसी योग्य थे? श्री गोपीनाथ कविराज, रामकृष्ण जी परमहंस कैसर से मरे। इस जन्म के कर्मों के कारण या पिछले जन्मों के? योगी अरविन्द मधुमेह से मरे। त्र्यंबक शास्त्री कुष्ठ रोग से मरे। कर्म और फल का संबन्ध कहाँ से और किधर से स्थापित किया जाये? क्रान्तिकारी फाँसी के फन्दे को चूमकर खुशी-खुशी लटकते रहे। जीवन की समाप्ति ही तो मृत्यु है? एक शरीर छोड़कर जीव दूसरा शरीर धारण कर लेता है, अपने से या विवशतावश? लगता है मृत्यु मात्र सपना है जो कभी घटता ही नहीं। उसे देखते केवल और ही हैं, स्वयं को कहीं और कभी-नहीं दीखता।

कहते हैं कि हमारी पृथ्वी सौरमंडल का केवल दो अरब वर्ष पुराना ग्रह है। इस ब्रह्माण्ड में इसी की उम्र बहुत कम है, औरों से अरबों-खरबों वर्ष बाद की। दिक्काल में आदमी है क्या? उसे महान् भ्रम है कि वह आत्मा है, परमात्मा है; ब्रह्म है, पर सच तो यह है कि वह विश्व हेतु की ही नहीं स्वयं अपनी निगाह में भी कुछ नहीं है। इस विशाल ब्रह्माण्ड में मनुष्य ही नहीं जीव नाम के गुण-धर्म वाले किसी अभिधेय पदार्थ का भी तो अस्तित्व नहीं है। विज्ञान के प्रमाण प्रवीण और तर्ककुशल प्रज्ञावादियों का दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य के सबसे निकट का तारा भी चार प्रकाश वर्ष (वहाँ से चला प्रकाश चार वर्ष बाद हमारी आँख तक पहुँच पाता है) – एक प्रकाश वर्ष = 9.5×10^{15} मीटर दूरी पर है, एक सेकण्ड में प्रकाश 3×10^8 मीटर या 186000 मील चला करता है। इस सतत् विस्तरणशील ब्रह्माण्ड में चार वर्ष में वह तारा कहाँ चला जाता है कुछ ज्ञात नहीं। अतः आकाश मंडल के सारे चमचमाते तारे झूठी जगह पर दिखते हैं और कहाँ हैं कुछ पता नहीं। हम न तो कुछ हैं और न ही कुछ जानते हैं। मृत्यु सदा यही खबर देती रहती है कि हम कुछ भी नहीं हैं। मेरा कुछ जानना इंसान का सबसे बड़ा धोखा है, झूठा दंभ है। और तो और, हम इतना भी तो नहीं जानते

कि हमारी पृथ्वी माता भी इस अपार, असीम और अनंत अंतरिक्ष में कब, कहाँ, कैसे पहुँच जाया करती है।

यह अतिविश्रुत, विख्यात, विश्वकृत, निर्जन, सुनसान, श्मशानालय में सर्षप सी छोटी पृथ्वी पर ही जीवन का झमेला है। जन्म, प्राणधारण और मरण का झगड़ा केवल और केवल इस क्षुद्र ग्रह पर ही है। इसका भी आगमन अति नवीन है — केवल दो अरब वर्ष पहले। मृत्यु के समय तो हर कोई जान जाता है कि वह कुछ नहीं है, पर जीवनकाल में ही जो जान-समझ सकता है इस सत्य को, वह प्राणी है। भगवान बुद्ध अपने धन्य शिष्यों को रोज़ सिखाते थे कि श्मशान में जाया-बैठा करो ताकि तुम पूर्णता को उपलब्ध हो। पर, हम हैं जो इतने लम्बे-चौड़े श्मशान में यह भी नहीं कर पाते। लगता है मरना ही प्रधान है। अंधकार ही प्रधान है। प्रकाश तो पैदा किया हुआ अल्पकालिक ज्योति जुगनू की पूँछ में से निकलता, जलता-बुझता आलोक है।

जन्मना, जीना और मरना आखिर क्यों? प्रकृति ने ऐसा निरर्थक विधान बनाया क्यों? क्या एक ही जीव जन्मता, जीता और मरता रहता है? औरों की बात तो अलग, प्रकृति का सबसे बड़ा, प्रबोधक, प्रमुक्त और प्रमुख प्राणी मनुष्य के जीवन का भी उद्देश्य तो नहीं जान पाते हम। कौन है जो जीते रहते मर जाता है। और फिर जन्म लिया करता है? वह शरीर ही है या और कुछ? मरता शरीर ही है या और कोई? जन्म लेने वाला क्यों कब और कैसे जन्मता है? क्या मरने के बाद फूँक दिये जाने, जल में प्रवाहित करने, कब्र में दफनाने या मृत शरीर को संजोये रखने से कुछ मिलता है? अनेकानेक देशों के रहने वाले और अनेक युगों से लोगों का मानना-कहना है कि शरीर तो कुछ नहीं, असली तो आत्मा है जिसका सम्बन्ध शरीर से सदा ही बना रहता है। वह अति विशिष्ट तत्त्व है, व्यष्टि जीवन है, देही है, स्वतंत्र व्यक्ति सत्ता है और जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद भी रहने वाला आत्मतत्त्व है। वह शरीर के परे है। हाँ शरीररूपी आवरण का वस्त्र धारण किये हुए है। उसे लगता है कि वस्त्र जीर्ण या अनुपयुक्त हो जाने पर, मानसिक भूमिका समाप्त करके, वह उसे उतार फेंकता है। इसीलिए तो ऐसे लोग पूरा-पूरा विश्वास करते हैं कि आत्मा जन्म और मरण रहित होता है। यों, अतिमनोज्ञ, मनयोगी, मनोविश्लेषक, मनोचिकित्सक और मनोवैज्ञानिक "फ्रॉयड" का अतिमान्य, प्रयोगसिद्ध और प्रमाणपुष्ट प्रतिज्ञ है कि जीव-जन्तु के भीतर आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, परमेश्वर, आदि नहीं केवल कामप्रवृत्ति है। उसी से जन्मना, जीना और मरना भी होता रहता है। इसी के कारण विश्व की सीमा अंतहीन है।

आज के विज्ञान और विशेषकर प्राणी-विज्ञान ने जन्म-मरण की समस्या पर बड़ा ही विशद, विश्वस्त, विशिष्ट, विशुद्ध एवं विश्वसित तथा विधिबोधित ढंग से सोचा-विचारा और सिद्ध कर दिया है कि जन्म-जीवन-मरण क्या है और जन्म के पहले तथा मरण के बाद होता क्या है? ह्यूम जैसे शून्यवादी को जानने-मानने वाले तत्त्ववेत्ता भी अब अमरत्व को सही

मानने को विवश हो गये हैं। लोग इस कल्पना को बड़ी ही पुरानी मानकर इसकी अवहेलना करते रहे हैं। प्रकृति का निश्चयात्मक, निश्चिन्त, निश्चल और नितान्त निर्विवाद नियम है कि जो जन्मता है, उसे मरना पड़ता ही है। मृत्यु ही जीवन का द्वार है। जीवन भर हम मरने ही की क्रिया तो करते रहते हैं। मृत्यु सदा खड़ी रही है सामने। अभिज्ञ लोगों का दृढ़ विश्वास है कि अस्तित्व अनन्त है।

न्याय मतवादियों का दृढ़ विश्वास है कि जीवन के अनुभव कभी विलुप्त नहीं हो सकते, वे कभी नष्ट भी नहीं किये जा सकते। दिखें, भले ही नहीं, पर अनुभवजन्य कृतियाँ अदृष्ट रूप में बनी रहती हैं। वे परिणामस्वरूप प्रवृत्ति झुकाव, आसक्ति, आदि संस्कारों के रूप में इकट्ठी होती रहती हैं। पर, मरने के बाद शरीर तो किसी का भी नहीं रहता। फिर मृत्यु के बाद स्मृति बनी कैसे, कहाँ और क्यों रहती है? सृष्टि के समक्ष अहम् प्रश्न रहा कि इस अनुभव को बनाये कैसे रखा जाये? अमीबा को अजर-अमर बनाकर वह सदा पछताती रही। उसके अमीबा के गुण-दोष आज भी ज्यों-के-त्यों रह गये। संख्या में अपार वृद्धि का क्या होगा? फिर, उसने जीवों में नर-मादा की रचना की। फिर तो संहार-प्रथा प्रारम्भ हो गयी। मृत्यु ने अपना जाल फैला-बिछाकर किसी-न-किसी फरेब में फँसाना प्रारम्भ कर दिया। आज मृत्यु महारानी है समूची सृष्टि की। जीवेषणा की ललक बलवती होती गयी, जीने की उत्सुकता और आकांक्षा बढ़ती चली गयी और मृत्यु का भय ही नहीं मृतक का भय भी सबसे बड़ा भय हो गया। लोग जीवन चाहे जैसा जीयें मरना नहीं चाहते। अमीबा को ज्यों-का-त्यों रखते हुए प्रकृति ने छः करोड़ वर्ष लगा दिये अनेकानेक प्रकार के जीवों को बनाते हुए, विकसित और उद्विकसित करते हुए, क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से मनुष्य का निर्माण करने में। लगभग सारे द्विलिंगी जीव मृत्यु को धोखा देने, छलने और मरकर भी जीते रहने का काम करने लगे। लैंगिक जनन प्राकृतिक प्रयास है मरकर भी समाप्त न होने का, कहीं और जगह पड़े रहने का और समय आने पर प्रकट हो जाने का। पर प्रकृति ने ईश्वर, आत्मा, परमात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखा। वह ईश्वर की नहीं, दासी है रसायनज्ञों की। ईश्वर के प्रयास पर नहीं, कृत्य पर नहीं, कृपा पर नहीं, मनुष्य के प्रयुक्त प्रयासों, श्रमपूर्ण आयासों और कड़ी कोशिशों पर। कम-से-कम मनुष्य की मौत तो उसके लिए मर चुकी है। उसने जीते रहने की असली तरकीब निकाल रखी है। वह, फिर भी न जाने क्यों डरता रहता है। शायद, मरने के बाद के डर से।

आधुनिक प्राणी-विज्ञान ने बताया है कि माता-पिता के चरित्र, कर्म और अनुभव संस्कारों, प्रवृत्तियों, लगावों और आसंगों के सुरचित और सुनिर्मित रासायनिक यौगिक अपने आप कार्यकारी इकाई के रूप में संकलित होते रहते हैं और जीव के गुणों-अवगुणों को देते और प्रभावित करते रहते हैं। इन्हीं को जीन्स कहा करते हैं। ये आनुवांशिक इकाई के रूप में होते हैं। ये जीन्स रहते हैं व्यवस्थित और सजे-सजाये स्वरूप में गुणसूत्रों में। ये जीन्स

केवल माता-पिता से ही नहीं जब से जीव बना तभी से इकट्ठा होते रहते हैं और सन्तान में संक्रमित होते जाते हैं। पर यह आवश्यक नहीं कि निकटतम और तत्काल के माता-पिता के ही गुण-अवगुणों के ही जीन्स संतान में आते हैं। कभी-कभी आ भी जाते हैं और संतान के गुण-अवगुण, सूरत-स्वरूप माता-पिता से मेल खाते दिखते हैं, पर, निश्चित नहीं। जीन्स की संख्या बहुत बड़ी होती है और माता-पिता के सारे जीन्स उन दोनों के गुणसूत्रों में व्यवस्थित सजे रहते हैं। वे जीन जीवन के प्रारम्भ से ही इकट्ठे होते रहते हैं। माता के अलग तथा पिता के अलग प्रकार से आये हुए होते हैं। माता के डिम्ब और शुक्राणु में उनके सम्मिश्रण की संख्या और प्रकार क्रमचय और संचय की गणितीय विधि से मिलते हैं। यह मिश्रण ही नवजात शिशु के लिये भाग्य का निर्माण करता है। इसीलिए बहुधा दो भाई या बहन स्वभाव में ही नहीं, स्वरूप में भी न तो एक जैसे और न ही माता-पिता के स्वरूप और स्वभाव से मिलते-जुलते होते हैं। इसीलिए संसार में दो बच्चियाँ या दो बच्चे भी एक से नहीं होते। संभवतः हर शिशु एक अलग साँचे में ढला करता है और पैदा होते ही प्रकृति साँचा तोड़ देती है ताकि हर बच्चा अपने किस्म का अलग, अकेला, अनूठा और अद्वितीय रहे, वैसा और कोई दूसरा, सूरत में भी और सीरत में भी न हुआ हो, न है, न होगा।

स्पष्ट लगता है कि हम जो और जैसे हैं अपने किए कर्मों के फलस्वरूप ही हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मफल से ही संयुक्त और संबद्ध है। वर्तमान जन्म पिछले जन्मों के माता-पिता के शुभाशुभ कर्मों का फल है। अगले जन्म का आधार वर्तमान तथा पिछले जन्मों की कर्म राशि का अतिविशिष्ट या संयोगवशात् विधि से निर्मित होता है। सुख-दुःख बिना कर्म किये प्राप्त हो कैसे सकते हैं? जैसा कर्म वैसा फल। नहीं तो विधि के विधान में अन्याय, अकर्तव्यता, अकर्मण्यता, अशुभ, अहित, कारणाभाव, अकृत्य और अक्षम्य अपराध माना जायेगा इसे। शरीर तो बनता है उन सभी कर्मों के कारण जो तब से होते ही आ रहे हैं जब से जीव बना था। संभवतः मृत्युभय भी पूर्व जन्मों के संस्कारों से ही पैदा होता है। फिर पूर्वजन्म का स्मरण क्यों नहीं? बड़ा बालक बचपन की बातें भी तो याद नहीं रख पाता। हम भूल जाते हैं कि पूर्वजों का अपना सारा जीवन और नूतन संस्कारित जीवन शिशु में कार्य करते रहते हैं। माता-पिता ही तो शिशु के रूप में रूपान्तरित होते रहते हैं, अर्थात् शिशु ही माता-पिता के पुनर्जन्म रूप में प्राप्त होता है।

मानव भी तो अन्य जन्तुओं की तरह का एक जन्तु है। उसकी कोशिकाओं के केन्द्रक में कुछ सूत्रनुमा रचनाएँ दिखायी देती हैं। इनको गुणसूत्र कहते हैं। ये आकृति, माप और रचना में अनेक प्रकार के होते हैं फिर भी ये एक प्रकार के जीव में एक ही तरह के होते हैं। मनुष्य में माता और पिता में तेईस-तेईस जोड़े होते हैं। ये द्विसूत्री होते हैं। स्त्री में (22 जोड़े ए + X मादा गुण + X मादा गुण) और पुरुष में (22 जोड़े ए + X मादा गुण + Y पुरुष गुण) [ए = समजात, "आटोझोमस"] माता से डिम्बाणु मिलता है और पिता से अनेकानेक शुक्राणु। इस प्रकार पुरुष विषम युग्मिकी होते हैं। उसमें दोनों लिंग गुण X और Y होते हैं।

लेकिन स्त्री में दोनों ही स्त्री गुण समूह XX होते हैं। संभवतः प्रकृति ने बड़े ही सोच-विचार के बाद ऐसी व्यवस्था की है ताकि जीवन का पालन-पोषण और सबसे अधिक निर्माण कार्य स्त्री के माध्यम से ही हो सकता है। चार लिंग निर्माण की संभावनाओं में से तीन होते हैं— स्त्री अंग के गुण और केवल एक होता है पुरुष अंग का गुण (XX +XY)।

प्रश्न यह है कि स्त्री-पुरुष (माता-पिता) के गुणसूत्र शिशु में $46 + 46 = 92$ हो जाने चाहिये और हर बार दोगुने होते जाने चाहिए, पर ऐसा होता तो नहीं। कैसे? होता ऐसा है कि विभाजन द्वारा पुरुष में शुक्राणु दो तरह के बन जाते हैं A + X वाले और A + Y वाले। नारी समयुग्मिकी होती है। इसमें अंड जनन द्वारा केवल एक ही प्रकार के गुण (A + X) वाले रज अण्ड बनते हैं। युग्मज बनते समय यदि पुरुष के (A + X) और स्त्री के भी (A + X) मिल जायें तो $2A + X + X$ के कारण कन्या पैदा होगी और यदि पुरुष के (A + Y) और स्त्री के (A + X) मिल जायें तो $2A + X + Y$ गुणसूत्र होने के कारण बच्चा पुरुष होगा। अतः पुरुष का Y गुण ही बच्चे का लिंग निर्धारण करता है। पुरुष स्त्री में (X : Y :: 1 : 1) फिर भी प्रकृति में, मानव समाज में पुत्री : पुत्र = 100 : 104 (लगभग) का अनुपात होता है। कारण यह है कि Y वाले शुक्राणु हल्के होते हैं। अतः निषेचन में अधिक आसानी से सफल हो जाते हैं। बच्ची पैदा होगी यदि दो X आ जाएं, ये दोनों X केवल माता से ही मिलें या एक पुरुष के Y वाले के साथ का X हो।

इस प्रकार माता-पिता का पुनर्जन्म बच्चे-बच्चियों के रूप में होता रहता है। हर बच्चा ही माता-पिता का पुनर्जन्म है। माता-पिता का उद्देश्य (पुत्री-पुत्र के रूप में पुनर्जन्म लेकर जीते रहने की प्रक्रिया) पूरा हो जाता है। बाद में माता-पिता भले ही मर जायें और जला दिये या गाड़ दिये जायें कोई अन्तर नहीं पड़ता। माता-पिता तो ज़ीते ही रहते हैं (संतान के रूप में)। मौत उन्हें मिटा नहीं सकती। हाँ, धोखा तभी होगा जबकि माता-पिता को पुनर्जन्म द्वारा संतान ही न हो, संभवतः इसीलिए सन्तान न होना प्रकृति और समाज द्वारा गर्हित, दूषित और निन्दित माना जाता है। इसके द्वारा आधी या पूरी वंशावली ही समाप्त हो जाती है। एक या दो प्राणियों की आदि काल से संचित गुणावगुणों की कमाई बरबाद हो जाती है। कर्मवाद और जन्मान्तरवाद एक-दूसरे के परिपूरक होते हैं, इस सत्य में व्यवधान सा पड़ जाता है। कर्मवाद की शृंखला ही टूटकर बिखर जाती है।

जननिक एवं आनुवांशिक विद्याएँ आज जो सिद्ध करती जा रही हैं वे तथ्य शताब्दियों से युक्तिसंगत और व्यापक रूप से पूर्वी देशों में तो मान्य रहे ही हैं। हाँ, आज प्राणी-विज्ञान की प्रयोगसिद्ध और प्रमाणपुष्ट खोजों की दृष्टि से यह और भी अधिक स्पष्ट और रुचिकर हो गया है। चाहे जिस दृष्टि से सोचें पुनर्जन्म का आधार कर्मफल सिद्धान्त ही है। हमारा वर्तमान जन्म पिछले तमाम जन्मों के कर्मों का विपाक ही तो है। अगले जन्म का आधार वर्तमान एवं पिछले जीवनो में किये गये शुभाशुभ कर्मसमूह ही तो होगा। यदि कर्म पर

आधारित पुनर्जन्मका सिद्धान्त मान्य न होता तो इस लोक को अनियंत्रित, अनर्थक, अनर्गल और निष्प्रयोजन माना जाता और समझा जाता कि यहाँ अन्यायपूर्वक और मनमाने ढंग के लोगों को दण्ड-पुरस्कार प्राप्त हुआ करते हैं। जो लोग शाश्वत् जीवात्मा को मानते हैं वे भी उसे जीव के कर्म और उसके सतत् प्रवाह रूप को ही तो नित्य मानते रहे हैं। कर्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध तो मानना ही होगा, पूर्वजन्म व परजन्म मानकर ही हमें जन्मान्तर-वाद का अस्तित्व सिद्ध करना होगा। बस याद यही रखना होगा कि सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, स्वभाव, यश, धन, आदि किसी व्यक्ति को इसी जीवन में नहीं मिला करता है, वह तो केवल माता-पिता से प्राप्त संतान को ही मिला करता है। पूर्व जन्म में किये गये कर्मों और माता-पिता द्वारा किये कर्मों के कारण ही उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के शरीर मिला करते हैं।

कहा जाता है और माना भी जाता है, *योगसूत्र* और *व्यासभाष्य* से भी यही सिद्ध होता है कि जीवमात्र को मृत्यु-भय दिखायी देता रहता है। ज्ञात होता है कि ये अनेक बार के हुये ऐसे ही अनुभवों के कारण ही यह स्वाभाविक भय होता है। मृत्यु-स्मरण बिना मृत्यु-भय सताता कैसे? अतः प्राणीमात्र को मृत्यु-भय का सताना ही पुनर्जन्म का अनुमान कराता है। बालक के जन्म लेते ही हर्ष, भय, आदि की जो अनुभूतियाँ दिखती हैं उसका कारण पूर्वजन्मों के अनुभव ही तो हैं। सोते-सोते हँसना, रोना, डरना इस जन्म का अनुभव अभी कहाँ होता है? वह तो पूर्व जन्म की अनुभूतियों को ही स्मृतिस्वरूप में कारण रूप मानना ही होगा। पूर्वजन्म के अनुभवों का स्मरण कैसे रहता है? लगता है पूर्वजन्म की सिद्धि अनुमान मात्र ही से नहीं है। आधुनिक विज्ञान भी इसे जानता-मानता है कि जीवन तो अनन्त है।

मुसलमान और ईसाई न्याय दिवस को कर्मफल पाया करते हैं। आदम, हव्वा और शैतान की कहानी को दोनों ही सही मानते हैं। बिना अपराध के क्या शैतान को खुदा ने अपराधी नहीं बनाया? तीनों को शाप क्यों मिला? शैतान ने तो आदम, हव्वा को बहकाया भी नहीं था। लगता है कि खुदा के ऊपर कोई न्यायकर्ता नहीं। उसे किसी से डर नहीं? न्यायवादियों का तर्क आज भी मान्य है। वही निश्चयात्मक प्रतीत होता है। न्यायमत का विश्वास है कि हमारे अनुभव लुप्त या नष्ट नहीं हो सकते। हमारी कृतियाँ यद्यपि देखने में लुप्त सी दिखा करती हैं पर वे अदृष्ट बनी रहती हैं। और अपने परिणाम से "प्रवृत्ति" का रूप धारण करके पुनः अवसर पाकर प्रकट हो जाया करती हैं। प्रवृत्ति और कुछ नहीं, पुराने जन्मों की कृतियों के संस्कार हैं, जान-बूझकर किए प्रयत्नों के मूल में वह बनी रहती है।

भारत के पूर्वजन्मवादी और आधुनिक विकासवादी एक मत के हैं। माता-पिता से आने वाली संतान आनुवांशिक संक्रमण द्वारा ही यह संभव है। शून्य से उत्पत्ति का सिद्धान्त एकदम मान्य नहीं है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इसीलिए इतना महत्वपूर्ण है कि हम अपने साथ जन्म से पूर्वकालिक

अनुभवों को लेकर आया करते हैं। इसको माने बिना गति नहीं। क्या यह विश्वास सच है कि मृत्यु के बाद का अस्तित्व उतना ही सच है जितना जीवित काल का अस्तित्व? आखिर जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध किससे होता है? क्या भौतिक शरीर से? अस्तित्व तो अनादि और अनन्त है, शाश्वत् है। अतः उसके प्रारम्भ और अंत को सोचना ही मूर्खतापूर्ण कार्य है।

आज के भ्रूण वैज्ञानिक प्रजनन की अनेकानेक विधियों को नकारकर स्त्री-पुरुष की महत्ता को भी अस्वीकार करते जा रहे हैं। लैंगिक सृष्टि में प्रकृति युग्मनज बनते ही साँचा को सदा-सदा के लिए तोड़ फेंकती है अतः हर व्यक्ति अपने प्रकार का अलग, अकेला, अनोखा और अद्वितीय होता है, जैसा और कोई न कभी हुआ, न है और न कभी होगा। पड़ की दो पत्तियाँ भी तो एक सी नहीं होतीं।

पर इन्सान भी अजीब जीव है जो अपनी सृष्टि में न जाने कितने ही हमशक्ल बना सकता है। परेशान हैं दार्शनिक, धर्मशास्त्री, आचारशास्त्री और समाजशास्त्री इस वैज्ञानिक इंसान की करामात को देखकर। सृष्टिकर्ता भी नहीं कर पाते इस कार्य को। यह विधि है हमशक्ल बनाने की कला। इसे "क्लोनिंग" कहते हैं। किसी भी जीव की एक कोशिका को लेकर ठीक-ठाक उसी प्रकार का और शक्ल का जीव तैयार किया जा सकता है। पौधों, पतंगों और छोटे जीवों में तो पहले ही से ऐसा किया जाता रहा है। भेड़, बन्दर, चूहे, आदि पर तो सफल प्रयोग हो ही चुके हैं, मानव "क्लोन" भी बन चुका है। अब मरने से क्यों डरा जाये? दूध अधिक देने वाली गाएँ तैयार करके "क्लोनिंग" द्वारा अनेक देशों में डेयरी उद्योग चलाना प्रारम्भ हो चुका है। प्रश्न है कि "क्लोनिंग" द्वारा बना बच्चा किस माता-पिता का माना जाये? अब स्त्री-पुरुष की आवश्यकता ही क्यों? चिकित्सकीय क्षेत्रों में विशेष उपलब्धियाँ तो बड़े काम की अवश्य होंगी, पर, मानवीय संवेगों, क्षोभों, अनुभूतियों, आदि का क्या होगा? दो या अनेक हमशक्लों के हो जाने पर कितनी और कितने प्रकार की समस्याएँ पैदा होंगी? इसका भी अनुमान ये वैज्ञानिक कर पाते हैं?

भारत में जन्मदिन पर खुशी मनायी जाती है, पर मृत्यु-दिवस की पुण्यतिथि पर खुशी मनाने की परम्परा कभी नहीं रही है। हाँ, अतिवृद्ध या वृद्धा की मृत्यु पर, संत-महात्मा की मृत्यु पर बाजे-गाजे के साथ नाचते-कूदते और सजी-सजायी अर्थाँ जरूर निकाली जाती है। हमारी संस्कृति में तो जीवन की ही पूजा की प्रथा रही है। देवी-देवता, दुर्गा, सरस्वती, देवेन्द्र, शिव, विष्णु, आदि को ढलती उम्र का कभी दिखाया ही नहीं जाता। देवतागण बालरूप के या युवक रूप के ही दिखाये जाते हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र में हत्या या मृतक का दृश्य भी नहीं दिखाया जाता। भारतीय संस्कृति तो शुद्ध जीवनमुखी मानी जाती है। फिर आधुनिकता, नवीनता और सुधारवादिता को शाश्वत् क्यों मानें? पुण्यतिथि पर प्रसन्नता-प्रदर्शन संभवतः अंग्रेजी सभ्यता की देन है। हाँ, एक और बिरादरी है जो सम्बन्धियों, रिश्तेदारों या साथियों की मृत्यु पर नाचते-गाते और प्रसन्नता प्रदर्शित करते हैं। सगा-सम्बन्धी

अगर मर जाये तो और भी खुशी मनाते हैं, भारी दावत देते हैं। यह बिरादरी है हिजड़ों की, नपुंसकों की, स्त्रैणों की या जनखों की। इन्हें कितनी बड़ी प्रसन्नता होती है जब इस कलंकपूर्ण निकम्मे जीवन से छुटकारा मिल जाता है। परिवार नियोजन में वे सबसे आगे रहते हैं। मुगलों और मुस्लिम बादशाहों के समय में तो इन्हें बड़ा आदर मिलता रहा। यह एक महान् अन्याय है कि उन्हें राजकीय प्रतिनिधित्व भी तो नहीं मिलता। या तो चाहिए कि इतने विकसित वैज्ञानिक और चिकित्सकीय उपलब्धियों के फलस्वरूप शल्यचिकित्सा या औषधोपचार की विकसित विधियों या आज की अति आधुनिक जीनशास्त्रीय विधियों का प्रयोग करके इनकी सहायता या चिकित्सा का प्रबन्ध करें, और नहीं तो इन्हें तीसरा लिंग मानकर राजकीय प्रतिनिधित्व प्रदान करें। यह सचमुच महान् अन्याय है, प्रकृति-प्रदत्त दोष के लिये इन्हें शारीरिक, सामाजिक व संवैधानिक सजा क्यों मिले? सारी जीवन-शृंखला की कर्म-कमाई माता-पिता की ऐसी सन्तान का सदा-सर्वदा के लिये कालवह प्रवाह समाप्त हो जाता है, सृष्टि के सतत् प्रयास सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं, जीनों की अनगिनत संख्या का प्रभाव निष्फल चला जाता है। क्या आज का इतना विकसित जीन सिद्धान्त इन निर्दोष लोगों पर सजा के गुनहगार होने को दोष मानकर स्वयं को लज्जित करने का जघन्य अपराध नहीं करता।

मृत्यु आध्यात्मिक दृष्टिकोण

— मिनती

मृत्यु क्या है?

यह ध्रुव सत्य है कि शरीर क्षणभंगुर है, विनाशी है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी निश्चित होती है। जन्म-मृत्यु प्रकृति का नियम है। जीवन और मृत्यु एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे बचा नहीं जा सकता। मृत्यु जीवन का आधार है, नींव है। मृत्यु नहीं तो जीवन कहाँ?

प्रश्न है — मृत्यु क्या है? क्या जीव के देह में उपस्थित जीवन और जीव का देह से निकल जाने को मृत्यु कहते हैं? या श्वास के आवागमन के अवरुद्ध हो जाने को ही मृत्यु कहते हैं? क्या जीवन और मृत्यु ही वास्तविकता का निर्माण व विनाश ही नहीं, ये संयोग का प्रकट होना व छिप जाना है? दरअसल, मृत्यु तो नींद है। जिस प्रकार हम गाढ़ी नींद में अपने शरीर एवं सम्पूर्ण संसार को एकदम भूल जाते हैं, जिसे हम "छोटी मृत्यु" कहते हैं, उसी प्रकार मृत्यु को "लम्बी नींद" कह सकते हैं। संसार का विस्मरण ही मृत्यु है न कि चेतन सत्ता का अभाव।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार —

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जैसे मनुष्य फटे वस्त्र उतारकर नया वस्त्र पहनता है, वैसे ही जीव पुरानी देह त्यागकर नई देह का आश्रय लेता है। यह शाश्वत् सत्य है कि हम सब इस जन्म-मृत्यु की लहरों में हिचकोले खाते रहते हैं और खाते रहेंगे।

मृत्यु-भय क्यों?

मृत्यु का भय अन्य किसी भी भय से अधिक बलवान है। मृत्यु के डर से मनुष्य काँप जाता है। योगवाशिष्ठ के अनुसार "कीट और इन्द्र की जीने की आकांक्षा तो समान है ही, उनमें मृत्यु का भय भी समान है।"

"जो आया है, सो जायेगा, राजा रंक फकीर" या "एक दिन बिक जायेगा माटी के मोल" जैसी बातों को सुनकर, पढ़कर और याद करके भी मृत्यु से हम भयभीत हो उठते हैं। मनुष्य, किस दिन मरेगा, इसकी चिंता एवं भय तो करता है, परन्तु जो हर क्षण मर रहा है उसकी चिन्ता नहीं, अनुभूति नहीं। क्योंकि मनुष्य जीना चाहता है, मरना नहीं, परन्तु जीवन अनिश्चित है और मरना निश्चित। रोग से पीड़ित, खाट में पड़ा हुआ व्यक्ति भी मरना नहीं चाहता। जीवन के प्रति इतना मोह क्यों? क्या मृत्यु भयानक है? या भयदायक है? नहीं। न तो मृत्यु भयानक है और न ही भयदायक। मृत्यु तो शान्ति और आरामदायक है। भयदायक हैं हमारी वासनार्यें। असल में, जब तक हमारी वासनाएँ शान्त नहीं होतीं, तब तक हम इस बात को समझ नहीं पाते हैं कि मृत्यु स्वाभाविक और शान्तिदायक है। जिनकी वासनाएँ निवृत्त हैं "वे जन सदा अनन्दा"। उन्हें मृत्यु का भय कभी नहीं होता क्योंकि उनकी मृत्यु-भय की वासना भी निवृत्त रहती है। वासनाएँ ही मृत्यु का भय उत्पन्न करती हैं। जिनकी वासनाएँ छूट गयी हैं, उन्हें मृत्यु का भय कैसा?

वासनाओं से छूट जाने पर जिस प्रकार मन के उपद्रव मिट जाते हैं, वैसे ही मृत्यु होने पर शरीर के उपद्रव भी मिट जाते हैं। शान्ति ही सुख है। वासना निवृत्ति और मृत्यु से शान्ति ही नहीं महाशान्ति मिलती है। अतः जो निश्चित है, जो अवश्यंभावी है, उसके लिये चिन्ता क्यों? जीवन का प्रवाह तो अनन्त है और अमर है। उसकी मृत्यु का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। शरीर की मृत्यु या नष्ट होने को हम अपनी मृत्यु मानते हैं, बस इसीलिए डरते हैं और भयभीत होते हैं। यदि अपने अन्तःकरण को यह विश्वास हो जाये कि आज की तरह हमें आगे भी जीवित रहना है तो डरने की कोई बात ही नहीं रह जाती। बस, भ्रमवश मनुष्य यह समझ बैठा है कि जिस दिन शिशु माता के गर्भ में आता है या गर्भ से उत्पन्न होता है, उसी समय से जीवन आरम्भ होता है, और हृदयगति बन्द हो जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है, तो मृत्यु को प्राप्त होता है। परन्तु यह एक बहुत ही अधूरा एवं अज्ञानमूलक विश्वास है। जिनको यह ज्ञान है कि "आत्मा अमर है, नित्य है, शरीर के न रहने पर भी वह रहती है", उनको ही केवल मृत्यु की चिन्ता नहीं रहती है क्योंकि वह जानता है कि हम शरीर नहीं, बल्कि आत्मा हैं, फिर मरने का कैसा भय!

गम्भीर विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जीवन और शरीर एक वस्तु नहीं है। उदाहरण के लिये – जिस प्रकार हम कपड़ों को यथासमय बदलते रहते हैं, उसी प्रकार जीव को भी शरीर बदलने पड़ते हैं। स्वभावतः कपड़ा पुराना जीर्ण-शीर्ण होने पर ही अलग किया जाता

है, पर कभी-कभी जल जाने, किसी चीज़ से उलझकर फट जाने, या अन्य कई कारणों से वह थोड़े ही दिनों में बदल देना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार शरीर साधारणतः वृद्धावस्था में जीर्ण-शीर्ण होने पर नष्ट होता है परन्तु यदि बीच में ही कोई आकस्मिक घटना या कारण उपस्थित हो जाये तो अल्पायु में ही शरीर त्यागना पड़ता है। बाल, युवा और वृद्धावस्था, ये शरीर की तीन अवस्थाएँ होती हैं। यदि मनुष्य अपनी इन सभी अवस्थाओं (बाल, युवा और वृद्ध) पर और जीवन की क्षणभंगुरता पर विवेक से विचार करें तो शोक-पीड़ित और आश्चर्यचकित नहीं होंगे। शरीर परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण शरीर प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। शरीर और मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहती है। इसलिये शरीर सर्वदा ही परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। "निर्विशेष" और "सर्विशेष" आदि सभी तत्त्वदर्शियों ने इस सिद्धान्त को माना है।

वास्तव में जन्म-मृत्यु हमारे जीवन के अनिवार्य अंग ही नहीं बल्कि हमारा सहज स्वभाव भी है। मृत्यु तो कुछ भी नहीं है। जिन विषयों से सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं वे सब स्पर्श अनित्य हैं, आते-जाते रहते हैं, उससे अविचलित रहकर हमें उन सबको ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिये। जो व्यक्ति अपने को अब इन सबों से पृथक्, छिटका हुआ अनुभव करता है, उसे अपने अलगाव की स्थिति के समान होने का भी भय सताता है और इसी को "मृत्यु-भय" कह सकते हैं। मृत्यु की भावना या भय से मुक्त होने हेतु गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना है कि -

हमें उस महान् पुरुष को जानना होगा जो अन्धकार से सर्वथा परे है,
परम ज्योतिर्मय है, नित्य है और शाश्वत् है। वस्तुतः इसके अतिरिक्त
कोई दूसरी राह नहीं है।

मृत्यु के भय से अविचलित रहने वाले कबीर दास जी ने स्पष्ट रूप में कहा था कि -

जे ही डर को सब लोग डरे हैं, सो डर हमरे नाहिं।

जबकि यह परम सत्य है कि जीव का अपना कुछ भी नहीं है, किन्तु वह अविवेकवश अपने स्वजनों से, परिचितों से, शरीर से, प्राणी एवं पदार्थों से मोह कर लेता है। इसलिये वह इन सबको छोड़ने से कतराता है और दुःखी हो जाता है। और यही मृत्यु से डरने का मुख्य कारण है। यदि वह इस दृश्यमान संसार का मोह छोड़ दे तो उसे मृत्यु-भय बिल्कुल न रहे। "जो प्रतीत संसार से अपने आपको अपने आप में लौटा लेता है, उसके लिये जीना और मरना बराबर हो जाता है।" परन्तु मानव मृत्यु से भयभीत होकर उसका नाम तक लेना नहीं चाहता। यहाँ तक कि विवाह, जन्मोत्सव, आदि मांगलिक कार्यों में तो कोई मृत्यु शब्द का उच्चारण तक नहीं कर सकता। ऐसे मांगलिक कार्य में अमंगल के शब्द! आश्चर्य की

बात है कि जो मृत्यु निरन्तर दबे पाँव मनुष्य की ओर अग्रसर हो रही है, उससे वह आँखें छिपाना चाहते हैं। और अपनी वास्तविकता को स्वीकारने से कतराते हैं। हम तो मौत को भुलाकर मौत से बचना चाहते हैं और इस प्रकार अज्ञान और अविवेकी मनुष्य सर्वदा अपने आपको छलता है, धोखा देता है। यह सत्य है कि देह स्वभाव से नाशवान है। उसका विनाश तत्काल हो अथवा सौ वर्ष बाद, इसमें केवल समय का ही प्रश्न है। उसे अनिश्चित काल तक बनाये रखने की कोई भी संभावना नहीं, प्राकृत देह से आत्मा के जाते ही देह का विघटन होने ही लगता है। इसलिये प्रत्यक्ष रूप से देह का अस्तित्व आत्मा से ही है, उसका अपना कुछ भी महत्त्व नहीं है।

यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा था कि मानव-जीवन में सबसे बड़ा आश्चर्य का विषय क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि असंख्य प्राणी नित्य मरते हैं, इसको देखते हुए भी दूसरे मनुष्य ऐसा काम करते हैं जैसेकि वे कभी नहीं मरेंगे, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

क्या यह आश्चर्य की बात, नहीं है कि जिन सांसारिक कार्यों को हम जीवन भर कर चुके हैं, देख चुके हैं और अनुभव कर चुके हैं फिर भी उसी को देखने और करने के लिये बहुत दिनों तक हम जीना चाहते हैं? प्रिय से मिलना-बिछुड़ना, अप्रिय का संयोग, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, विपत्ति-सम्पत्ति, रोग-निरोग, लड़ाई-झगड़े, राग-द्वेष, इत्यादि। जबकि उसमें कुछ "सार" या "सृत्य" नज़र नहीं आता फिर भी उसमें इतना आकर्षण क्यों? इतना लगाव क्यों? संसार की क्रियाओं की "निस्सारता" को देख-लेना और जान-लेना ही ज्ञान की परिपक्वता है। अगर हम राम, कृष्ण, सिकन्दर, अशोक, आदि के शासन, ऐश्वर्य आदि को ध्यान में लें, तो अब उनकी वंश-परम्परा का कोई पता नहीं रह गया। सभी "काल" के आगोश में समा गये। काल की आग में ही सारे प्राणी और पदार्थ पकते हैं, क्षीण होते हैं और भस्म होकर समाप्त हो जाते हैं। इस निरन्तर प्रज्वलित कालाग्नि को जो सदैव देखता है, उसे ही संसार में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। वह तो केवल परोपकार का ही काम करता है।

इस संदर्भ के सारांश में यही कह सकते हैं कि मनुष्य जीवन भर केवल अपनी व्यवस्था में ही लगा रहता है। उसे विश्राम करने का समय ही नहीं मिलता। हे मन! इस संसार में कब तक दौड़ोगे? और दौड़ते-दौड़ते कब थकोगे? मृगतृष्णा से तपती धूप में कहीं पानी है? दौड़ने का फल क्या शान्ति है? आखिर बिस्तर बिछाते हुए जीवन बीत जाता है, आदमी विश्राम करने का अवसर ही नहीं पाता और वह यहाँ से चल देता है। संसार से थको और रुको तभी सच्ची शान्ति पायेंगे। ईशू मसीह ने कहा है – आओ हम तुम्हें विश्राम दें।

अगर जीवन की प्रत्येक घटना एवं उपलब्धि पर नज़र डालें और उसकी समीक्षा करें तो अन्त में कुछ भी "सार" हाथ नहीं लगेगा। इसलिए, बाहर की घटनाओं एवं उपलब्धियों में हम न रमें बल्कि अपने आप में ही रमना सीखें। सब साधनाओं का "सार" है वैराग्य और

बिना वैराग्य के सारी साधना खोखली है। इसलिए मन को वैरागी बनायें और निर्विषय निर्विकार और निश्चिन्त होकर जीवन को शांतिपूर्वक जीयें।

मृत्यु का शोक क्यों?

हम यह जानते हैं कि जीव बार-बार जन्म लेता है और मरता है, फिर भी उसके लिए शोक क्यों? व्याकुलता क्यों? और विलाप भी क्यों? सम्भवतः यह हमारी अज्ञानता या दुर्बलता ही है, जीव आशंकितवश बार-बार शरीर धारण करता है और शरीर धारण करते ही वह इन्द्रियों तथा संकल्पों से जुड़ जाता है। इन्हीं के द्वारा वह संसार को ग्रहण करता है और बंध जाता है।

इस सन्दर्भ में *गीता* में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि — मृत्यु मनुष्य के हृदय में शोक उत्पन्न करता है। मनुष्य मात्र के लिये मृत्यु व विच्छेद बहुत भयंकर है, तथा जीवन बहुत मूल्यवान। शोक असाध्य है व कर्तव्य एक कठोर वस्तु होता है। मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि को मधुर जानकर हर्षित होता है, दुःख मानता है, हँसता है, रोता है लेकिन, इन सभी वृत्तियों को कोई ज्ञान से उत्पन्न वृत्तियाँ नहीं कह सकता। ज्ञानी व्यक्ति शोक नहीं करता, न मृत व्यक्ति के लिये और न ही जीवित के लिये क्योंकि वे जानते हैं कि मृत्यु व्यक्ति की वास्तविकता का अन्त नहीं है। मृत्यु की राख पर जीवन का कोमल पौधा उगता है और जीवन को जीकर मृत्यु की राख में विसर्जित हो जाता है और पुनः-पुनः यही चक्र चला करता है। अतएव हम जीवन में जो कुछ करते हैं वह जीवन के साथ समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि उसके कर्म-संस्कार आगे जन्मान्तर में चलते हैं और अपने कर्मों को फल के रूप में भोगना पड़ता है।

देहिनोस्मिन्थथा देहे-कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

गीता के अनुसार जिस प्रकार जीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन, वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। जन्म तो केवल उस देह का होता है जो उसने धारण किया है। वह जीर्ण देह को त्यागकर नूतन देह को धारण करने से नवशक्ति युक्त हो जायेगी। इस विचार से तो प्रसन्न ही होना चाहिए, इसलिए इनमें से किसी भी अवस्था के लिये शोक का कोई कारण नहीं होना चाहिये। सिर्फ ज्ञानी पुरुष ही देह परिवर्तन से व्याकुल और शोक से आकुल नहीं होते। वे जानते हैं कि हमारा आत्मिक जीवन अनादि और अनन्त है जिसका न तो कोई आदि है और न ही अन्त, जो न तो जन्मता है और न ही मरता है, जिसका न तो विच्छेद होता है और न ही क्षीणता, न ही विकास और न विकार, जो अजर-अमर है, नित्य-सनातन है। हम चिरकाल से एक हैं। आत्मा सदा से अविनाशी है और सदा ही रहेगी। हम जीवन-मरण, सुख-दुःख इसी पृथ्वी पर भोगते आये हैं। प्रकृति के विशाल रंग-मंच पर हँसने-रोने का अभिनय करते हैं। शत्रु

और मित्र बनकर, बुद्ध और शान्ति, प्रेम और कलह के रस का आस्वादन करते हैं। फिर कल-परसों देह त्यागकर चले जायेंगे। यह हमारी अनन्त क्रीड़ा में केवल एक मुहूर्त मात्र, क्षण भर का खेल है और कुछ ही क्षणों का प्रेम है। हम प्रकृति के ईश्वर हैं। जीवन-मरण के कर्ता ईश्वर के अंश हैं। हम थे, हम हैं और हम रहेंगे। भूत, वर्तमान और भविष्य के अधिकारी हैं। तब मृत्यु का शोक कैसा? और क्यों? हम तो उस परमेश्वर के अमृत की संतान हैं। आनन्द की सन्तान। कौन मरता है और मारता है?

गीता के अनुसार -

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजातीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है, और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं। यथार्थ ज्ञानी ही जानता है कि आत्मा न तो मरती है और न ही कभी मारी जाती है, अर्थात् मृत्यु तो केवल देह की ही होती है।

इस प्रकार अगर इस सत्य को हम समझ पाते, जान जाते तो न ही मृत्यु से डरते और न ही शोक करते। जिसे अपने मरने का भय होता है, शोक होता है, वह अपने आप के महत्त्व और तत्त्व को समझ नहीं सकता। मृत्यु हमारा स्पर्श तक नहीं कर सकती। मनुष्य केवल अपने शिवत्व को भूलकर दुःखी और शोकाकुल होता है।

क्या मृत्यु-चिन्ता महामुक्ति का मार्ग है?

युग-युग से असंख्यवार प्राणी जन्म-मृत्यु के चक्र में घूम रहा है। जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य को मृत्यु-चिन्ता को महासम्बल मानकर ग्रहण करना होगा। क्योंकि मृत्यु-चिन्ता ही मनुष्य को रिपु की उत्तेजना और इन्द्रियों की पीड़ा से रक्षा करती है। विषय-वासना को नष्ट करके मृत्यु-चिन्ता मनुष्य के मन में विवेक-वैराग्य जगाती है, भोगविलास की इच्छा को नष्टकर मानव-प्राण में मुक्ति की आकांक्षा जगाती है। जो व्यक्ति सदा मृत्यु-चिन्ता करता है वह कभी भी किसी प्रलोभन द्वारा प्रबुद्ध/प्रलुब्ध नहीं होता, किसी माया-मोह से आबद्ध नहीं होता। जो व्यक्ति हर पल प्रत्येक भावना, प्रत्येक चिन्ता में सोते-जागते मृत्यु की स्मृति को मन से लगाकर रख सकता है वह शीघ्र ही महामुक्ति पाने में समर्थ होता है।

असल में, हम सब अवस्तु में वस्तु बोध से, असत् में सत्य बोध से, व माया-मोह में, पिता-माता के स्नेह और सुश्रुषा में प्रलुब्ध और मुग्ध होकर अपना जीवन, जन्म व्यर्थ कर रहे हैं। हमारे शुभ-अशुभ कर्मों के फल हमारे माता-पिता या कुटुम्ब को भुगतना नहीं होगा, यह सिर्फ हमें ही भोगना पड़ेगा। अतः हम व्यर्थ ही माया-मोह और झूठे कर्तव्य-बोध से उनके प्रति आबद्ध होकर अपने जीवन के अमूल्य समय को नष्ट कर रहे हैं। यदि इसी क्षण हमारी मृत्यु होती है तब चिता पर दो मुट्ठी भस्म या राख के अलावा कुछ भी अवशेष नहीं रह

जायेगा। विपुल वैभव, ऐश्वर्य, माता-पिता, कुटुम्ब, मित्र, स्वजन और प्रियजन की लाख कोशिश के बावजूद अन्तिम शय्या मृत्यु की गोद में ही होगी। उसे कोई भी टाल नहीं सकता।

इस मृत्यु-चिन्ता से कई बड़े एवं महान् सन्तों का आविर्भाव हुआ। इसी मृत्यु-चिन्ता से ही वैराग्य प्राप्त कर सिद्धार्थ को "बुद्धत्व" लाभ हुआ। इस मृत्यु-चिन्ता से ही शंकर बाल्यकाल से ही संन्यासी हुए और इस मृत्यु की भावना से ही 1896 ई. में रमण महर्षि सत्रह साल में ही महान् सन्त के रूप में जाने गये।

इस सन्दर्भ में तत्त्वदर्शी योगियों का मत है कि साधारणतः मृत्यु से कुछ समय पूर्व मनुष्य को बेचैनी, पीड़ा और छटपटाहट होती है क्योंकि सब नाड़ियों में से प्राण खिंचकर एक जगह एकत्रित होता है। लेकिन पुराने समय के अभ्यास के कारण वह फिर से नाड़ियों में खिसक जाता है, जिससे एक प्रकार का आघात लगता है और यही पीड़ा का कारण है। रोग, आघात या अन्य जिस भी कारण से मृत्यु हो रही है तो उससे भी कष्ट होता है। मृत्यु से पूर्व प्राणी अवश्य ही कष्ट पाता है, चाहे वह जुबान से उसे प्रकट कर सके या न कर सके। क्योंकि रोग या अन्य किन्हीं कारणों से शरीर और जीव के बन्धन टूटने आरम्भ हो जाते हैं। लेकिन जब प्राण निकलने का समय बिल्कुल पास आ जाता है तो एक प्रकार की मूर्छा आ जाती है और शारीरिक शिथिलता और अचेतनावस्था में प्राण शरीर से बाहर निकल जाता है। जब मनुष्य मरने वाला होता है तो उसकी समस्त बाह्य शक्तियाँ एकत्रित होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और फिर स्थूल शरीर से बाहर निकल जाती हैं। अक्सर ऊर्ध्व रन्ध्रों से प्राण निकलते हैं। जैसे - मुख, आँख, कान, नाक प्रमुख मार्ग हैं। योगी केवल ब्रह्मरन्ध्र से प्राण त्याग करता है। कबीर कहते हैं -

दस द्वारे का पींजरा, ताके पंछी पौन।

रहबे को अचरज अहै, जात अचम्भौ कौन।। - बीजक, साखी

यह शरीर रूपी पिंजड़ा, जिसमें (आँखें, नाक, कान, आदि) दस दरवाजे हर समय खुले हों और उसमें प्राणरूपी पंछी रहता हो, तो उसका उसमें टिके रहना ही आश्चर्यजनक विषय है, उड़ जाने में नहीं।

शरीर से प्राण निकल जाने के बाद एक विचित्र अवस्था आ जाती है। जैसेकि घोर परिश्रम से तथा थका हुआ प्राणी कोमल शय्या प्राप्त करते ही सो जाता है, उसी प्रकार मृत आत्मा का जीवन भर का सारा श्रम उतारने के लिये एक निद्रा की आवश्यकता होती है। इस नींद से जीव को बड़ी ही शान्ति मिलती है। मरते ही नींद नहीं आ जाती है वरन् इसमें कुछ देर अवश्य लगती है। कारण यह माना जाता है कि प्राणान्त के बाद कुछ समय तक जीवन की वासनाएँ प्रौढ़ रहती हैं और धीरे-धीरे ही निर्बल पड़ती हैं।

जीवन के इस सत्य को लक्ष्य करके डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने एक स्थान पर लिखा है -

आदि से अंत तक हमारा जीवन एक प्रकार की मृत्यु है, जिसका अर्थ है अधिक विशाल जीवन, हमारे शरीर में प्रति क्षण कोशिकाएँ बनती व टूटती रहती हैं। इसी प्रक्रिया में जब नयी कोशिका का बनना बंद हो जाता है तब स्थूल शरीर के असमान को लोक भाषा में मृत्यु कहा जाता है।

योगी श्री अरविन्द ने अपने महान् और अमरकृति सावित्री में सांकेतिक रूप में मृत्यु का जीवन्त चित्रण किया है -

मृत्यु संग एकाकी निकट विनाश छोड़के,
अप्रतिम महिमा उसकी अंतिम रौद्र दशा में,
करना होगा पार उसे ही निपट अकेले।
काल-परिधि में भीषण जोखिम भरे सेतु को
और पहुँचाना शीर्ष-बिन्दु पर जगत नियति के,
जहाँ मनुज हित सब जीता या हारा जाये।

क्या मनुष्य प्रायः मृत समान है?

यह आवश्यक नहीं है कि मृत का आशय सिर्फ शव से हो। जीवित मनुष्य से अपेक्षित व्यवहार के अभाव में हम उन्हें मृत समान मान लेते हैं। जो मनुष्य समाज के काम नहीं आता, और अपने में ही केन्द्रित रहता है, वह मृत्यु की गोद में जीता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति तो अन्य प्राणी भी कर लेते हैं, परन्तु मनुष्य इन आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त भी "कुछ करता है" और वह "कुछ ही" उसके जीवन का सब कुछ है, उसकी पूँजी है।

मनुष्य का असली स्वरूप उसका "मनुष्यत्व" है। धर्म वही है जिससे अपना तथा दूसरों का परिणाम में कल्याण हो। इस प्रकार के धर्म का आचरण ही मनुष्य-शरीर एवं जीवन की सार्थकता है। मनुष्य को कर्म करने का अधिकार प्राप्त है, इसलिए मनुष्य केवल "भोगयोनि" नहीं है, बल्कि "कर्मयोनि" है। वह अपने कर्मों के द्वारा अपना भविष्य दुःखमय बना सकता है और सुखमय भी। इस सिद्धान्त को समझकर जो मनुष्य कर्माधिकार का सदुपयोग करता है वही बुद्धिमान है और उसका जीवन-मृत्यु दोनों ही सफल हैं।

शास्त्रकारों ने मनुष्य मात्र के जन्म को पुण्य का फल बतलाया है और जब उसके जीवन में मिथ्याचार, पापाचार, दुराचार और सम्पूर्ण वासनाओं की छाया छायी रहती है तो उसका जीवन कैसे शान्त और सुखी रह सकता है? जब जीवन इतना अशांतिदायक है तो मृत्यु कष्टदायक होगी ही। वह तो जीवित अवस्था में भी मृत प्रायः ही है। क्योंकि उसमें

आत्म परिबोध नहीं होता, और न आत्मविवेचन ही। जिसको यह भी भान नहीं है कि मैं कौन हूँ और मेरी कितनी शक्ति है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास तो क्या, स्वयं अपना विकास भी नहीं कर सकता। वह तो केवल शरीर, स्वार्थ, इन्द्रियों और मन के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित हो जाता है, जिसके कारण उसका जीवन असत्य कार्यों में व्यतीत होता है, वह मनुष्य के शरीर में पशु स्वभाव होने के कारण लोगों के दुःखों और कष्टों का कारण बनता है। इसलिये उसे "आत्मबोध" होता ही नहीं।

स्वामी विवेकानन्द जी कहा करते थे कि जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है विस्तार। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो तुम्हें फैलना होगा। जिस समय तुम जीवन का विस्तार बन्द कर दोगे, उसी क्षण जान लेना कि मृत्यु ने तुम्हें घेर लिया है।

आत्म-विस्तार का अर्थ संतति की संख्या में वृद्धि करना नहीं है बल्कि समस्त प्राणी-जगत् के प्रति आत्मीय भाव स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील बनना है। आत्मीय भाव का व्यावहारिक पक्ष है उपकार अथवा सेवाभाव। आत्मीय भाव के विकास के अनुपात में ही व्यक्ति को अमरत्व प्राप्त होता है। प्राणी-जगत् के साथ एकाकार होने की स्थिति में मनुष्य "स्व" और "पर" का भेद भूलकर समष्टि के साथ एकरस होकर मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

मरने की कला

मृत्यु का ध्यान आध्यात्मिक उन्नति के लिये मुख्य साधनाओं में से एक है। मृत्यु का ध्यान आते ही सारा अहंकार चूर्ण हो जाता है। मृत्यु से जुड़े वस्तुतः सारे मनोविकार स्वप्नवत् हैं और जीव का सम्बन्ध किसी से भी नहीं है। भावपूर्वक मृत्यु का स्वरूप होते ही सारे मनोविकार विलुप्त हो जाते हैं। मृत्यु के उपरान्त अपने माने हुए सब कुछ का अन्त निश्चित है क्योंकि मृत्यु ही अटल सत्य है। पहले ही कहा गया है कि जीवन के साथ मृत्यु का गहरा संबंध है। जो जीना जानता है, वह मरना भी जानता है। अनासक्त या आसक्ति रहित होकर जीना "जीने की कला" है। इस सन्दर्भ में कबीरदास जी कहते हैं -

कहहिं कबीर ते उबरे, जाहिं न मोह समाय।।

उनके अनुसार संसार के सब लोग एक-न-एक दिन मरते ही हैं, परन्तु वे मरने की कला नहीं जानते। सब तरह से अनासक्त होकर नहीं मरते, जिससे कि पुनः जन्म-मरण के चक्र में न आना पड़े। जगत् के सब लोग तो मरते ही हैं परन्तु वे सत्यासत्य का विवेक नहीं करते। इस संसार में लोग दो मनःस्थितियों में हैं - एक तो मरते हैं अनासक्त होकर, स्वयं विवेक में स्थित होकर शरीर त्यागते हैं वे "जीवमुक्त" होकर मरते हैं, और दूसरे वे हैं - जो विषयों, वासनाओं में आबद्ध होकर मरते हैं, जिसके मरने से जगत् के लोग डरते हैं। किन्तु कबीर कहते हैं - मृत्यु को याद करके मेरे मन में आनन्द उत्पन्न होता है और सोचता

हूँ कि कब यह शरीर छूटेगा और देहापाधि के दुःखों से भी निवृत्त होकर पूर्ण परम शक्ति में स्थित हो जाऊंगा। वे कहते हैं –

मरते-मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय।
 ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥
 मरते-मरते जग मुवा, बहुरि न किया विचार।
 एक सयानी आपनी, परवस मुवा संसार॥

– बीजक, साखी, 324 / 325

कबीर स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं –

जेही मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
 कब मरिहौं कब पाइयौ, पूरन परमानन्द॥

– साखी ग्रन्थ

इस सन्दर्भ में सुकरात की मृत्यु का उदाहरण अवर्णनीय है – सुकरात को जहर दिये जाने के समय उनके सभी सगे-सम्बन्धी वहाँ आँसू बहा रहे थे जबकि कटुतारहित उनके मुख-मण्डल पर प्रसन्नता, प्रफुल्लता परिलक्षित हो रही थी। ऐसा लगता था कि मानो अंतस् में किसी प्रियजन से मिलने की उमंगें उठ रही हों। पास में खड़े शिष्यों ने जब इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा – “मैं मृत्यु से साक्षात्कार करना चाहता हूँ और यह भी जानना चाहता हूँ कि मृत्यु के बाद हमारा अस्तित्व रहता है या नहीं। मृत्यु जीवन का अन्त है अथवा एक सामान्य जीवन-चक्र।” और सुकरात को निर्धारित समय पर विष देते समय सभी दर्शकों की आँखें सजल हो उठीं। उन्होंने उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित करते हुए कहा – “मृत्यु जीवन का अन्त नहीं, एक अविरल प्रवाह है। जीवन की सत्ता मरणोपरान्त भी बनी रहती है।”

निष्कर्ष

उपरोक्त विचारों के निष्कर्ष के रूप में यह प्रश्न प्रमुख एवं गम्भीर रूप से सामने आता है कि आखिर मनुष्य को कैसे जीवन-यापन करना चाहिये, जिससे अन्तिम क्षण में वह निर्भय मृत्यु की गोद में समा सके। एक साधारण सांसारिक प्राणी, क्या आसक्तहीन और निर्विकार-कर्तव्ययुक्त होकर अपना पूरा जीवन व्यतीत कर सकता है? यह एक कटु सत्य है कि जीवन के हर पल, हर क्षण में वासनाएँ, तृष्णा और स्वार्थ अनेक रूपों में साथी बनकर अपनी बाँहें फैलाये हमें प्रलोभन देकर प्रलुब्ध कर रही हैं जिसके कारण मनुष्य की जन्म से मृत्यु तक की यात्रा दुःखी और भयंकर कष्टों के द्वारा जर्जरयित और उत्पीड़ित है। वह मृत्यु के क्षण तक प्रभावी रहता है। अतः प्राणी स्वाभाविक रूप से मृत्यु को ग्रहण नहीं कर पाता। आखिर प्राणी कैसे और किस रूप में जीवन व्यतीत करे जिससे सारे प्रपंचों से छुटकारा मिल सके।

और सत्य का सामना करते हुए सत्कर्म करें। इस प्रश्न के उत्तर में महायोगी श्री अरविन्द जी का कथन श्रेय है –

परमोच्च प्रभो सत्य नित्य त्वमेव केवलम्।

अनुवर्तामहे सत्यं अनुजीवाम केवलम्॥

अर्थात् हे परम प्रभु "शाश्वत् सत्य" हम केवल तेरी ही आज्ञा मानें और "सत्य" के अनुसार जियें।

अमरत्व पर विषरूपी मृत्यु का तांडव

— अजय कुमार श्रीवास्तव

आत्मा ही अमृत है। ऐसा हमारे शास्त्रों का मत है। "न मृत्यो अमृतः" जो मृत न हो वही अमृत है। अर्थात् — अमृत कहते हैं मृत्यु के अभाव को, मृत्यु ही जीव के लिए सबसे बड़ा भय है। आत्मा तो सदा अमर है। उसका न कभी जन्म होता है और न मृत्यु। *गीता* के अनुसार —

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

यह आत्मा किसी काल में न तो जन्म लेती है और न मरती ही है तथा यह न उत्पन्न होकर फिर होने वाली है; क्योंकि यह अजन्मी, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती। परन्तु अनादि अविद्या के वशीभूत हुआ यह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल बैठा है और इस पंचभौतिक शरीर में ही, जो प्रकृति का कार्य होने के कारण परिणामी और नश्वर है — इसकी "अहं" बुद्धि हो रही है। यही कारण है कि यद्यपि उपर्युक्त भगवद्वाक्य के अनुसार शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश नहीं होता, फिर भी अज्ञानवश शरीर के नाश को यह अपना नाश मानने लगा है, शरीर के सुख को अपना सुख और शरीर के कष्ट को अपना कष्ट मानता है। शरीर के सुख के लिए यह अनेक अवैध आचरण पापाचरण करता है और फलतः बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़कर दुःखी होता है।

यह मृत्यु-भय चींटी से लेकर हाथी तक और कीट-पतंगादि निकृष्ट योनियों से लेकर उत्तम से उत्तम देवादि योनियों तक सबको समान रूप से घेरे हुए है। यद्यपि शास्त्रों में देवयोनि को अमर बतलाया है एवं संस्कृत-कोश में देवताओं का एक नाम "अमर" भी आता है — "अमरा निर्जरा देवाः" तथापि देवता वास्तव में अमर नहीं हैं। उनका अमरत्व अपेक्षाकृत है — वे हम मर्त्यलोक के निवासियों की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते हैं। उनकी आयु हम लोगों की आयु से सैकड़ों गुणा लम्बी होती है। उनका अहोरात्र हमारे एक वर्ष के बराबर

होता है — छः महीने की रात्रि और छः महीने का दिन। जितने काल तक भगवान सूर्य उत्तरायण में रहते हैं, उतने काल तक उनका दिन रहता है और जितने काल तक वे दक्षिणायन में रहते हैं, उतनी लम्बी उनकी रात्रि होती है। उनके कालमान से उनकी आयु सौ वर्ष की होती है। इस प्रकार उनकी आयु हम लोगों की गणना से 36,000 वर्ष से ऊपर होती है। इस प्रकार से वे हमारी दृष्टि में एक प्रकार अमर से ही हैं, क्योंकि उनके एक जीवन-काल में हमारी हज़ारों पीढ़ियाँ समाप्त हो लेती हैं। जैसे एक मच्छर की दृष्टि में हम मनुष्य भी एक प्रकार से अमर ही हैं, क्योंकि हमारे जीवन-काल में मच्छरों की हज़ारों पीढ़ियाँ बीत जाती होंगी। उसी प्रकार हम मानवों तथा मर्त्यलोक के अन्य प्राणियों की अपेक्षा, जिनकी आयु हमारी अपेक्षा भी अल्प होती है, देवताओं का अमर कहलाना उचित है। इसी दृष्टि को सामने रखकर हमारे शास्त्रों में देवताओं का अमर कहलाना उचित है। इसी दृष्टि को सामने रखकर हमारे शास्त्रों में देवताओं के लिए "अमर" अथवा "अमर्त्य" तथा भूलोक के अन्य प्राणियों के लिए "मर्त्य अथवा मरणधर्मा", "मरणशील", आदि शब्दों का एवं भूलोक के लिए "मर्त्यलोक", आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है। वास्तव में देवता भी हम मानवों की भांति ही "मर्त्य" अथवा मरणधर्मा ही हैं। स्वर्गलोक से गिरना ही उनकी मृत्यु है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में इस बात का प्रमाण मिलता है —

ते तं भुक्ता स्वर्गलोकं विशालं।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

देव (स्वर्गलोक को प्राप्त हुए जीव) उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं।

यही बात "अमृत" नामक दिव्य पेय के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। "अमृत" के विषय में भी शास्त्रों में ऐसे वचन मिलते हैं कि अमृत को पी लेने पर जीव अमर हो जाता है। पुराणों में कथा आती है कि सृष्टि के आदि में अमृत की प्राप्ति के लिए भगवान् के आदेश से देवताओं और दानवों ने मिलकर समुद्र-मंथन किया था और उस मंथन के फलस्वरूप प्रकट हुए अमृत के कलश को दानव लोग ले भागे। दानवों को अमृत-पान का अनाधिकारी समझकर — क्योंकि उनके अमर हो जाने पर जगत् का अमंगल ही होता — भगवान् ने मोहिनी रूप धारण कर उनसे अमृत का घड़ा ले लिया और वह अमृत देवताओं को पिला दिया, जिससे वे अमर हो गये। यज्ञादि में सोमपान का भी बड़ा माहात्म्य शास्त्रों में आया है। *भगवती श्रुति* कहती है — "अपाम सोमममृता अभूम" — हम लोगों ने सोमपान किया और उसके फलस्वरूप हम अमर हो गये। *गीता* में भी सोमपान के द्वारा इन्द्रलोक की प्राप्ति की बात नवम् अध्याय के 20वें श्लोक में आयी है। परन्तु इन सभी प्रसंगों में यह बात समझ लेने की है कि उपर्युक्त अमृत-पान अथवा सोमपान के द्वारा जिस अमरत्व की प्राप्ति की बात कही गयी है वास्तव में अमर हो जाना — जन्म-मृत्यु के अनादि बन्धन से सदा के लिए छूट जाना कुछ और ही

है और उस अमृतपान की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। इसी वास्तविक अमृतत्व की प्राप्ति मनुष्य मात्र का परम एवं चरम ध्येय होना चाहिए — इसीलिए शास्त्रों में इसे “निःश्रेयस्” अथवा परम कल्याण कहा गया है। इसी की प्राप्ति के लिए यह मनुष्य देह हमें मिली है। इसकी प्राप्ति मनुष्य-देह में ही सम्भव है, अन्य योनियों में नहीं। इसीलिए शास्त्रों ने मनुष्य-देह को देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है। यदि देवताओं का अमरत्व ही वास्तविक अमरत्व होता तो फिर देव योनि की अपेक्षा मनुष्य योनि को श्रेष्ठ क्यों बतलाया जाता, क्योंकि देवताओं को तो वह अमरत्व सहज ही जन्म से प्राप्त है।

अब हमें यह देखना है कि वह अमृत कौन-सा है, जिसके पान से मनुष्य सदा के लिए अमर हो जाता है, देवताओं की कोटि को भी लांघ जाता है, जिसके पी लेने पर फिर उसे माता का स्तनपान नहीं करना पड़ता, गर्भवास की यन्त्रणा नहीं सहनी पड़ती, यम यातना से उसका सदा के लिए छुटकारा हो जाता है, और मृत्यु का द्वार उसके लिए सदा के लिए बन्द हो जाता है। कहना न होगा मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्ति ही वह वास्तविक अमरत्व है, जिसकी शास्त्रों में इतनी महिमा गायी गयी है। वेदों का तात्पर्य भी उसी की प्राप्ति में है — “वेदैश्च सर्वैरहमेव वैद्यः (वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं — भगवान ही हूँ)। चतुर्विध पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ — वास्तविक पुरुषार्थ यही है, मनुष्य का सारा प्रयत्न इसी के लिए होना चाहिए, इसी में उसके जन्म एवं जीवन की सार्थकता है। जो इसी जीवन में इस अमरत्व को पा लेता है, उसके माता-पिता धन्य हैं।

“कुलं पवित्र जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।” उसी का कुल पवित्र है, उसी की माता कृतार्थ है, पृथ्वी भी उसी के कारण पुण्यवती है। जो मनुष्य जन्म पाकर भी मनुष्य जीवन की इस अमूल्य निधि से वंचित रहता है, वह जो पशु से भी गया-गुजरा है, शास्त्रों ने कृतघ्न एवं “आत्महत्यारा” कहकर उसकी लांछना की है। गोस्वामी जी ने कहा है —

जो न तरइ भव सागर नर समाज अस पाइ।

सो कृतनिन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाइ।।

इस अमृतत्व की प्राप्ति के लिए शास्त्रों में अनेक उपाय बताये गये हैं। वे सभी उपाय अमृतत्व की प्राप्ति में सहायक होने के कारण अमृत ही हैं। जिस प्रकार *आयुर्वेद* में घी को आयुर्वर्धक होने के नाते आयु-रूप — जीवन-रूप ही बताया गया है (आयुर्वैद्यतम), उसी प्रकार लक्षणा-वृत्ति से अमृत-पद की प्राप्ति के हेतुभूत सभी साधन अमृत ही कहे जाते हैं। इन विविध अमृतों में से एक भी अमृत का मनुष्य यदि पान कर ले तो वह वास्तव में अमर हो सकता है — इसमें किंचित मात्र भी शंका के लिए स्थान नहीं है। त्याग, समता, सत्य, आदि सभी सद्गुण अमृत हैं। त्याग की महिमा सभी शास्त्रों में गायी गयी है। श्रुतियों में त्याग को स्पष्ट शब्दों में अमृतत्व की प्राप्ति का कारण बताया गया है। *कैवल्योपनिषद्* के वचन हैं —

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनै के अमृतत्वमानशुः।।

न सकाम कर्मों से, न सन्तान से और न धन से ही अमृतत्व की प्राप्ति सम्भव है, केवल त्याग से ही मोक्षार्थियों ने मोक्ष की प्राप्ति की है।

ब्रह्मचर्य भी अमृत है। श्रुति कहती है – “ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नतः” (ब्रह्मचर्य और तपस्या के बल से देवताओं ने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर ली।) ब्रह्म की प्राप्ति में हेतु होने के कारण ही इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं – “यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति” (कठोपनिषद् 1/2/15)। गीता में भी इस चरण को ज्यों-का-त्यों दुहराया गया है। कामनाओं का त्याग निष्काम भाव भी अमृत है। श्रुति कहती है –

सदासर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिस्थिताः।

अथ मर्त्याऽभृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

मनुष्य के अन्तःकरण में रहने वाली कामनाएँ जब निःशेष रह जाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहाँ – इसी जीवन में वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। गीता में भी निष्काम भाव को अनामय पद – अमृत पद की प्राप्ति का कारण बताया गया है –

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्म बन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

क्योंकि समत्वबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फलकों – (उसकी कामना को) त्यागकर जन्म-रूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान् फिर कहते हैं –

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्दार्थ मनोगतान।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

अर्जुन! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली-भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। और स्थितप्रज्ञ पुरुष तत्काल भगवान् को प्राप्त कर लेता है। कामना से बन्धन और कामना के त्याग से भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति मिलती है। यह बात पाँचवें अध्याय में भी स्पष्ट शब्दों में कही गयी है –

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्टिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

कर्मयोगी कर्मों के फल को परमेश्वर को अर्पण करके भगवत्प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बंधता है।

परमात्मविषयक ज्ञान तो अमृत है ही। *श्रुति भगवती* कहती है — “तमेवविदित्वातिमृत्युमति”। उन परमात्मा को जान लेने पर मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है, अमर हो जाता है। *गीता* में भी भगवान ने कहा है कि परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परमानन्द रूप अमृत का पान करता है — “यजज्ञात्वामृतमश्नुते” — यह तो हुई साधनभूत ज्ञान की बात। साध्यरूप ज्ञान तो परमात्मा का स्वरूप ही है — “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म”। *गीता* भी परमात्मा को ज्ञान स्वरूप बतलाती है — “ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्”।

भक्ति भी तत्त्व-ज्ञान का साधन होने से अमृत है। *गीता* में भगवान ने कहा है कि अनन्य भक्ति के द्वारा भगवान का भजन करने वाला व्यक्ति तीनों गुणों को लाँघकर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बन जाता है —

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान समतीत्यैतान ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

वैराग्य भी अमृत है। राग; स्नेह अथवा आसक्ति से रहित होना ही वैराग्य है। वैराग्य को भगवान ने स्थिर बुद्धि का लक्षण बतलाया है और स्थिर बुद्धि पुरुष तत्काल भगवान को प्राप्त कर लेता है।

महाभारत में महात्मा भीष्म भी भगवच्छरणागति से सनातन ब्रह्म की प्राप्ति बतलाते हैं। भीष्म जी कहते हैं —

वासुदेवाश्रयो भर्त्यो वासुदेवपरायणः ।

सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनमः ॥

भगवान वासुदेव के आश्रित होकर एकमात्र उन्हीं के परायण, उन्हीं पर निर्भर रहने वाला मनुष्य सम्पूर्ण पापों से छूटकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

योगदर्शन में भी ईश्वरप्रणिधान — भगवच्छरणागति को योग अथवा समाधिसिद्धि का साधन माना गया है।

भगवान का चरणामृत, उनके चरणों में चढ़ी हुई तुलसी, साक्षात् उनका पदोदक रूप श्री गंगाजी तथा भगवत्प्रसाद — ये सब भी अमृत हैं। भगवान के चरणामृत की शास्त्रों में बड़ी महिमा गायी गयी है। *पद्म पुराण* में लिखा है —

विष्णोः पादोदकं पीतं कोटिजन्माथनाशनम् ।

भगवान विष्णु का चरणोदक पीने से करोड़ों जन्मों के पापों का नाश हो जाता है। इसीलिए उसे चरणामृत कहा जाता है।

तुलसी के सम्बन्ध में भी *पद्म पुराण* के वचन हैं —

या दृष्टा निखिलाथसंगशमनी स्पृष्टा व पुष्पावनी
 रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी ।
 प्रत्यासन्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता
 न्यस्तातच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥

तुलसीजी के दर्शन मात्र से सम्पूर्ण पापों की राशि नष्ट हो जाती है। उनके स्पर्श से शरीर पवित्र हो जाता है, उन्हें प्रणाम करने से रोग नष्ट हो जाते हैं, सोचने से मृत्यु दूर भाग जाती है। तुलसी का वृक्ष लगाने से भगवान की संनिधि प्राप्त होती है और उन्हें भगवान के चरणों पर चढ़ाने से मोक्षरूप महान् फल की प्राप्ति होती है। ऐसे तुलसीजी को हमारा प्रणाम।

गंगाजी की महिमा पुराणों में इस प्रकार वर्णित है -

तीर्थानां तु परं तीर्थं नदीनामुत्तमा नदी ।
 मोक्षदा सर्वभूतानां महापातकिनामपि ॥ - 43/53
 गंगा गंगेति यो ब्रूयाद योजनानां शतैरपि ।
 मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

गंगाजी तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ, नदियों में उत्तम नदी तथा सम्पूर्ण प्राणियों और महापापियों को भी मोक्ष देने वाली है। और तो और, सैकड़ों कोसों की दूरी से भी जो "गंगा-गंगा" की रट लगाता है, वह समस्त पापों से छूटकर विष्णु के धाम में चला जाता है।

भगवत्प्रसाद का माहात्म्य भी शास्त्रों में भली-भाँति वर्णित है। पद्म पुराण में आया है -

विष्णुप्रसादनिर्मात्यं भुक्त्वा धृत्वा च मस्तके ।
 विष्णुरेवभवेन्मर्त्यो यमशोक विनाशनः ।
 अर्चनीयो नमस्कार्यो हरिरेव न संशयः ॥

श्री विष्णु के प्रसाद रूप निर्मात्य को खाकर और मस्तक पर धारण करके मनुष्य साक्षात् विष्णु-रूप हो जाता है और यमराज से होने वाले शोक का नाश करने वाला बन जाता है। वह पूजन तथा वन्दन के योग्य श्रीहरि का ही स्वरूप है - इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

प्रसाद शब्द के संस्कृत में कई अर्थ होते हैं। भगवान् एवं महापुरुषों की दया, अन्तःकरण की निर्मलता एवं पवित्रता तथा भगवान को अर्पित किया हुआ नैवेद्य - ये सभी प्रसाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव ये सभी अमृत हैं, क्योंकि इनमें समस्त दुःखों की निवृत्ति होकर मनुष्य परमपद को प्राप्त हो जाता है। नैवेद्य की महिमा ऊपर सूत्र-रूप से बतायी गयी

है। अन्तःकरण की स्वच्छता एवं प्रसन्नता-रूप प्रसाद की महिमा *गीता* में इस प्रकार वर्णित है —

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है। परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न सुख को भी भगवान ने परिणाम में अमृततुल्य बतलाया है।

जिस प्रकार भगवान शिव विषपान करने के बाद तथा नानारूप ग्रहण होने पर भी सदैव ताण्डव से अभिभूत रहे ठीक उसी प्रकार वर्तमान युग में भी अमरत्व पर विषरूपी मृत्यु का तांडव चला आ रहा है। यदि मृत्यु साकार सगुण रूप में ग्रहण की जाये या अमरत्व रूप में ग्रहण की जाये तो विषरूपी मृत्यु सदैव अपने आगोश में समाहित करने के लिए उद्धृत रहती है। विशेषतः इस लोक में ऐसे जीव हैं जिनका जीवन सत्संग और सद्ग्रन्थ के अध्ययन पर अवलम्बित रहता है। वह अमरत्व को प्राप्त करने के बाद अमरत्व पर विषरूपी मृत्यु के ताण्डव से सदैव दूर रहते हैं।

भारतीय परम्परा में मृत्यु प्रसंग विचार

— हेतुकर झा

“किमाश्चर्य?” यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि इस संसार में आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।¹

अहन्य हनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।

शेषाः स्थवर मिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

अर्थात् संसार में सब जानते हैं कि मृत्यु निश्चित है; जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु होती ही है; नित्य असंख्य लोग मरते हैं; फिर भी जो जीवित हैं, जिनकी मृत्यु भी निश्चित है, वे सब जीवित रहने की लालसा रखते हैं; सारे छल-प्रपंच में लगे रहते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या है!

युधिष्ठिर का उत्तर एक शाश्वत् सत्य है। सृष्टि के आरंभ से जबसे मनुष्य को ज्ञान है वह पृथ्वी के जिस क्षेत्र में हो या जिस समाज में हो, हर प्राणी के जीवन का आज तक अन्त होते देखा है। योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण के नवें श्लोक में राम वसिष्ठ से कहते हैं कि² “मानव की आयु की कुछ भी स्थिरता नहीं और अत्यन्त चंचलता से परिपूर्ण है, वह चाहे जब समाप्त हो जाया करती है। मृत्यु अत्यन्त कठोर होती है . . . यौवन पर मानव गर्व किया करता है और . . . क्या-क्या . . . कर्म करता है, मोह में ही समाप्त हो जाया करता है।” राम की उक्ति में दोनों बातें हैं, यह कि जीने की लालसा सबों को साधारणतया रहती ही है; मृत्यु नहीं हो, यह इच्छा उतनी ही सत्य है जितनी मृत्यु। मृत्यु और जीवन के इस द्वन्द्व के प्रसंग पर युधिष्ठिर मौन रहे और मृत्यु की सत्यता के आगे जीने की लालसा पर

1. महाभारत, यक्ष-युधिष्ठिर संवाद, त्रयोदशाधिक त्रिशततमोध्यायः, श्लोक 116।

2. योगवासिष्ठ, प्रथम खंड, संपादक एवं हिन्दी अनुवाद, श्री रामशर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, उत्तर प्रदेश, 1996, पृ. 163।

आश्चर्य प्रगट किया। इस दृष्टि को हमारे यहाँ की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में सुलझाने का प्रयास किया गया है।

इस सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि मृत्यु किसे कहते हैं? मृत्यु किसकी होती है? जीवन की? या जो जीवन जी रहा है उसकी? जो जीवन जी रहा है उसके पास क्या है जिसका अन्त हो जाता है? या फिर, उसके पास जो कुछ है उस सबका अन्त हो जाता है? दत्तात्रेय सम्प्रदाय के अनुसार, जैसाकि म.म. गोपीनाथ कविराज कहते हैं,³

प्रारब्ध के नाश होने के बाद प्राण स्थूल देह से पृथक् हो जाते हैं। उस समय पाँचों प्राण (अपान, उदान, व्यान, समान और प्राण) अपने मूल वायु (अपान) में विलीन हो जाते हैं। पाँच वासनामय विषय पाँच सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान-करणों में लौट जाते हैं। सभी क्रिया विकार कर्म-करणों में उपसंहृत हो जाते हैं। तदुपरान्त, ज्ञान और कर्म के वे दसों कारण निष्क्रिय होकर कर्ता में विलीन हो जाते हैं। कर्ता भी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों के लीन हो जाने पर आत्म-अज्ञान में लीन हो जाता है। इस अज्ञान से एक वासना-शरीर आविर्भूत होता है। सूक्ष्म शरीर की तरह पहले के शरीर को ग्रहण कर जीव पुराने जीर्ण और रुग्ण स्थूल शरीर का त्याग करता है। इसी का नाम मृत्यु है।

यहाँ पाँच प्राण की बात कही गई है। इसमें अपान का मूल पृथ्वी, उदान का जल, व्यान का अग्नि, समान का वायु और प्राण का मूल आकाश है जिसके संयोग से यानी पञ्च महाभूत से शरीर निर्मित रहता है, और जिसमें क्रमशः पाँचों प्राण विलीन हो जाते हैं। पाँच वासनामय विषय वे हैं जिन्हें पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, जिह्वा, त्वचा, नाक) द्वारा उपभोग किया जाता है और जो वापस अपने आधारों यानी अव्यक्त ज्ञान-माध्यम में सिमट जाते हैं, अर्थात् अव्यक्त हो जाते हैं। सब क्रिया-विकार या क्रिया-व्यापार अव्यक्त हो जाते हैं। तब मृतक यानी कर्ता के साथ उसके ज्ञान और कर्म अर्थात् संस्कार रह जाते हैं और वह कर्ता अज्ञान-अचेतन अधकार में लीन हो जाता है, फिर सूक्ष्म शरीर ग्रहण करता है। इस घटना को मृत्यु कहा जाता है जिसकी व्याख्या विभिन्न मतों में विभिन्न शब्दावली से की गई है।

मृत्यु की इस व्याख्या से इतना स्पष्ट होता है कि भारतीय परंपरा में मृत्यु का मतलब अन्त नहीं है। शरीर के तत्त्वों का, प्राण-वायु का अपने-अपने आधार में मिल जाना, स्थूल शरीर से उसका पृथक् होना और फिर सूक्ष्म शरीर का उद्भव होना, ये सारी बातें मृत्यु से जुड़ी हुई हैं। अन्त की बात तो मात्र स्थूल देह के स्वरूप के अन्त तक ही रह जाती है। कर्ता या जीव या व्यक्ति के एक पक्ष या एक आयाम — उसका स्थूल शरीर का अन्त प्रारब्ध के

3. कविराज, म. म. गोपीनाथ, "आदिगुरु दत्तात्रेय और अवधूत दर्शन", भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खंड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963, पृ. 204।

नाश होने से होता है। स्थूल शरीर अपने प्रारब्ध यानी अपनी आयु या काल से बंधा हुआ है। व्यक्ति के अन्य आयाम, जैसे उसके नाम, अस्मिता, संसार में उसके नाम से जुड़ा हुआ उसका कर्म और उसकी आत्मा प्रायः काल से उस तरह नहीं बँधे हुए हैं जिस तरह उसका स्थूल शरीर। यहाँ आवश्यक है कि काल प्रसंग पर कुछ विचार किया जाये।

शारदा तिलक (एक तांत्रिक ग्रन्थ) के प्रथम पटल के पाँचवें श्लोक⁴ के अनुसार काल के आविर्भाव से पहले शिव निर्गुण हैं। जब प्रकृति क्षेत्र का उदय होता है तो शिव सगुण हो जाते हैं। इसी पुस्तक के इसी पटल के सातवें श्लोक⁵ के अनुसार प्रकृति क्षेत्र का उदय निर्गुण शिव में समाहित शक्ति के प्रति शिव के चैतन्य से प्रारम्भ होता है, फिर बिन्दु, नाद प्रभृति होते हुए सगुण रूप में प्रकृति क्षेत्र प्रगट दीख पड़ता है। इन श्लोकों की व्याख्या विस्तार से तांत्रिक-सिद्धों द्वारा की जा सकती है। मगर आशय यह है कि चेतना की संचार शक्ति यानी काली की अवधारणा शिव के अस्तित्व में होने से होती है। संचार होना काल का द्योतक है; संचार से पहले निर्गुणावस्था के शिव की स्थिति अंधकारमय या रात्रि है जहाँ काल की कोई कल्पना नहीं है। काली की उपस्थिति संचार से प्रारम्भ होती है – जब तक संचार है, काल है। इस प्रसंग में *योगवासिष्ठ* में राम कहते हैं कि⁶ “प्रत्यक्ष स्वरूप तो किसी को दिखलाई नहीं दिया करता है किन्तु . . . अनेक क्रियाओं के परिस्पन्दन से ही इसके स्वरूप का ज्ञान हुआ करता है।” इस तरह स्थूल शरीर के संचार या स्पन्दन का अन्त उसके काल यानी आयु के अन्त होने से माना जाता है।

स्थूल शरीर की उपमा साधारणतः लोग वस्त्र से देते हैं कि जिस तरह वस्त्र के फट जाने से उसे त्याग दिया जाता है उसी तरह शरीर के जीर्ण-शीर्ण होने पर उसका परित्याग कर दिया जाता है, मनुष्य की आत्मा अजर-अमर है; *गीता* में उद्धृत श्रीकृष्ण का यह कथन सदियों से जन-मानस में बसा हुआ है। इस सन्दर्भ में कुछ और कहना आवश्यक नहीं। इसी तरह मनुष्य के नाम और कर्म के बारे में सोच बनी हुई है। हिन्दू धर्म परम्परा में प्रत्येक व्यक्ति का अपने जीवन-क्रम में पुरुषार्थ का निर्वाह करना या प्राप्त करना बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। पुरुषार्थ, जैसाकि सब प्रायः जानते हैं, चार हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके ऊपर धर्मशास्त्रों में विशद रूप से विचार किया गया है। लेकिन चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में मिथिला के प्रसिद्ध कवि-चिन्तक दण्डनीति ने अपनी पुस्तक *पुरुष परीक्षा* में

4. निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥
5. सच्चिदानन्द विभवात्सकलात् परमेश्वरात्
आसीच्छक्तिः ततो नादा नादाद्विन्दु समुद्भवः ।
परशक्ति भयः साक्षात् त्रिधा सौमिद्ययते पुनः
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदा समीरिता ॥
6. *योगवासिष्ठ*, पूर्व उद्धृत, पृ. 162 ।

सामाजिक-राजनीतिक दृष्टिकोण से पुरुषार्थ की विवेचना की, जो प्रस्तुत विषय (मृत्यु) के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है।

विद्यापति का इस प्रसंग में चिन्तन प्रारम्भ होता है उनके द्वारा उठाये गये एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न से। अपनी पुस्तक *कीर्तिलता* में वे प्रश्न करते हैं कि किसी व्यक्ति के अस्तित्व का सार क्या है? और, इसका उत्तर देते हैं कि व्यक्ति के अस्तित्व का सार उसका मान यानि अन्य लोगों द्वारा स्वीकृत उसकी इज्जत है।⁷ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस प्रसंग पर विचार किया है। मार्टिन ब्यूबर के अनुसार व्यक्ति के अस्तित्व का सार समाज में इस बात पर निर्भर करता है कि उसके अस्तित्व को दूसरे व्यक्तियों द्वारा वह जिस स्थिति में है और भविष्य में वह जिस स्थिति में हो सकता है स्वीकार किया जाये।⁸ व्यक्ति के अस्तित्व के प्रसंग पर विद्यापति पाश्चात्य धारणा से भिन्न तो नहीं लेकिन उससे कुछ ज्यादा कहते हैं। वे मानते हैं कि हर व्यक्ति का अस्तित्व समाज में उसके मान या इज्जत रहने से है। यह मान वह खुद अस्त्रियार करता है। अगर उसमें पौरुष है, और पौरुष हासिल करने के लिये आवश्यक है कि उसमें शौर्य, विवेक, उत्साह, प्रतिभा, मेधा एवं विद्या हो तथा वह पुरुषार्थ प्राप्त करे।⁹ पुरुषार्थ में वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों की व्याख्या करते हैं जिसमें प्रथम तीन तो समाज में स्थित व्यक्तियों के लिये हैं, मगर मोक्ष की बात उनके लिये है जो समाज से या संसार से अलग हो जाते हैं। मृत्यु प्रसंग में व्यक्ति के अस्तित्व की विवेचना के लिये धर्म, अर्थ और काम की विवेचना ही महत्त्वपूर्ण है।

धर्म की व्याख्या करते हुए विद्यापति कहते हैं कि कुलाचार और साधारण धर्म का पालन ही धर्म है। साधारण धर्म के अन्तर्गत अपने को पर-स्त्री और पर द्रव्य से दूर रखना तथा पर-हिंसा नहीं करना है। अर्थजनित पुरुषार्थ वह है जिसमें व्यक्ति उचित तरीके से अर्थापार्जन करे और उसका उपयोग अपने उपभोग के लिये तथा साथ ही दूसरे लोगों यानी सामाजिक स्वार्थ के लिये भी करे। विद्यापति "इष्टापूर्त" शब्द का प्रयोग इस सन्दर्भ में करते हैं, जिसका अर्थ होता है सामाजिक उपयोग के लिये कुआँ, तालाब, इत्यादि निर्माण करवाना। काम पुरुषार्थ के प्रसंग में इनका मानना है कि पुरुष और स्त्री के बीच काम के सम्बन्ध का आधार एक-दूसरे के प्रति स्नेह, विश्वास, इज्जत की भावना तथा सुख-दुःख में साथ-साथ रहना है।¹⁰ इन सारे पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये अपने से अतिरिक्त दूसरे व्यक्तियों या पूरे समाज के प्रति कर्तव्य पालन आवश्यक माना गया है। समाज के लिये,

7. देखिये वासुदेव शरण अग्रवाल, सं. महाकवि विद्यापतिकृत *कीर्तिलता*, साहित्य सदन, झाँसी, 1962, पृ. 15-16।

8. ब्यूबर, मार्टिन, *द नॉलेज ऑफ मैन*, जॉर्ज एलेन एण्ड उनविन, लंदन, 1965, पृ. 68।

9. देखिये, झा हेतुकर, *मैन इन इन्डियन ट्रेडिशन - विद्यापतिज डिसकोर्स ऑन पुरुष*, आर्यन बुक्स इन्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2002, पृ. 66।

10. *वही*, पृ. 73-101।

ज्ञान के लिये, या पूरी मानवता के लिये किये गये कर्म से व्यक्ति की कीर्ति होती है और इज्जत या मान भी मिलता है। संस्कृत की एक उक्ति है; "कीर्तिर्यस्य स जीवति"; अर्थात् जो कीर्ति अर्जित करता है वही जीता है। उसके शरीर के अन्त होने पर भी वह जीवित रहता है तब तक जब तक कि उसकी कीर्ति रहती है। उदाहरणस्वरूप किसी के नाम से जुड़ी अगर कोई संस्था है, या उसके द्वारा खुदवाया हुआ गाँव में तालाब, कुआँ है, अथवा उसके द्वारा रचित कुछ पुस्तकें हैं, तो उसके शरीर के अन्त होने पर भी समाज में, लोगों में, कई पुस्तों तक उसके नाम को स्मरण किया जाता है उसकी कीर्ति के साथ। और कुछ नहीं तो कम-से-कम उसकी सन्तानों की पहचान के लिये तो एक दो पुस्तों तक उसके भरने पर भी उसका नाम लोग भुलाते नहीं। नाम की महिमा वैसे तो हर संस्कृति में है, लेकिन हिन्दू समाज में तो बहुत ज्यादा है। यहाँ नाम-जप और नाम-कीर्तन की बहुत पुरानी परम्परा है। नाम का अस्तित्व अपने आप में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पुरुषार्थ प्राप्ति से इस तरह व्यक्ति अपने शरीर के नाश होने पर भी मरता नहीं।

प्रारम्भ में जीवन और मृत्यु के द्वन्द्व की बात कही गई थी। इस द्वन्द्व का समाधान भारतीय परंपरा में प्रायः इस तरह किया गया है कि व्यक्ति की मृत्यु उसकी देह के अन्त से नहीं होती। देह का अन्त होना व्यक्ति के अस्तित्व के एक दृष्टिगत आयाम का अन्त है। उसके अस्तित्व के दूसरे आयाम हैं उसकी कीर्ति जिसकी आयु उसकी देह की आयु से बहुत ज्यादा होती है और वह भी दृष्टिगत है। ये दोनों आयाम काल के घेरे में हैं लेकिन दोनों के काल में बहुत बड़ा अन्तर है। व्यक्ति के अस्तित्व का तीसरा आयाम है उसकी आत्मा जो अमर-अजर है। इस तरह मृत्यु प्रसंग काल की गति अविच्छिन्न है। व्यक्ति के अस्तित्व के एक आयाम का काल निश्चित है, दूसरे आयाम का काल अनिश्चित है और तीसरा आयाम काल के घेरे से मुक्त है।

मृत्यु की घटना सबसे ज्यादा प्रभावकारी होती है। प्रकृति की ताकतों और वातावरण के प्रकोप के सामने मनुष्य अभी भी अपने को कमजोर पाता है। ऐसी स्थिति में मृत्यु जैसे घटना के घटित होने से मनुष्य अपने अस्तित्व को अर्थहीन समझने लगता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर¹¹ के अनुसार ऐसी स्थिति में जीवन की अर्थहीनता बहुत गम्भीर रूप से उत्पन्न हो जाती है। जिसके चलते कोई व्यक्ति इतना निराश या हताश हो सकता है कि उसे जीवन जीने में बड़ी दुविधा या कठिनाई का सामना करना पड़े और वह नहीं कर सके। समाज इस तरह छिन्न-भिन्न हो सकता है। धर्म और धार्मिक परम्पराओं में इस संकट से त्राण पाने के लिये मृत्यु जैसी घटना की व्याख्या इस तरह से प्रस्तुत की गई है कि उपर्युक्त जीवन की अर्थहीनता का संकट वैचारिक स्तर पर सुलझ सके, व्यक्ति हताश न हो जाये और समाज बिखर न सके।

11. ओडिया, टॉमस एफ., *द सोशियोलोजी ऑफ रिलीजियन*, प्रेन्टिस-हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, पृ. 5-6।

मृत्यु की अवधारणा समाज-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में

— कुसुम गिरि

जिस लोक में हम रहते हैं उसे मृत्युलोक कहा जाता है। इस लोक में जो भी प्राणी जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है, अतः यहाँ मृत्यु की अवधारणा सर्वानुभव, सर्वकालिक एवं सार्वभौम सिद्ध है। यह अवधारणा इतनी सहज और सरल लगती है कि इसके विश्लेषण और इस पर विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। दिन-प्रतिदिन के जीवन में विभिन्न प्राणियों को अथवा मनुष्य को मरते देखकर न तो किसी को आश्चर्य होता है और न ही उस पर विचार किया जाता है अपितु सहज रूप से मान लिया जाता है कि यह तो होना ही था। सम्भवतः इसीलिए किसी भी शास्त्र में मृत्यु की अवधारणा पर गंभीरता एवं विस्तार के साथ कोई विचार उपलब्ध नहीं होता। चिकित्सा-शास्त्र एवं जीव-शास्त्र मृत्यु की अवधारणा को मनोदैहिक आधारों पर प्रस्तुत करते हैं। दर्शन-शास्त्र आध्यात्मिक दृष्टि से मृत्यु की अवधारणा के विवेचन का प्रयास करता है, किन्तु समाज-शास्त्र में मृत्यु की अवधारणा का न तो कहीं स्पष्ट उल्लेख है और न ही कहीं इस पर गंभीरता से विचार किया गया है। समाज-शास्त्र का सम्बन्ध मानव एवं मानव समाज से है। इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से मृत्यु की अवधारणा का प्रस्तुत विवेचन मानव की सामाजिक मृत्यु तक ही सीमित है।

अनुभव और विचार के आधार पर इतना तो सर्वमान्य लगता है कि व्यक्तित्व की संरचना के तत्त्वों का विघटन तथा उसके सारतत्त्व का विनाश ही मृत्यु है, किन्तु व्यक्तित्व की संरचना में निहित तत्त्वों के स्वरूप के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है। किम्बल यंग के अनुसार व्यक्तित्व विचारों, अभिवृत्तियों, लक्षणों, मूल्यों एवं आदतों का एक संगठित स्वरूप है, तो डीवर के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों का एक समन्वित एवं गतिशील संगठन है। इसी प्रकार मनु के अनुसार व्यक्तित्व की संरचना

व्यवहार के प्रतिमान, रुचियों, अभिवृत्तियों, क्षमताओं एवं योग्यताओं का एक विशिष्ट संगठन है।

उक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की संरचना मुख्य रूप में तीन उपसंरचनाओं — दैहिक संरचना, मनोवैज्ञानिक संरचना एवं सामाजिक संरचना में विभक्त है। दैहिक संरचना के अन्तर्गत स्नायु मंडल, इन्द्रियाँ, प्राण एवं इनका पारस्परिक सम्बन्ध सम्मिलित है। मनोवैज्ञानिक संरचना में मूल प्रवृत्तियाँ, प्रेरणा, उद्देश्य, प्रत्यक्षीकरण, सीखना एवं चेतना का पारस्परिक सम्बन्ध सन्निहित है। सामाजिक संरचना में, जो व्यक्तित्व की सबसे महत्त्वपूर्ण उपसंरचना है, सभी सामाजिक संस्थाओं (प्राथमिक और द्वितीयक) की भूमिकायें सम्मिलित हैं। कार्डिनर ने भी इन दो प्रकार की संरचनाओं और व्यक्तित्व के बीच कार्यकारी सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या की है।

मानव व्यक्तित्व की इन तीन उप-संरचनाओं के आधार पर मृत्यु की अवधारणा की भी तीन दृष्टिकोणों से व्याख्या की जा सकती है।

सामान्यतया जैविकीय दृष्टि से ही मृत्यु को मृत्यु समझा जाता है। इसमें दैहिक संरचना में उन तत्त्वों का नाश हो जाता है जो देह और प्राण में प्रकार्यात्मक समन्वय को बनाये रखते हैं। यदि विचार किया जाये तो मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक संरचना की समन्वयात्मक तत्त्वों का भी उसी प्रकार नाश होता है किन्तु उसे मृत्यु की संज्ञा नहीं दी जाती है। जबकि मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से यह भी मृत्यु है। जिस प्रकार जैविकीय मृत्यु की व्याख्या व्यक्ति के जैविकीय परिवेश में की जाती है उसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक मृत्यु की व्याख्या भी उसके सामाजिक परिवेश के आधार पर की जानी चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति का जैविकीय दृष्टि से अस्तित्व रहने पर भी यदि उसका सामाजिक परिवेश विघटित हो जाता है तो वह सामाजिक दृष्टि से मृत हो जाता है किन्तु यदि व्यक्ति जैविकीय दृष्टि से मृत है और उसका सामाजिक परिवेश गतिशील है तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से जीवित माना जा सकता है। जैसे वे संत, महात्मा या महापुरुष, जो जैविकीय दृष्टि से जीवित तो नहीं हैं किन्तु अपने विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों, आदि के द्वारा व्यक्ति एवं समाज का मार्ग-निर्देशन करते रहते हैं तथा मानव जाति एवं समाज के प्रेरणा-स्रोत होते हैं, सामाजिक दृष्टि से जीवित होते हैं। किन्तु वे लोग जो जैविकीय दृष्टि से केवल निजी हितों के लिये ही जीवित हैं, वे वास्तव में सामाजिक दृष्टि से मृत हैं। लेकिन प्रत्येक समाज में अधिकांश व्यक्तियों के जैविकीय एवं सामाजिक जीवन में इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि उनमें भेद करना कठिन होता है। अतः ऐसे व्यक्तियों की जैविकीय एवं सामाजिक मृत्यु एक साथ मानी जा सकती है।

यहाँ जिस सामाजिक मृत्यु के सम्बन्ध में विवेचन करने का प्रयास किया गया है, उसके सम्बन्ध में समाज-शास्त्र में कहीं कोई स्पष्ट विवरण उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए हमें

उन परिस्थितियों, कारकों तथा आधारों की व्याख्या एवं उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है जिनके आधार पर सामाजिक मृत्यु की अवधारणा को स्थापित किया जा सकता है और एक नये दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की जा सकती है।

समाज-शास्त्र में, गंभीरतापूर्वक दो महत्त्वपूर्ण विषयों को विश्लेषित किया जाता है — पहला आत्महत्या और दूसरा विचलनकारी व्यवहार या विसंगति। आधुनिक समाज के सन्दर्भ में वर्तमान समाजशास्त्रियों के समक्ष आतंकवाद भी एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या के रूप में उपस्थित हुआ है। जहाँ तक आत्महत्या एवं विचलन के कारणों का सम्बन्ध है उसके बारे में कहा जा सकता है कि कहीं-न-कहीं वे कारण सर्वप्रथम व्यक्ति की सामाजिक मृत्यु के लिये उत्तरदायी हैं। इसी प्रकार यदि आतंकवाद के कारणों पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया जाये तो यहाँ भी यही निष्कर्ष निकलता है कि एक आतंकवादी व्यक्ति की पहले ही सामाजिक मृत्यु हो चुकी होती है। इन तीनों प्रकार की सामाजिक मृत्यु में भी अन्तर है। जैसे आत्महत्या के पूर्व सामाजिक दृष्टि से मृत व्यक्ति अपने जीवन को निरर्थक समझकर जीवन का अंत कर देता है जिसे दुर्खीम ने अहंवादी आत्महत्या की संज्ञा दी है। इसी प्रकार विचलनकारी व्यवहार वाले व्यक्तियों को तीन वर्गों में रखकर उनकी सामाजिक मृत्यु की व्याख्या की जा सकती है। प्रथम वर्ग में उन व्यक्तियों को रखा जा सकता है जो हताश-निराश एवं कुंठाग्रस्त होकर व्यवहार करते हैं तथा एक सामाजिक प्राणी के रूप में उनका जीवन निरर्थक हो चुका रहता है क्योंकि वे समाज के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझते। दूसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो समाज स्वीकृत लक्ष्यों एवं साधनों के स्थान पर अपने द्वारा बनाये लक्ष्यों एवं साधनों को अपनाकर अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। ऐसे लोगों को समाज अपने से अलग एवं बहिष्कृत समझता है और सामाजिक दृष्टि से मृत समझता है क्योंकि ऐसे लोग समाज में विघटनकारी स्थिति को जन्म देने का कार्य करते हैं। तीसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था से संबंधित आदर्शों, लक्ष्यों, मूल्यों, मान्यताओं, नियमों, आदि को निरर्थक मानते हैं और अपने निजी स्वार्थों के आधार पर मनमानी व्यवस्था लाना चाहते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था इनके सन्दर्भ में मृत होती है और समाज की दृष्टि में ये मृत होते हैं।

उक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्महत्या एवं विचलनकारी व्यवहार करने वाले व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से पहले ही मृत हो चुके रहते हैं इसीलिए वे ऐसा व्यवहार करते हैं जो सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में न तो संगत होता है और न ही सार्थक। जहाँ तक तीसरे विषय आतंकवाद की समस्या का प्रश्न है वहाँ इसके कारणों पर गंभीरतापूर्वक एवं व्यापक विचार करने की आवश्यकता है। अब तक ऐसा पाया जाता रहा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति समूह या व्यक्ति की हत्या करता था तो उसके पीछे उस व्यक्ति या समूह के द्वारा उसके निजी स्वार्थों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करने के

तत्त्व निहित होते थे किन्तु वर्तमान समय में आतंकवाद से जुड़ा आतंकवादी यदि किसी व्यक्ति या समूह की हत्या करता है तो उसके पीछे उस व्यक्ति या समूह से उसके मान्य हितों का कहीं भी टकराव नहीं पाया जाता है। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि एक आतंकवादी समूह का भी अपना कोई-न-कोई लक्ष्य, उद्देश्य या आदर्श होता है जो धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, जातीय कुछ भी हो सकता है, किन्तु उसके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है उससे उसके किस लक्ष्य या उद्देश्य की पूर्ति हो रही है यह एक विचारणीय विषय है। लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि एक आतंकवादी जिस प्रकार का व्यवहार करता है ऐसा व्यवहार वही कर सकता है जो जीवित तो है किन्तु केवल जैविकीय दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से वह पूर्णरूपेण मृत हो चुका हो।

सामाजिक मृत्यु से सम्बन्धित अपनी उक्त स्थापना के समर्थन के लिये मैं उन सामाजिक विचारकों के विचारों को रखना चाहती हूँ जिन्होंने आत्महत्या एवं विचलनकारी व्यवहारों की न केवल विस्तृत व्याख्या की है बल्कि उन सामाजिक कारणों एवं परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनसे प्रेरित होकर व्यक्ति आत्महत्या करता है या विचलनकारी व्यवहारों को जन्म देता है। इस सम्बन्ध में मैं सबसे पहले दुर्खीम का नाम लेना चाहूँगी जिन्होंने सबसे पहले आत्महत्या के मूल में निहित वैयक्तिक कारणों का खण्डन कर इस बात की स्थापना की है कि आत्महत्या विशुद्ध रूप से एक सामाजिक तथ्य या घटना है और इसका कारण सामाजिक संरचना में निहित है। दुर्खीम के आत्महत्या-सम्बन्धी विश्लेषण एवं आत्महत्या-सम्बन्धी आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्महत्या से पूर्व व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में अपने को समाज से पूर्ण रूप से त्यक्त हुआ पाता है और उसका अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। ये स्थितियाँ उसकी सामाजिक मृत्यु की द्योतक हैं। इसी प्रकार मर्टन, पार्सन्स, मैकाइवर, आदि सामाजिक विचारकों ने भी व्यक्ति के विचलनकारी व्यवहारों या नियमहीनता के कारणों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि इस स्थिति में व्यक्ति और समाज के बीच जो समन्वयात्मक प्रकार्यात्मक संबंध होना चाहिए वह नहीं रह जाता और यह स्थिति भी उसकी सामाजिक मृत्यु की द्योतक मानी जा सकती है।

सामाजिक मृत्यु से संबंधित उक्त विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की सामाजिक मृत्यु के लिये कहीं-न-कहीं सामाजिक संरचना, व्यवस्था, आदर्श, मूल्य, नियम, मान्यतायें, आदि उत्तरदायी होती हैं। यदि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो कुछ उदाहरण सामाजिक मृत्यु की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर वर्ग विशेष की विधवाओं को यदि देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रूढ़ियों और परम्पराओं से बँधी ये विधवायें केवल जैविकीय दृष्टि से ही जीवित हैं जबकि सामाजिक दृष्टि से इनकी मृत्यु हो चुकी होती है। शुभ अवसरों

पर इनकी उपस्थिति, अच्छे वस्त्र, आभूषण, सौन्दर्य वृद्धि की सामग्रियों, सुस्वादु भोजन, आरामदायक जीवन, आदि का पूर्ण रूप से निषेध का होना इनकी सामाजिक मृत्यु का द्योतक है। इसी प्रकार एक परित्यक्ता एवं निःसंतान स्त्री को भी उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। भारतीय समाज में कुछ स्थानों पर वृद्धाश्रमों की भी व्यवस्था है जहाँ वृद्ध एवं वृद्धायें उपेक्षित जीवन जी रहे हैं। वास्तव में यदि देखा जाये तो उनमें से अनेक वृद्ध महिला एवं पुरुष भरे-पूरे एवं संपन्न परिवार के होते हैं किन्तु न तो उनके परिवार का कोई सदस्य उनसे मिलने आता है और न ही अपने परिवार से उन्हें कोई आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में क्या यह कहना अनुचित होगा कि वे केवल शारीरिक दृष्टि से जीवित हैं किन्तु सामाजिक दृष्टि से मृत हैं। इतना ही नहीं असाध्य रोग से ग्रस्त रोगी जैसे एड्स, आदि भी सामाजिक रूप से मृत व्यक्तियों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में जिस सामाजिक मृत्यु की अवधारणा का विवेचन एवं विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है वह अवधारणा भले ही नहीं लगती हो किन्तु वास्तव में यह नई नहीं है। प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में यह अवधारणा अपने किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही है। *गीता* में भी भगवान कृष्ण अपने उपदेश में अर्जुन से कहते हैं कि जो व्यक्ति महत्त्वपूर्ण सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित है, यदि उसकी अपकीर्ति होती है तो यह अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है। इसी बात को गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस प्रकार कहा है -

सम्भावितकर अपयश लाहू

मरण कोटि सम दारुण दाहू।

ऐसे ही अनेक उदाहरण साहित्यों से उपलब्ध हो सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जिन समाजों की संरचना जितनी ही जटिल होगी उन समाजों में सामाजिक मृत्यु की संभावनायें भी उतनी ही अधिक होंगी। इतना ही नहीं यह भी एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है कि उन समाजों में जहाँ व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का मूल्यांकन मानवीय मूल्यों के स्थान पर आर्थिक मूल्यों के आधार पर किया जायेगा वहाँ भी सामाजिक मृत्यु की दरों में वृद्धि की संभावनायें अधिक होंगी।

मृत्यु की अवधारणा

एक समाजशास्त्रीय अनुदृष्टि

— सुषमा खन्ना

मानव अस्तित्व के संदर्भ में “मृत्यु” एक शाश्वत घटना है। *कठोपनिषद्* में ऐसा उल्लेख है कि नचिकेता “मृत्यु” से उसका रहस्य पूछता है¹। मृत्यु-संबंधी सत्य का ज्ञान हमें अपनी नियति तक पहुँचा सकता है। उसके ज्ञान के बिना परम पुरुषार्थ की सिद्धि असम्भव है। नचिकेता को यम नाना प्रकार के सांसारिक उपभोगों को प्रदान करने की चर्चा करता है पर मृत्यु-संबंधी प्रश्न न करने को कहता है। लेकिन नचिकेता अपनी जिज्ञासा पर दृढ़ रहता है। यम उसकी जिज्ञासा-दृढ़ता से प्रभावित हो मृत्यु-संबंधी महत्त्वपूर्ण ज्ञान देता है। मृत्यु-संबंधी ये ही विचार हमें *श्रीमद्भगवद्गीता* तथा दूसरे वेदान्त ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। मृत्यु मानवीय अस्तित्व की समाप्ति नहीं है क्योंकि मनुष्य की आत्मा नित्य एवं शाश्वत है²। यह आत्मा न तो जन्म लेती है और न ही मृत्यु का आलिंगन करती है। समय के प्रभाव में मानव शरीर जीर्ण हो जाता है, मृत्यु इसी जीर्ण शरीर की समाप्ति है³। परम्परागत भारतीय दर्शन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि “मृत्यु वस्तुतः स्थूल शरीर की ही समाप्ति है। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है। अतः मृत्यु आत्मा के जीर्ण देह रूपी वस्त्र का त्याग मात्र है³।

प्रस्तुत प्रपत्र में मृत्यु-संबंधी विचारों की वेदान्ती व्याख्या न कर समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में अस्तित्ववादी परिप्रेक्ष्य के आलोक में इस सन्दर्भ को व्याख्यायित करने का एक लघु प्रयास किया गया है। अस्तित्ववाद बीसवीं शताब्दी के संकट का संदर्श है। इस चिन्ताकुल युग के अनुरूप जीवन का सिद्धान्त अस्तित्ववाद में मिलता है। आज एक ओर विज्ञान की भौतिकवादी धारा ने मनुष्य को अस्तित्वहीन बना दिया है तो दूसरी ओर

1. *कठोपनिषद्*, 1/1/20 (सांकर भाष्य)।

2. *कठोपनिषद्* 1/2/18 (सांकर भाष्य)।

3. *गीता*, 2/22।

तथाकथित लोकतंत्रात्मक एवं समाजवादी समाज के सर्वहारा प्रभाव में व्यक्ति का अस्तित्व निःशेष हो गया है।

अस्तित्ववाद दर्शन न होकर एक प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्ति है। क्योंकि परम्परागत दर्शन में किसी सर्वव्यापी सार-तत्त्व को खोजने का प्रयास किया जाता है, परन्तु अस्तित्ववादी सार-तत्त्व से पूर्व “अस्तित्व” के प्रश्न से संबंधित है। मनुष्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर खोजने से पूर्व “मनुष्य का अस्तित्व क्या है?” इस प्रश्न का उत्तर खोजना आवश्यक है। अस्तित्व के बाद ही सार-तत्त्व की बात करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। डेकार्टे का प्रसिद्ध उद्धरण – “मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है” अस्तित्ववादी द्वारा स्वीकार्य नहीं है। उसके अनुसार जब तक मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं है, तब तक वह विचार कैसे कर सकता है। क्योंकि विचार करने के सामर्थ्य के पूर्व विचार करने का अस्तित्व आवश्यक है। अतः अस्तित्ववादी डेकार्टे के वाक्य को संशोधित कर इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मेरा अस्तित्व है अतः विचार के लिए मेरे अन्दर एक पूर्वापेक्षा है।

मार्टिन हाइडेगर जो एडमण्ड हुसर्ल के विद्यार्थी थे इस परिप्रेक्ष्य के प्रमुख व्याख्याता थे। मार्टिन हाइडेगर इस विचार के पोषक हैं कि हमारा अस्तित्व मृत्योन्मुख सत् है। मृत्यु के संदर्भ में सरलतम ज्ञात यह है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपने लिए मृत्यु का व्यक्तिकरण अवश्य कर लेना चाहिए। जब मैं अपने मित्र की मृत्यु का समाचार पाता हूँ, उसकी अन्त्येष्टि क्रिया में सम्मिलित होता हूँ, अथवा सड़क पर जाती हुई अर्थात् के पीछे उस समय फँस जाता हूँ और मेरी गति मन्द हो जाती है, जब मैं अपनी नयी नियुक्ति को प्राप्त करने की कल्पना के साथ होता हूँ, तब मैं मृत्यु का साक्षात्कार सत् के रूप में न कर केवल सामाजिक रूप में, वस्तुगत घटना के रूप में करता हूँ। मेरे लिए मृत्यु तब तक अपना सही अर्थ देना आरम्भ नहीं करती जब तक मैं यह नहीं मान लेता हूँ कि मृत्यु अपने गम्भीर अर्थों में “मेरी मृत्यु” है, कुछ ऐसी वस्तु जो मेरे ऊपर भी घटित होगी। अर्थात् मृत्यु मेरे स्वयं के आत्मत्व की “तथ्यता” का अंग है। यह कुछ ऐसी वस्तु नहीं है जिसे भावात्मक रूप में आत्मा की भावी संभाव्यताओं में से एक के रूप में अनुभव किया जाना है। “मैं जो कुछ करता हूँ उसकी परवाह न करते हुए यह मुझ पर घटित होगी।” यह मानो मुझे ठीक उसी समय प्रदान कर दी गयी है जब जन्म के द्वारा आत्मा के रूप में मुझे अस्तित्व प्रदान किया गया है। मेरे स्वयं के अस्तित्व की तथ्यता से सामना करने वाले अंग के रूप में मेरी स्वयं की मृत्यु के विषय में ऐसी सीधी बात करना भी मेरे लिए प्रामाणिक अस्तित्व रखने के लिए आवश्यक है। जब तक मैं मृत्यु को अपने से दूर एक ऐसी वस्तु के रूप में जो सामान्य मनुष्यों पर घटित होती है, रखता हूँ अथवा जब तक मैं इसका विचार कुछ समय तक दूर कर देता हूँ जब तक दूर का कल, जिसमें यह घटित होगी, नहीं आता, तब तक मैं अपने अस्तित्व की प्रकृति को पूर्णतः मान्यता प्रदान नहीं करता हूँ। मैं “स्वयं” बनने के लिए मुझे अपने अस्तित्व के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में मृत्यु का आलिङ्गन खुले रूप में अवश्य करना चाहिए।

इसके अलावा मैं यह बहाना करने का प्रयास कर रहा हूँ कि मैं उस प्रकार का अस्तित्व हूँ जिसके लिए मृत्यु सम्भव नहीं है।

मृत्यु मनुष्य की चरम सम्भावना है। मृत्यु की ओर प्रक्षिप्त होने का तथ्य "चिन्ता" से प्रकट होता है। मनुष्य अपनी मृत्यु की चिन्ता का सामना करने, उसकी प्रतीक्षा करने के बजाय इस चिन्ता से भागने के लिए भीड़ की गुमनामी में भाग जाता है और सोचता है कि लोगों को किसी दिन मरना है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वह यह सोचता है कि किसी तृतीय व्यक्ति को मरना है, वह स्वयं अपने सम्बन्ध में मृत्यु को नकारता है। टॉलस्टाय की प्रसिद्ध कहानी "इवान इलिच की मृत्यु" में यह स्पष्ट दिखाया गया है कि मृत्यु की, सर्व सामान्य समस्या को व्यक्तिगत समस्या "कि मुझे मरना है" इस रूप में लेना अत्यन्त कठिन है। मृत्यु की चिन्ता को स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करते हुए यह मानना कि मेरी मृत्यु मेरी है और यह किसी क्षण आ सकती है, मेरे स्थान पर कोई दूसरा नहीं मर सकता, अपनी मृत्यु के सम्मुख मैं अकेला हूँ, इसे मृत्यु की स्वतंत्रता कहा जा सकता है। अतः मृत्यु मानवीय जीवन की चरम परिणति है।

प्रमुख अस्तित्वादी चिंतक सार्त्र के मृत्यु-सम्बन्धी विचार का विकास हाइडेगर के मृत्यु-दर्शन के विरोध में हुआ है। सार्त्र इस मत के पोषक दिखलाई पड़ते हैं कि मृत्यु मनुष्य की चरम सम्भावना नहीं है और न ही उसका सत् मृत्योन्मुख सत्य है। सच तो यह है कि स्व-निर्मित सत् कभी अपनी मृत्यु का सामना ही नहीं करता, क्योंकि जब तक जीवन है तब तक मृत्यु नहीं है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य वह नहीं है जो वह है। वह सदैव स्व-निर्माण की प्रक्रिया है। मनुष्य होने का अभिप्राय भविष्य के प्रति योजना के लिए स्वतंत्र होना है, अपनी सम्भावनाओं के प्रति स्वतंत्र होना है, लेकिन मृत्यु हमारे समक्ष सामने खड़ी दीवार की भांति आती है जिसके परे हम नहीं जा सकते, योजना नहीं बना सकते अर्थात् मृत्यु हमारी सम्भावनाओं का निषेध मात्र है। यह हमारी समस्त परियोजनाओं को समाप्त कर देती है अर्थात् मृत्यु मनुष्य की सीमा है। स्व-निर्मित सत् के रूप में मैं अपना वर्तमान हूँ, भविष्य के प्रति अपनी कार्य-योजना हूँ, जबकि मेरा अतीत स्वयं में स्थित जगत् का अंग हो गया है। मृत्यु के समय मैं पूर्ण रूप से अतीत हो जाऊँगा और यह अतीत चूँकि स्वयं में स्थित सत् है, अतः यह कहा जा सकता है कि मृत्यु स्व-निर्मित सत् को स्वनिष्ठ सत् "वस्तु" के रूप में बदल देती है। इसीलिए सार्त्र के विचारों में वह विरोधाभास दिखलाई पड़ता है, जिसमें जीवित मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि वह नहीं है और मृत व्यक्ति के विषय में कहा जाता है कि वह है⁴।

सार्त्र मृत्यु को एक आकस्मिक तथ्य मानते हैं। उनके अनुसार जन्म की तरह मृत्यु भी एक तथ्य है जो बाहर से मेरे निकट आता है। जिस पर मेरा बस नहीं है। मृत्यु एक मानवीय

तथ्य है जो मानव-जीवन से परे नहीं, मानव-जीवन की सम्भावना नहीं, अपितु जीवन की एक सीमा है। चूँकि मनुष्य का सम्बन्ध मानवीय तथ्यों से ही होता है अतः यह मानवीय तथ्य है। सारत्र मृत्यु पर अपने विचार व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मृत्यु सम्पूर्ण मानव सम्भावनाओं का निरर्थक विकास है, मानव अहम् की अर्थहीन अंत्येष्टि है। मृत्यु मानव जीवन को कोई अर्थ प्रदान नहीं करती अपितु सम्पूर्ण जीवन की निरर्थकता को भली-भाँति प्रगट कर देती है⁵। यह अर्थहीन है कि हम पैदा हुए थे और यह भी अर्थहीन है कि हम मरते हैं⁶।

इस प्रकार मृत्यु और जीवन के सम्बन्ध में मृत्यु की विशद व्याख्या करने की जो अस्तित्ववादी दृष्टि है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सिक्के के एक ओर किसी आकृति के “शीर्ष बिन्दु” और दूसरी ओर अधिभाग होता है। अर्थात् एक ओर जीवन और दूसरी ओर मृत्यु है। एक ओर मृत्यु है तो दूसरी ओर जीवन है। प्रत्येक समय जीवन के सभी दिनों में हम मरते रहने की प्रक्रिया में हैं, जबकि हम जीवित रहने की प्रक्रिया में भी हैं। इस दृष्टि से मृत्यु को आत्मा के रूप में मेरे अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं में अवश्य देखा जाना चाहिये अर्थात् मृत्यु को किसी भी समय पूरे जीवन की वर्तमान संभाव्यता के रूप में देखा जाना चाहिये।

5. वीइंग एण्ड नधिगनेस, पृ. 695।

6. वही, पृ. 699।

मेलान

एक लोक अवधारणा

— राघवेन्द्र प्रताप सिंह

आज मृत्यु का वरण विचार-विमर्श का विषय हो गया है। कई लोग आत्महत्या कर लेते हैं, उग्रवादी मिशन के लिए ऐसा करते हैं, सैनिक शहीद होते हैं, वैरागी समाधि लेते हैं, कुछ विधवाएँ सती होती हैं, राजपूतनियाँ कामी मुगल आक्रान्ताओं से बचने के लिए ही जौहर करती थीं। कुछ पंथों में तो सामूहिक आत्महत्या की प्रथा है, असाध्य रोग से ग्रसित व्यक्तियों को जीवन-लीला समाप्त करने का चिकित्सकीय उपाय है, कुछ मरीज मृत्यु की प्राप्ति के लिए दवाएँ लेना बन्द कर देते हैं, जैन धर्म में संथारा लेना भी मृत्यु प्राप्ति का एक साधन है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में मृत्यु और जीवन को एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में ग्रहण किया गया है। भारतीय लोक परम्परा भी इसी दार्शनिक परम्परा का अनुकरण करती प्रतीत होती है। मेलान नामक लोक अवधारणा में व्यक्ति मृत्यु का अनुभव करता है। जहाँ जीवन है, वहीं मृत्यु है। जीवन और मृत्यु दोनों एक-दूसरे से संपृक्त हैं। इस लोक अवधारणा में जीवन को मृत्यु से जोड़ा गया है। इस प्रविधि में सम्बन्धित व्यक्ति को मृत्यु स्वयं खोज लेती है।

लोक प्रचलित यह अवधारणा मूलतः बलिया जनपद के सिकन्दरपुर तहसील के अन्तर्गत 25 कि॰मी॰ के विस्तृत क्षेत्र में स्थित ग्रामों — एकलई, सिकन्दरपुर, तेन्दुआ और कुण्डीडीह के सर्वेक्षण पर आधारित है। इन ग्रामों से मैंने क्रमशः 3,1,1,1 व्यक्तियों का साक्षात्कार प्रश्न-तालिका के माध्यम से लिया। इसके अतिरिक्त अन्य लोगों से भी चर्चा हुई जो विभिन्न सामाजिक वर्गों और ग्रामों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मेलान नामक लोक अवधारणा में व्यक्ति किसी तांत्रिक द्वारा अपने शत्रु के ऊपर अभिचार क्रियाएँ करवाता है, जिससे लक्षित व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। सर्वप्रथम मिट्टी

के बर्तन में आटे का पुतला बनाकर मंत्र द्वारा उसे जागृत किया जाता है एवं उसे शत्रु के ऊपर भेजा जाता है। जिस व्यक्ति के ऊपर मेलान का प्रयोग किया जाता है, उसका चेहरा विकृत दिखाई देने लगता है। यह उसके मेलान से ग्रसित होने का लक्षण है। मेलान भेजने के सम्बन्ध में यह भी प्रचलित है कि किसी जानवर की बलि देकर उसकी आत्मा को तांत्रिक अपने वश में कर लेते हैं और उस वशीभूत आत्मा को लक्षित व्यक्ति के पास उसके नाम, स्थान और आयु के आधार पर भेजते हैं। इसी आधार पर मेलान अपने लक्ष्य की ओर चलता है। लक्षित व्यक्ति जिस ग्राम में निवास करता है, वहाँ के ग्राम देवता मेलान से उसको बचाने का प्रयास करते हैं। इसलिए मेलान भेजने से पूर्व ही सम्बन्धित ग्राम के देवता को पूजा-पाठ द्वारा प्रसन्न कर अपने पक्ष में करने का प्रयास करते हैं। मेलान के सम्बन्ध में एक अवधारणा यह भी है कि तांत्रिक कड़ाहे में घी, बत्ती, आदि सामग्री रखकर मंत्र के द्वारा उसे जागृत करता है। मंत्रबल से कड़ाहा चलता है और अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। ऐसी भी जनश्रुति है कि मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा की जाती है तथा इसे कुश द्वारा प्रतिदिन छेदन किया जाता है। मूर्ति छेदन से लक्षित व्यक्ति को कष्ट होता है जैसेकि वास्तव में उसे ही छेदन द्वारा प्रताड़ित किया जा रहा हो। यह प्रताड़ना पूर्णाहुति के दिन तक चलती है। पूर्णाहुति के दिन व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, इसके अतिरिक्त, इस अवधारणा में तत्काल मृत्यु की भी व्यवस्था उपलब्ध है। लक्षित व्यक्ति को अगर यह ज्ञात हो जाता है कि उस पर मेलान का प्रयोग किया गया है तो वह किसी तांत्रिक (शयाने) की सहायता उसे वापस भी लौटा देता है। लेकिन लौटाने की यह प्रक्रिया उसी अवस्था में संभव है जब तक कि लक्षित व्यक्ति जीवित है तथा लौटाने वाला तांत्रिक मेलान भेजने वाले तांत्रिक की अपेक्षा अधिक सिद्धि-सम्पन्न हो।

कभी-कभी मेलान लक्षित व्यक्ति को नहीं प्राप्त कर पाता है, तो वह स्वयं ही वापस लौट आता है। मेलान को अगर मंत्रबल से लौटाया जाता है तो यह भेजवाने वाले को नुकसान पहुँचाता है। परन्तु लक्ष्य प्राप्ति की असमर्थता की अवस्था में तांत्रिक को ही नुकसान पहुँचाता है। यह लक्ष्य प्राप्ति की असमर्थता निर्दिष्ट स्थल पर व्यक्ति की अनुपस्थिति की उपज होती है।

इस सम्बन्ध में एक ग्रामीण ने एक परिवार की घटना सुनायी जिस पर मेलान भेजा गया था। किन्तु उस परिवार की एक विवाहित लड़की ने जो स्वयं तांत्रिक थी, पूरे परिवार को घर छोड़कर तुरन्त गाँव की सीमा से बाहर चले जाने को कहा। वे गाँव की सीमा से बाहर चले गये। मेलान आया किन्तु किसी को न पाकर वापस लौटकर तांत्रिक की पत्नी को मार डाला। (बिच्छू के रूप में आकर उसे काट लिया जिससे उसकी मृत्यु हो गयी)।

मेलान जागृत करने की अभिक्रिया में जो ऊर्जा उत्पन्न होती है उसका क्षय करना असंभव है। भेजने वाला तांत्रिक अगर समर्थ होता है तो लौटाए हुए मेलान को और अधिक

प्रभावी बनाकर पुनः वापस भेज देता है। किन्तु अगर इसमें सक्षम नहीं रहता है तो मेलान को किसी पशु या पेड़-पौधे पर आरोपित कर देता है। मेलान आरोपित पशु हिंसक हो जाता है, जिसे ग्रामीण क्षेत्र में भूतहा पशु के नाम से पुकारा जाता है। अक्सर यह साँड़ या भैंसे के साथ सुना जाता है। अगर पेड़-पौधे पर मेलान का आरोपण किया जाता है तो वह सूख जाता है।

मेलान जिसे "पूराचरन" और "मूँठ" भी कहा जाता है सिर्फ शत्रुनाशन के लिए ही नहीं उपयुक्त है, अपितु इसके प्रयोग का एक उज्ज्वल पक्ष भी है। सामान्यतः अभी तक इसकी शत्रुनाशक विधि ही अधिक प्रयोग में लायी जाती रही है। इसके द्वारा घर छोड़कर भागे हुए को भी वापस बुलाया जा सकता है। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग मृत्यु प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। लेकिन इस मृत्यु प्राप्ति का उद्देश्य शत्रुता न होकर शरीर त्याग की उत्प्रेरणा होनी चाहिए। वर्तमान में इसका प्रयोग यदि जल-समाधि, आत्मदाह, विष सेवन और अन्न-जल त्यागकर मृत्यु प्राप्ति के कष्टकारी साधनों के विकल्प के रूप में किया जाये तो मेलान को उपयोगी तथा लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

जन्म, जीवन एवं मृत्यु

— दीनानाथ झुनझुनवाला

प्रकृति में सर्जन एवं विसर्जन की प्रक्रिया प्रत्येक क्षण घटित हो रही है। हम दशहरे पर माँ दुर्गा की मूर्ति का, एवं गणेश चतुर्थी पर गणपति की मूर्ति का सर्जन करते हैं एवं कुछ दिनों बाद उत्सव एवं उत्साहपूर्वक उसका विसर्जन करते हैं। सर्जन एवं विसर्जन के बीच का समय ही जीवन है। प्राणी मात्र के लिये भी यही प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

जन्म के साथ भेद है। कोई राजा के घर पैदा होता है। कोई सुन्दर, गोरा, बुद्धिमान, त्यागी, वैरागी पैदा होता है तो कोई गरीब के घर, कुरूप, मूर्ख, रोगी, भोगी पैदा होता है। यानि पैदा होने के साथ ही जीवन में भेद आ गया।

इसी प्रकार जन्म के बाद जो जीवन हमने पाया उसी जीवन में जितने मनुष्य हैं चाहे पुरुष हों या स्त्री, सबमें भिन्नता मिलेगी। कोई दो पुरुष एक प्रकृति के नहीं मिलेंगे। भिन्नता भी ऐसी कि एक महात्मा बुद्ध जैसा महान् त्यागी, वैरागी, टाटा, बिड़ला सरीखा उद्योगपति, नेहरू, पटेल सरीखा राजनीतिज्ञ, चन्द्रशेखर आज़ाद एवं राम प्रसाद बिस्मिल सरीखा बलिदानी आदि तो दूसरी ओर मानसिंह एवं मलखान सिंह सरीखा डाकू, रोगी, भोगी, क्रोधी, आदि उनके नाम लेने की आवश्यकता नहीं। कुछ ऐसे जीवन भी मिलेंगे जिनमें परिवर्तन आ गया यानी बुरे से अच्छे हो गये एवं अच्छे से बुरे हो गये।

जीवन की समाप्ति की अवस्था का नाम मृत्यु है। जन्म एवं मरण के बीच की अवस्था का नाम ही जीवन है। मृत्यु के उपरान्त शरीर को कोई जलाता है और उसके पीछे उसकी मान्यता रहती है कि पंच-तत्त्व का यह शरीर अपने पंच तत्त्वों में विलीन हो जाये। कोई गाड़ता है तो उसकी मान्यता है कि कयामत के दिन आयेंगे तो यह पुनः जीवित हो उठेगा। कोई मुर्दे को पक्षियों के लिए सुलभ कराते हैं ताकि यह शरीर भी किसी के काम आ जाये। संन्यासी का शरीर गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता है। कारण उसका पिण्डदान संन्यास लेने के वक्त हो जाता है। मृत्यु के बाद जो अमर हो जाते हैं उनकी मृत्यु भी मंगलकारी मानी जाती है। मृत्यु के बाद शरीर के साथ कोई भेदभाव नहीं होता। जिस धर्म की जैसी

मान्यता, उसी प्रकार उस शरीर को या तो जलाया जाता है या गाड़ा जाता है या गंगा की धारा में प्रवाहित किया जाता है। मृत्यु के बाद मृत शरीर की स्थिति समानधर्मा है (अपने-अपने धर्मों के अनुसार), उसमें कोई भेदभाव नहीं होता।

मरने के बाद की स्थिति भी तीन प्रकार की होती है। एक मुक्त अवस्था यानी जिसका पुनर्जन्म नहीं होता, दूसरा अशरीरी अवस्था, वह अवस्था जब तक आत्मा ने दूसरा शरीर धारण नहीं किया हो, और एक तीसरी अवस्था है जब यह आत्मा शरीर धारण कर लेती है। यह तो जीवन-चक्र है जिसका वर्णन मैंने ऊपर किया। अब हर अवस्था का विश्लेषण करने का प्रयास करूँगा।

पहली बात तो यह समझने लायक है कि हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं लेकिन फल पाने में परतंत्र हैं। लेकिन फल का मिलना निश्चित है। केवल यह मालूम नहीं कि फल कब, कितना और किस रूप में मिलेगा। कर्म करने के बाद जब उसका फल भविष्य में मिलता है तो उसे भाग्य की संज्ञा दी गई है। यानी भाग्य के मूल में हमारा पूर्व में किया गया कर्म ही है। चूँकि कर्म फल पाने में हम स्वतंत्र नहीं अतः कर्म की गति को भगवान कृष्ण ने गीता में "गहना कर्मणो गतिः" बताकर इस रहस्य को जानने के प्रयास पर पूर्ण विराम लगा दिया। इसे यों भी समझा जा सकता है कि हमें आज जो भाग्य के रूप में मिला वह हमारे कौन-कौन से कर्म का फल है इसे आज तक न तो कोई जान सका और न कोई बता सका।

हमारे पुनर्जन्म का हेतु हमारा कर्म बन्धन ही है। जब तक हमारे कर्म अच्छे-बुरे होते रहेंगे तो हमारे पाप-पुण्य का सृजन होता रहेगा और उन पाप-पुण्य को भोगने के लिये हमें शरीर धारण करना ही पड़ेगा। हमारा सुख भोग हमारे पुण्य का क्षय करेगा तथा हमारा दुःख भोग हमारे पाप का क्षय करेगा। एक बात और ध्यान देने की है कि पाप-पुण्य का खाता कभी बराबर नहीं होता। यानी पाप एवं पुण्य को अलग-अलग ही दुःख-सुख के रूप में भोगना पड़ेगा।

हमारे पाप-पुण्य का सृजन होना जब बन्द हो जायेगा तो हमारे भावी जन्म का हेतु ही समाप्त हो जायेगा। पाप-पुण्य का सृजन कब बंद होगा जब हम कर्त्तापन के भाव से मुक्त होकर करने पर भी उस कर्म के अकर्त्ता बने रहेंगे। जैसे हम निरन्तर श्वास ले रहे हैं, हमारी पलकें निरन्तर गिरती-उठती हैं लेकिन उस क्रिया के कर्त्तापन का न तो हमें बोध है और न हम उस क्रिया को करने के लिये कोई प्रयास करते हैं। यानी क्रिया जब हमारा स्वभाव हो जायेगी तो कर्त्तापन के भाव का सर्वथा लोप हो जायेगा।

यह समझना कठिन है कि मृत्यु के उपरान्त शरीर तो यहीं छूट जाता है तो हमारा पाप-पुण्य पुनः भोगने के लिये रहते कहाँ हैं! हमारा प्राण जब निकल गया तो हमारी मृत्यु हो गई। जो प्राण निकलकर गया वह अब अशरीरी अवस्था में है। उसी प्रण के साथ हमारे पाप-पुण्य भी चले गये। यह उसी प्रकार साथ जाता है जैसे हवा जब बहती है तो जिस

स्थान से होकर बहती है उस स्थान की सुगंध या दुर्गन्ध साथ लेकर जाती है। हम उस सुगन्ध एवं दुर्गन्ध का अनुभव तो करते हैं लेकिन उसे देख नहीं पाते। उस सुगन्ध ने न तो हवा का रूप-रंग बदला, न उसका वज़न बढ़ाया, न हवा का आकार-प्रकार बदला। फिर भी उस हवा की सुगन्ध या दुर्गन्ध का हम अनुभव करते हैं। ठीक इसी प्रकार से बिजली के तारों को हम देखते हैं उसमें करेन्ट आने के कारण न तो तार का वज़न घटता-बढ़ता है न उसके रूप-रंग, आकार-प्रकार में भिन्नता आती है, न हम उसे देख पाते हैं। उसका अनुभव या तो हम स्पर्श से कर पाते हैं या वह करेन्ट जब उपकरण को यानि हीटर, बल्ब, बिजली की मोटर को चलाता है तो तारों में करेन्ट का होना प्रमाणित होता है। जैसे मोटर में जब तक करेन्ट नहीं तब तक मोटर बेकार है लेकिन करेन्ट आने के उपरान्त उस मोटर से हम चाहे हीटर चलावें, चाहे कूलर, यह हमारे पर निर्भर करता है। ठीक इसी प्रकार इस शरीर में जब प्राण आये तो यह ज़िन्दा हुआ, वरना बेकार। प्राण आने के उपरान्त इसका उपयोग करने में हम स्वतंत्र हैं कारण भगवान् ने हमें सभी उपकरण दे दिये, जैसे काम करने के लिए पाँच कर्मेन्द्रियाँ यानि हाथ, पैर, गुदा, लिंग, जीभ तथा अनुभव करने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमें मिलीं यानि आँख, नाक, रसना, कान तथा स्पर्श करने के लिए त्वचा। इन सभी इन्द्रियों को संचालित करने के लिये मन एवं बुद्धि भी दे दिया। बुद्धि का काम है जानना तथा मन का काम है मानना। इन सबके ऊपर हमारा स्वभाव या प्रकृति है जो इन सभी इन्द्रियों से परे हैं। इतने उपकरण देने के उपरान्त हम काम करने में स्वतंत्र हो गये। यानि हम अपने सभी उपकरणों का चाहे अच्छे काम में उपयोग करें चाहे बुरे काम में या कुछ न करें। कुछ न करना चाहेंगे तो भी संभव नहीं, कारण भोजन, निद्रा, भय, मैथुन, आदि स्वाभाविक क्रियायें तो होती ही रहेंगी। इस प्रकार हमने यह बताने का प्रयास किया कि हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं लेकिन फल पाने में परतंत्र हैं। फल भी एक तत्काल मिलता है जैसे भोजन किया तो पेट भर गया। दूसरा कुछ समय बाद फल मिला जैसे हम व्यायाम करते हैं तो शक्ति हमें कुछ समय बाद मिलेगी। लेकिन भगवान् की पूजा-प्रार्थना की, गरीबों की सेवा की, दान धर्म किया। इसी प्रकार यदि हमसे गलत कर्म हुए तो हमें मालूम नहीं कि इन कर्मों का फल कब मिलेगा। हो सकता है इनका फल इसी जन्म में मिले या जन्म-जन्मान्तर में। यह निश्चित है कि फल भोगने के लिये हमें पुनर्जन्म लेना ही पड़ेगा। हमारे कर्म जब हमें कर्म-बन्धन में बाँधना बन्द कर देंगे तो पुनर्जन्म का हेतु ही समाप्त हो जायेगा। यह अवस्था तब आती है जब कर्म सहज ही होते रहते हैं। उसमें हमारा कर्त्तापन का भाव नहीं है तब कर्म करने के उपरान्त भी हम अकर्त्ता हैं। जहाँ कर्त्तापन के भाव का लोप हुआ तो हम अकर्त्ता हो गये और इस प्रकार कर्म-बन्धन से मुक्त हो गये। ऐसी अवस्था जीवित अवस्था में ही संभव है। मरने के उपरान्त उसी को मुक्ति मिलती है। ऐसी अवस्था जब आती है तो पुराने पाप-पुण्य भस्म हो जाते हैं तथा नये कर्म हमारे बन्धन के कारक नहीं बनते। यही स्थिति मोक्ष है। निर्वाण है।

बौद्ध विचारधारा में निर्वाण जीवन-साधना की पूर्णाहुति है। निर्वाण को अन्तिम शुद्धि के रूप में वर्णित किया है। निर्वाण अहंकारमुक्त मानव की परम सुखमय अवस्था है। निर्वाण में तप द्वारा अहं क्षीण हो जाता है। जहाँ अहं है, वहाँ निर्वाण नहीं एवं जहाँ निर्वाण है, वहाँ अहं नहीं होता। मानव की ऊर्ध्वतम चेतना अर्थात् आध्यात्मिक अनुभूति की चरम अवस्था है निर्वाण। पालि *त्रिपिटक* में निर्वाण को अमृतपद कहा है। इस अवस्था में मृत्यु मर जाती है। बुद्ध ने कहा 'भिक्षुओं, ध्यान दो, मुझे अमृत मिला है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को अन्तिम शुद्धि कहा है। यह मरने पर नहीं होती।

इस प्रकार शुद्ध जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। आत्मा परमात्मा में उसी प्रकार विलीन हो जाती है जैसे नदी समुद्र में विलीन होने के उपरान्त अपना नाम एवं अस्तित्व समाप्त कर देती है। एक अवस्था मरने के उपरान्त एवं पुनर्जन्म के पहले की है। उस अवस्था को "पीर" प्रेत, आदि के नाम से जानते हैं। तीसरी अवस्था पुनर्जन्म की है। इस अवस्था में वह अपने पूर्व जन्म के सीमित पाप-पुण्य के फलस्वरूप सुख-दुःख लेकर आता है। मरने के उपरान्त जो प्राण निकला वह अपने साथ इस जन्म के पाप-पुण्य को सूक्ष्म रूप में ले गया। जैसे वायु अपने साथ सुगन्ध या दुर्गन्ध लेकर जाती है। यही पाप-पुण्य हमारे जन्म में भेद के कारण होते हैं। अगर अच्छे काम किये तो राजा के घर पैदा होंगे, सर्वांग सुन्दर पैदा होंगे एवं बुरे कर्म किये तो गरीब के घर अपंग एवं कुरूप पैदा होंगे। यह भी संभव है कि राजा के घर अपंग एवं कुरूप पैदा हों तथा रंक के घर सुन्दर एवं सपंग पैदा हों। बस यहीं पर "गहना कर्मणो गतिः" प्रमाणित होती है। कारण हम नहीं जानते कि इस जन्म में राजा के घर या रंक के घर पैदा होने में हमारा कौन सा पाप-पुण्य हेतु बना।

इस प्रकार हमने यह बताने का प्रयत्न किया कि जन्म, जीवन एवं मृत्यु एक चक्र है। भगवान् ने *गीता* में कहा कि "हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ पर तुम नहीं जानते। यह जीवात्मा न कभी जन्म लेती है और न कभी मरती ही है। यह अजन्मा, शाश्वत्, नित्य, पुरातन है। शरीर के मर जाने पर भी यह नहीं मरती। यानि यह शरीर मरणधर्मा है। आत्मा अमर है।" इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा कि "कर्म प्रधान विश्व रचि राखा।" यानि हम जैसा कर्म करेंगे उसी प्रकार हमारी जीवन-यात्रा होगी।

जीवन की मृत्यु सहेली है

— रामप्रवेश शास्त्री

मृत्यु को सभी धर्मों ने मनुष्य का सच्चा मित्र बतलाया है। वह है भी, लेकिन उसके नाम से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आश्चर्य की बात है कि सच्चे मित्र से दिल खोलकर मिलना तो दूर रहा, उसका नाम सुनना भी गँवारा नहीं है। वास्तविकता यह है कि मरना न हो तो जीवन नीरस और निरर्थक बन जाये। फिर इस विरोधाभासी आचरण का रहस्य क्या है?

मृत्यु की अवधारणा सारे संसार में एक सी नहीं है। एक देश में भी भिन्नता मिलेगी। यहाँ तक कि एक धर्म भी उसके प्रति एक-सा व्यवहार नहीं करता। क्योंकि कोई ऐसा धर्म नहीं है जो कम-से-कम दो शाखाओं में विभाजित न हो। मृत्यु की अवधारणा सम्बन्धी कुछ पंक्तियाँ, काव्य की, यहाँ उद्धृत हैं —

कफन बढ़ा तो किसलिए, नज़र तू डबडबा गई?

सिंगार क्यों सहम गया, बहार क्यों लजा गई?

है जन्म क्या, है मौत क्या, बस इतनी-सी तो बात है,

किसी की आँख खुल गई, किसी को नींद आ गई।

“नीरज” जी ने कितने सरल ढंग से खुलासा कर दिया है — जन्म और मौत का। और ऐसी ही एक परिभाषा बेधड़क जी ने दी है —

जिन्दगी एक है सेन्टेन्स अपने आप समझो,

इसके शब्दार्थ में ही पुण्य और पाप समझो।

जवानी क्या है? है डैस, बुढ़ापा कोमा,

बेधड़क मौत को तुम एक फुलस्टॉप समझो।

दो पंक्तियाँ, बड़ी सादगीपूर्ण, पेश करने का मन हो रहा है —

मुसाफिर का सफर से लौटकर अपने वतन जाना।

इसी को मौत कहते हैं, यही होता है मर जाना।।

संत कबीर ने भी अपने ढंग से कह दिया है —

रहना नहीं देश बेगाना है।

लेकिन न मरने वालों में वे स्वयं अपना नाम गिनाते हैं कि —

एक कबीरा ना मरा जाको राम अधार।

तो मरना, न मरना कुछ अपने वश की भी बात मालूम होती है, तभी भीष्म जैसे हो गए हैं जिनको इच्छा-मृत्यु का वरदान था। लेकिन मृत्यु उनकी भी अनिवार्य थी।

महात्मा गांधी ने 125 वर्ष जीवित रहने की कामना की थी। वे जीवित रह सकते थे। लेकिन ऐसा समय आया कि तत्काल मौत की कामना करने लगे। इसके पीछे महत्वपूर्ण तथ्य छिपा हुआ है। यहाँ उल्लेखनीय है कि *गीता* आदि ग्रंथों में बताया गया है कि मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है। आत्मा जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त है। शरीर तो वस्त्र की तरह है, पुराना हो गया तो बदलने का सुखद अनुभव होना चाहिए। संतों ने स्वेच्छा से शरीर त्याग किया है। क्योंकि पुराना कपड़ा चीथड़ा हो जाये तो वह शोभनीय नहीं है। एक शेर याद आ रहा है।

गमे ज़माना जिसे मौत आप कहते हैं।

हमें यह मौत न मिलती तो मर गए होते।

यहाँ दो प्रकार की मौत दिखाई दे रही है। ज़माने के गम में जिन्होंने अपनी हड्डियाँ गलाने का निश्चय कर लिया, ज़माने के दुःख-दर्द को अपना दुःख-दर्द बना लिया उन्हें चैन कहाँ मिलता है। उसे भी लोग मौत ही मानते हैं। लेकिन स्वेच्छा से जिन्होंने ऐसी मौत को गले लगाया है, वे तो उसके बिना जिन्दा नहीं रह सकते। इस शरीर के रहते हुए भी मृतक समान जीवन उनके लिए भार स्वरूप हो जायेगा। गांधी जी ने देख लिया कि वर्षों जो कंधे-से-कन्धा मिलाकर चलते आए, जिनका बहुत भरोसा किया था, वे सब धीरे-धीरे किनारा करते गए। फिर जीने का आनन्द जाता रहा। इसलिए उन्होंने प्रार्थना की — “हे ईश्वर! मुझे तत्काल उठा ले”। ऐसे महात्मा शरीर छूट जाने के बाद भी जीवित रहते हैं। गांधी जी ने अपने बारे में कहा था कि — “ऐसा नहीं है कि इस शरीर के छूट जाने के बाद मैं नहीं रहूँगा। मैं कब्र में से भी आवाज़ देता रहूँगा”। यह हम सबके चिन्तन की अपेक्षा रखने वाला कथन है।

सांसारिक मनुष्य जाने-अनजाने अपनी मृत्यु का सार-भार करता रहता है। औलाद नहीं है तो दुःखी रहता है। जब वह नए लोगों के पैदा होने की इच्छा करता है, उसके लिए उद्योग भी करता है तो इसका क्या अभिप्राय हुआ? यही न कि वह जगह खाली करे जहाँ आने वाले सुखपूर्वक रह सकें। जितने लोग पैदा हुए अगर वे बराबर बने रहें तो न धरती पर रहने का स्थान होगा और न खाने को अन्न मिलेगा। फिर मरने पर रोने की क्या बात

है? हाँ, सभी नहीं रोते। कुछ समुदायों में तो रोने वाले किराये पर बुलाये जाते हैं। शायद उनका विश्वास है कि इससे मरने वाले को सद्गति मिलेगी। ऐसे समुदाय भी हैं जहाँ मरने पर खुशी मनाई जाती है। कबीर भी तो कहते हैं – “दुलहिन गावहु मंगलाचार”।

कहते हैं सुकरात ने अपने शिष्यों को कहा था कि पता लगाओ कि ज़हर का प्याला ठीक समय पर मिल तो जायेगा, शिष्यों को आश्चर्य हुआ – “आप क्यों चिन्ता कर रहे हैं?” सुकरात ने कहा – पीना मुझे है तो चिन्ता कौन करेगा? उनको ज़हर पीने की सज़ा दी गई थी।

शिष्यों ने यह भी जानना चाहा कि आपका संस्कार किस प्रकार किया जायेगा? सुकरात को हँसी आ गई। बड़े पते की बात उन्होंने कही – “तो ज़हर पिलाने वाले हमारे दुश्मन और ज़मीन में गाड़ने वाले दोस्त हो गए”। अन्त में उन्होंने एक सटीक उत्तर दिया कि हमको पकड़ पाओगे तभी न गाड़ोगे या फूँकोगे।

मरणोपरान्त उनके शरीर के साथ क्या विधि-विधान किया जाये, इस सम्बन्ध में लोग अपना “विल” लिखकर छोड़ जाते हैं। संत तिरुवल्लुवर ने लिखा था – “मरने के बाद मेरा शरीर जंगल में छोड़ दिया जाये ताकि जंगल के जानवर उसे खा सकें”। एक धर्म ऐसा भी है कि मृत शरीर को ऊँचे टावर पर रख देते हैं। मांसभक्षी पक्षी उसे खा जाते हैं। कुछ लोग अपने अंगों का दान-पत्र लिख देते हैं। मरने पर उनकी आँखें किसी को लगा दी जायें। उनका शरीर मेडिकल कॉलेज को दे दिया जाये पढ़ने वाले छात्रों के लिए। कहने का तात्पर्य यह है कि “हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता” की तरह मृतक संस्कार के इतने विधि-विधान हैं जिनका वर्णन आसान नहीं है।

पुनर्जन्म एक बहुत बड़ा आश्वासन है मरने वाले के लिए। वैसे मोक्ष चाहने वालों की भी कमी नहीं है। मनु महाराज इस राय के हैं कि “जीवन का अभिनन्दन नहीं, मृत्यु की वासना नहीं।” वास्तव में जीवन की चौहद्दी बनती है जन्म और मृत्यु से, फिर तो दोनों के प्रति एक समान भाव होना चाहिए। सामान्यतः ऐसा होता नहीं। जन्म की खुशियाँ मनाई जाती हैं और मृत्यु से पलायन करते हैं। यक्ष के एक प्रश्न का उत्तर युधिष्ठिर ने यही तो दिया था कि हम रोज़ जनाज़ों की कतारें देख रहे हैं फिर भी समझते हैं कि हमको नहीं मरना है। यहाँ तक कि “राम नाम सत्य है” मंत्र को हमने श्मशान के साथ स्थायी रूप से जोड़ दिया है। किसी के घर में बैठकर इस मंत्र का उच्चारण करने वाले की खैर नहीं है, तभी शायद कबीर को कहना पड़ा कि “आशा तृष्णा ना मरी, मर-मर गया शरीर”।

कहते हैं कि रात-दिन, सुख-दुःख की तरह जन्म और मृत्यु का भी चक्कर चलता रहता है। लेकिन यह बात हमको पचती कहीं है? अपने जीने के लिए हजारों पशु-पक्षियों का वध सहज रूप से करते रहते हैं। अपनी मौत नहीं दिखाई देती। मौत से आँख बचाने, भागने का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि मौत को जो पसन्द है वह हमको पसन्द नहीं है। सच्चा

मित्र तो वह है ही। क्योंकि जब सब छोड़कर अलग हो जाते हैं, जिनको हम बहुत चाहते हैं, तब हमारे न चाहने पर भी मौत आती है और हमको गले लगाती है। सोचने की बात यह भी है कि जिन परिस्थितियों में आज का मनुष्य जी रहा है — अभाव, अन्याय, अत्याचार, अनाचार, बेकारी, बेरोज़गारी, नाना प्रकार के रोग, दुःख, दवा की जगह दुआ का ही सहारा रह गया है तो इन परिस्थितियों से छुटकारा दिलाने वाली एकमात्र मौत ही है।

मृत्यु से सम्बन्धित कुछ अलौकिक, अद्वितीय दृष्टान्त हैं, जैसे नचिकेता और यमाचार्य का संवाद, सावित्री-सत्यवान की घटना जिसमें यमाचार्य को वापस लौटना पड़ा। इन पर महापुरुषों ने ज्ञानवर्द्धक महान् ग्रंथों की रचना की है, किन्तु मृत्यु के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिगत नहीं है। भगवान् ने भी कहा है कि जो दिखाई पड़ता है जीवन इतना ही नहीं है। इससे पहले भी था और बाद में भी रहेगा। लाचारी में इन बातों से थोड़ा संतोष अवश्य मिल जाता है, लेकिन समाधान नहीं हो पाता। दिन भर श्रम करने के बाद आराम मिलता है नींद से। वैसे ही जीवन के अन्त में मृत्यु भी आराम प्रदान करती है। सुनने और समझने में भी सुखद और सरल है लेकिन पर्याप्त नहीं है।

संत विनोबा ने जीवन को संस्कार संचय कहा है। दिन भर की कमाई का मूल धन लेकर हम दूसरे दिन की जीवन-यात्रा शुरू करते हैं। वैसे ही अंतिम समय में जो संस्कार बचे रहते हैं वह अगले जन्म की पूँजी है। निद्रा, मृत्यु का लघु संस्करण है। रात में शरीर के सारे अवयवों को आराम मिल जाता है। निःस्वप्न निद्रा है तो मन की थकावट भी दूर हो जाती है। लेकिन प्राण निरन्तर काम करता रहता है। उसको विश्राम देने वाली एकमात्र मृत्यु ही है। प्राण को विश्राम देने वाली निद्रा का नाम है मृत्यु। अस्तु वह वरदानस्वरूप है।

मृत्यु के बाद नरक, स्वर्ग और ब्रह्मलोक तीन अवस्थाओं का समाधान इस रूप में होता है कि बुरा कर्म किया तो निद्रा में बुरे स्वप्न आयेंगे। अच्छा काम किया तो सुखद स्वप्न आयेंगे। यदि गहरी निःस्वप्न नींद आती है तो समझना चाहिए कि हम ब्रह्मलोक में हैं। प्राण की नींद कई वर्षों की हो सकती है। उसके बाद वह पुनः जन्म लेता है। इस रचना का समापन मैं अपनी एक कविता से करना चाहता हूँ जो श्री कृष्णमूर्ति जी के विचारों के प्रभाव में लिखी गई थी। शीर्षक है "मृत्यु"।

हर पल हम अगर नहीं मरते।
हर दम यदि मरने से डरते।
ऐसा जीना क्या जीना है।
परवश रह आँसू पीना है।
यंत्रवत ज़िन्दगी चलती है।
आकांक्षाओं में पलती है।
सौन्दर्य प्रेम का नाम नहीं।

है शान्ति नहीं आराम नहीं ।
 प्रतिदिन का जीना उलझन में ।
 नाना विपदाओं के वन में ।
 जो ज्ञात उसी के आँगन में ।
 क्या आकर्षण इस जीवन में ।
 इनके ही प्रति तो मरना है ।
 इन सबसे पार उतरना है ।
 पूरी समग्रता से जीना ।
 सौन्दर्य नम्रता से जीना ।
 अस्तित्व नहीं रहता भय का ।
 होती सजीवता रसमयता ।
 पूर्णतः शून्य मन होता है ।
 उत्पन्न नयापन होता है ।
 सारे बंधन खुल जाते हैं ।
 मन कलुष स्वयं धुल जाते हैं ।
 मन बना रहे निर्दोष सदा ।
 स्वीकार न हो कोई सत्ता ।
 बीते कल के प्रति मर जाना ।
 आनन्द प्रेम से भर जाना ।
 वरदान एक, ऐसा मरना ।
 जिसमें नवजीवन का झरना ।
 क्यों मृत्यु समस्या बनी हुई ।
 जब सदा साथ में लगी हुई ।
 हमको है उसका ज्ञान नहीं ।
 सामना नहीं कर पाते हम ।
 सोचते और डर जाते हम ।
 बिल्कुल आसान पहेली है ।
 जीवन की मृत्यु सहेली है ।

मृत्यु के आनन्ददायी उत्तम स्वरूप विधायक प्रतीक व्यक्तित्व : महात्मा कबीर

— रमेश नारायण

भारतीय साहित्य के इतिहास में अपने ढंग का अकेला प्रतीक-व्यक्तित्व महात्मा कबीर का ही था, जिन्होंने जीवन को आगे, पीछे, ऊपर, नीचे अपनी वास्तविक अनुभूति की झाड़न से झाड़-पोंछकर स्वच्छ, शुद्ध और अतीन्द्रिय सुख का केन्द्र बनाया। अपने जीवन के सारे मकड़जाले साफ करके शान्ति, सन्तोष और आनन्द की गठरी बाँध उन्होंने मृत्यु तक को अपने साफ-सुथरे जीवन से जोड़ दिया और मनुष्यमात्र के लिये एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया, जो उसके जीवन और जीवनान्तर की अबाध गतिशीलता का आधार बना।

मनुष्य है अनिवार्यतः सामाजिक प्राणी और इस प्रकार उसका सामाजिक रुझान भी स्वाभाविक ही है। वह स्वयं अपने लिये सामाजिक संगठनों को रूप इस उद्देश्य से देता है कि आन्तरिक शान्ति की उसकी प्यास मिटं सके और आत्मविकास के पथ पर वह निर्बाध आगे बढ़ सके। ऐसे संगठनों को निजी सुख और स्वत्व का साधन बना बैठना उनके पवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए विघातक है। वास्तव में मनुष्य के दो रूप व्यवहार जगत् में प्रकट होते हैं। एक तो उसका सजग चेतना वाला रूप है और दूसरा उसका स्थूल जागतिक रूप। उसकी सजग चेतना तो उसे ऊर्ध्वगामी बनाती है पर अपने स्थूल रूप में वह अधोमुखी प्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है। सजग चेतना की ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति की फिसलन समय-समय पर चिर पवित्र मानव-संगठनों का उसके ही हाथों घोर दुरुपयोग करवा डालती है।

कबीर के युग-चित्रण का जो रूप हमें दृष्टिगत होता है उसकी गहरी समझ के लिए उनके समकालीन और उनके पहले के धार्मिक आन्दोलनों को परखने की आवश्यकता है जो तत्कालीन जन-मानस में उथल-पुथल मचा रहे थे और उनकी परम्पराएँ भी निर्मित हो

चुकी थीं। कबीर के साथ एक खास बात यह थी कि उन्होंने उन परम्पराओं को स्वीकार भी किया और उनके भीतरी तल में बैठकर तथा उन पर जमी मैल की बखिया उधेड़कर एक नई परम्परा गद्दी, जिससे भारतीय चिन्तनधारा में एक युगान्तर उपस्थित हुआ। इतना तो स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक विक्षोभ की परिस्थिति अत्यन्त सुगठित इस्लाम धर्म का प्रतिरोध करने की प्रतिरक्षात्मक भावना से उच्च जातियों में पैदा हुई थी। इसी कारण समूचे देश में फैले मत-मतान्तरों को संघबद्ध करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ लिया था। इसके लिए उस समय प्रचलित ब्रह्मवादी, कर्मकाण्डी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, आदि मतावलम्बियों ने स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार, आदि अनेक आधारों पर एक सर्वसम्मत आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर करने की चेष्टा की, जो उच्च जाति के हिन्दुओं को ही संघबद्ध कर सकती थी। उसमें तीर्थ, व्रत, उपवास, पूजा-पाठ, जप, हवनादि क्रियाओं की ही प्रमुखता थी। इन सब कार्यों में अन्त्यजों और निम्न श्रेणी के लोगों को वर्जनशील रखकर उच्च जाति के हिन्दुओं को अधिकाधिक हिन्दू बनाने की चेष्टा निहित थी। इस प्रकार की प्रतिरक्षात्मक संघबद्धता से सामान्य जनता के हित साधन की आशा नहीं की जा सकती थी।

महात्मा कबीर विषयक उपर्युक्त आंशिक अनुशीलन जीवन और मृत्यु-संबंधी उनकी अवधारणाओं के वैशिष्ट्य को स्पष्ट नहीं करता। यह ठीक है कि इन बातों का भी उससे परोक्ष संबंध है, किन्तु कबीर की जीवन-यात्रा और मृत्यु-विषयक उनके चिन्तन की मौलिकता ही एतत्संबंधी निष्कर्ष का आधार बन सकती है। कबीर के जीवन के संबंध में अब तक प्राप्त छिटपुट सामग्री के आधार पर पर्याप्त विचार हुआ है किन्तु सबके सहारे नहीं कहा जा सकता कि अन्तिम निष्कर्ष सामने आ सका है। जिसने स्याही और कागज़ छुआ तक नहीं उसकी स्वलिखित रचना प्राप्त ही कहाँ होगी कि उससे पूर्ण रूप में प्रामाणिक निष्कर्ष निःसृत हो सके। दूसरी बात यह है कि महात्मा कबीर उन महापुरुषों की परम्परा में ही आते हैं जिनकी रूचि आत्मपरिचय देने में नहीं के बराबर थी, फिर भी उनके भक्तों और शिष्यों द्वारा उनकी कही गई वाणियों की जो प्रस्तुति हुई उनमें जहाँ-तहाँ कुछ निजी बातें उनके जीवन की झलक दे ही जाती हैं।

कबीर के विषय में विचारकों द्वारा जो सामग्री प्रस्तुत की गई है उसमें वैषम्य की ही मात्रा अधिक है। अधिकांश विचारकों ने उन्हें हिन्दू-मुस्लिम एकता का सूत्र पिरोने वाला समझा है, किसी ने नाथ-मतावलम्बी और किसी-किसी ने तो उन्हें पूरा का पूरा वैष्णव मान लिया है। सच तो यह है कि कबीर जैसे चिन्तनशील मनीषी की फुटकल उक्तियों के आधार पर उनके संबंध में निकाला गया निष्कर्ष युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। उन्होंने "जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौ उदासी" के द्वारा अपनी निम्न श्रेणी का परिचय अत्यन्त निर्भीक भाव से समाज को दिया और अपने को निरक्षर घोषित कर समाज में हेय माने जाने की बात दृढ़ आत्मविश्वास के साथ स्वीकार कर ली। यह भी बता दिया कि "तनना बुनना तज्या कबीर, रामनाम लिख लिया शरीर" उसकी आन्तरिक चिन्तन-शक्ति और विरल, उपलब्धियों

का वैशिष्ट्य सहज ही स्वीकार किया जाना चाहिए। साथ ही उसके आत्मचिन्तन, आत्मानुभूति और आत्मचैतन्य को भी उसके व्यक्तित्व के आधारभूत तत्त्व के रूप में मान्य समझना होगा।

असल बात यह है कि जीव को जीव इसलिए कहा जाता है कि वह आत्मा के साथ-साथ मन और शरीर से भी युक्त है। हमारा जीवन शरीर, मन और आत्मा की क्रियाशीलता पर आधारित है। शरीर से ऊपर उठकर आत्मा तक उसकी पहुँच उसे परम आनन्दानुभूति की कोटि में ला देती है। इस परम फल की प्राप्ति-प्रक्रिया क्रमिक साधना के रूप में स्थिर की गई है। शरीर-साधना के पश्चात् ही मनस्तत्त्व की साधना का स्तर प्राप्त होता है और इन दोनों की उपलब्धि के पश्चात् आत्मचैतन्य का वरदान मिलता है। इसी क्रम को लक्ष्य करके प्रायः सभी धर्मों में शारीरिक और मानसिक पवित्रता के नियमों का विधान किया गया है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि आत्मचैतन्य की कोटि-प्राप्त महापुरुष आन्तरिक दृष्टि से संयमित और अनुशासित होकर भी सामाजिक और लौकिक रूढ़ियों के शिकंजों में नहीं फँसता क्योंकि पूर्ण आत्मविकास के क्षेत्र की परम आनन्दानुभूति में डूबा वह निर्भयतापूर्वक मनुष्य मात्र के बीच अपार करुणा के बीज बोता विचरण करता रहता है। महात्मा कबीर की सर्वदिशोन्मुखी स्वाधीन प्रवृत्ति हमें इसी कारण असमंजस में डाल देती है और हम उनकी उपलब्धियों के औचित्य-निर्णय में सक्षम नहीं हो पाते हैं। महात्मा कबीर की निम्न उक्ति इस सन्दर्भ में विचारणीय है —

जो दरसन देख्या चाहिए, तो दरपन मंजत रहिए।

जो दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई।।

इन पंक्तियों में संकेतित दर्पण में काई लगने का अर्थ कई विचारकों ने माया लगाया है। किन्तु कबीर का वास्तव में दर्पण से तात्पर्य चैतन्य आत्मा से है और "दरसन देख्या चाहिए" का कथन करके उन्होंने परमानन्दानुभूति की ओर संकेत किया है। यों माया अर्थ भी लिया ही जा सकता है किन्तु इससे कबीर के वास्तविक तात्पर्य तक उस अर्थ की पहुँच नहीं हो पाती। उसकी एक सीमा बँध जाती है। सोचने की बात है कि कबीर के व्यक्तित्व में अखण्ड आत्मविश्वास का झलमलाता प्रकाश जो आद्यन्त दृष्टिगोचर होता है, वह कहीं मन्द क्यों नहीं पड़ता। जिसने अपने समूचे युग के पाखण्ड, कुपथगामिता, छल-छद्म, दमन, शोषण, उत्पीड़न, दिशाभ्रम, आदि को एक साथ निर्भयता से ललकारा, उसका अन्तर्मन यदि बलशाली नहीं था तो इतनी सारी विपरीतताओं से वह लोहा कैसे ले सका? जिसने "झूठा रोजा झूठी ईद" कहते समय समकालीन मुसलमान शासक की अपने ऊपर क्रोध की रत्ती भर भी परवाह नहीं की, जंजीर से बँधवाया जाकर गंगा मैया की गोद में डाल दिया गया, वह क्या चैतन्य आत्मा और परमानन्दानुभूति का अधिकारी नहीं था? उस प्रियतम "रघुनाथ" का सच्चा स्नेही भाव भक्ति की परिपक्वता-प्राप्त अखंड आनन्द का क्या वह भोक्ता नहीं था?

गंग लहर मेरी दूटी जंजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर।

कहे कबीर कोई संग न साथ, जल थल राखत है रघुनाथ ॥

इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में जब हम कबीर के आत्मचैतन्य की शक्ति और परमानन्दानुभूति की लोकोत्तर मधुरता पर विचार करते हैं तो कबीर के आत्मतेज की आभा स्पष्ट उद्भासित होती है। साथ ही इसका भी स्पष्ट आभास मिल जाता है कि कबीर की साधना धर्म, अर्थ काम ही नहीं मोक्ष के लिए भी नहीं थी, वह सिर्फ आत्मानुभूति की सिद्धि के लिए थी जो सतत गतिशील रहने वाली थी। वेदान्त के अहं ब्रह्मास्मि के स्थिर सिद्धान्त से उनकी उक्तियाँ ऊपरी साम्य रखती प्रतीत होती हैं। किन्तु उसकी अन्तर्निहित भावना ब्रह्म से एकाकार होने को ठहराव बिन्दु के रूप में स्वीकार नहीं करती। उससे इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है क्योंकि कबीर ने अपने लक्ष्य-बिन्दु पर अपनी पहुँच की जो सूचना प्रकटित की है वहाँ यह अन्तर सहज ही अनुमानित हो जाता है। वे कहते हैं –

हम न मरै मरिहै संसारा, हमकूँ मिल्या जियावनहारा।

इस स्थल पर ही कबीर की आत्मानुभूति की गतिशीलता दृष्टिगोचर हो जाती है। "जियावनहारा" जब मिल गया तो अक्षय आनन्द के सतत प्रवाही स्रोत में सहज स्नात होते रहने का द्वार खुल गया। परमानन्दानुभूति की कालबद्धता अब कहाँ रही जब जियावनहारा ने ही हाथ लगा उसे अपने पास खींच लिया। सच पूछा जाये तो जीव के लिये मृत्यु के जितने भी स्वरूप चिन्तकों और दार्शनिकों द्वारा स्थिर किये गए हैं, उन सबसे विलग एक परिपक्व और मौलिक स्वरूप का विधान करके महात्मा कबीर ने युग-युगान्तर तक मानव मात्र के नयन पट खोलने का सोपान प्रस्तुत किया है। इनता ही नहीं निर्गुणोपासना की चिरसनातन विधि से भाव-भक्ति को जोड़कर कबीर ने उसमें हृदय पक्ष के संयोग की सम्भावनाओं को बल प्रदान करने का उत्कृष्ट कार्य किया है।

अंततः मध्य युग के इस युग-प्रवर्तक सन्त महाकवि के संबंध में यही कहा जा सकता है कि वे परम स्वतन्त्र चेतना के अधिकारी युगद्रष्टा थे। उनकी जीवन और जीवनान्तर की परख लौकिकता की सीमा-रेखा को पार कर बहुत आगे निकल गयी थी। उनकी मान्यता की सच्ची समझ हमें यही बताती है कि उनकी दृष्टि में व्यक्ति अपने संस्कारों और योग्यताओं से युक्त एक स्वतन्त्र इकाई है और अपनी स्वतन्त्र परिधि में वह सतत भ्रमणशील है। परम सत्ता के अंश से विभासित अपने लक्षित पथ पर अपनी ही चेतना के इशारे पर उसे अग्रसर होना है और अपने लक्ष्य-बिन्दु पर अपनी पहुँच का पूरा स्वाद लेने का वह अधिकारी है।

सहयोगी लेखकों का परिचय

अज़हरी, मुक्तदा हसन – कुरआन एवं हदीस के सुविज्ञाता, जामिया सलफीया वाराणसी।

खन्ना, सुषमा – समाजशास्त्री, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ में प्रोफेसर, भारतीय समाज-व्यवस्था पर अनेक रचनायें, वाराणसी।

गिरि, कुसुम – समाजशास्त्री, समाजशास्त्र पर अनेक रचनाएँ, प्रवक्ता, बसन्त कॉलेज, राजघाट, वाराणसी।

गिरि, रघुनाथ – दर्शन के वरिष्ठ विद्वान, पूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

जैन, अनेकान्त – संस्कृत और प्राकृत के युवा विद्वान्, प्राध्यापक, जैन दर्शन विभाग, लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली।

जैन, मुन्नी पुष्पा – जैन धर्म एवं दर्शन की लब्धप्रतिष्ठ अध्येत्री, अनेकांत भवनम्, वाराणसी।

ज्ञा, हेतुकर – पटना विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के वरिष्ठ प्रोफेसर, पटना।

झुनझुनवाला, दीनानाथ – काशी के विशिष्ट विद्याप्रेमी, अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध, समाजसेवी।

त्रिपाठी, रामशंकर – बौद्ध धर्म एवं दर्शन के सुविज्ञ विद्वान्, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान के प्रोफेसर, वाराणसी।

त्रिपाठी, बंशीधर – समाजशास्त्र और भारतीय संस्कृति पर अनेक सारगर्भित लेख एवं पुस्तकें, पूर्व प्रोफेसर समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

द्विवेदी, प्रभुनाथ – भारतीय दर्शन एवं संस्कृत के विशिष्ट विद्वान्, उपाचार्य संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

द्विवेदी, ब्रजवल्लभ – आगम योगतन्त्र के विख्यात आचार्य, अनेक लेखों एवं पुस्तकों के प्रणेता, वाराणसी।

नारायण, रमेश – कबीर साहित्य के विशेषज्ञ, सेवानिवृत्त यू. प्रो. तथा अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, ए. एन. कालेज, पटना।

पाण्डेय, कपिलदेव — पुराण एवं धर्मशास्त्र के मीमांसक, संस्कृत साहित्य की अनेक विधाओं के मर्मज्ञ, वाराणसी।

पाण्डेय, सियाशरण — समाजशास्त्री, जैन वैज्ञानिक एवं चिकित्सा विज्ञान में अभिरूचि, वाराणसी।

महास्वामी, चन्द्रशेखर — वीरशैव धर्म के प्रधान आचार्य, जंगमबाडी मठ, वाराणसी।

मेहता, भानुशंकर — पैथोलॉजिस्ट, बनारसी परम्परा एवं संस्कृति के अप्रतिम मर्मज्ञ, काशी के प्रतिभाशाली लोकप्रिय व्यक्ति, समाज, संस्कृति और विज्ञान पर प्रामाणिक लेख एवं पुस्तकें, वाराणसी।

मिनती — भूगोलज्ञ, ग्रामीण व्यवस्था पर कई लेख एवं पुस्तकें, भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मिश्र, त्रिलोकनाथ — ज्योतिष और कर्मकाण्ड के विद्वान्, वाराणसी।

मिश्र संतोषकुमार — समाजशास्त्री, निर्मलकुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान से संबद्ध, वाराणसी।

राय, विजय कुमार — गणितज्ञ, काशी के विशिष्ट विद्वान्, राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त, पूर्व उपप्रधानाचार्य, क्वींस कालेज, वाराणसी।

राय, सुधीर कुमार — जैन धर्म के युवा अध्येता, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर महाविद्यालय, इन्दारा, मऊ (उ. प्र.)।

शास्त्री, रामप्रवेश — कवि, लेखक और समाज-सेवक, महात्मा गाँधी एवं जयप्रकाश नारायण की छन्दबद्ध जीवन गाँथाएँ, सम्पादक *सर्वोदय जगत*, सर्व सेवा संघ, वाराणसी।

श्रीवास्तव, अजयकुमार — जैन धर्म के मर्मज्ञ, प्रवक्ता हिन्दी साहित्य, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर महाविद्यालय, इन्दारा, मऊ (उ. प्र.)।

सिन्हा, वशिष्ठ नारायण — पूर्व उपाचार्य, दर्शन विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

सिंह, राघवेन्द्र प्रताप — मेधावी शोध छात्र, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अनुक्रमणिका

- अकाल मृत्यु, 23, 97, 128
अगस्तीन के अनुसार आत्मा रथी है और शरीर वाहन, 129
अग्नि पुराण, 7
अग्नि पुराण की यमगीता, 79, 81, 82
अग्नि मृत्यु, 71
अग्नि मृत्यु है, 7
अग्निवायुसूर्यचन्द्रमसा मृत्यवः, 72
अजहरी, मुक्तदा हसन, 6, 50
अथर्ववेद, 2, 79
अनात्मवादी, 220
अनित्यतावादी, 8, 90, 91
अनित्यतावादी धारा, 90
अनिर्वचनीय देवी, 7
अनुशासन-पर्व, 127
अंतःकरण चतुष्टय, 111
अन्त्येष्टि-क्रियारै, 118
अप्रकट मरण, 22
अपवर्ग (मोक्ष), 8
अफलातून और सुकरात भी आत्मा को अमर मानते हैं, 132
अमरकोश, 78
अमरत्व, 1, 160
अमरत्व पर विषरूपी मृत्यु के ताण्डव, 165
अमरदास, (गुरु) 48
अमीबा, 142
अमृत, 160
अमृतत्व, 12, 161
अमृतत्व की प्राप्ति, 12, 162
अरण्यक एवं उपनिषद्, 83
अरविन्द, (महर्षि), 11, 128, 133, 155, 158
अरस्तु के अनुसार आत्मा का एक अंश "नूस", 132
अर्जुन, 106, 127
अल ज़मर, 56, 57
अल जुमह, 56
अल मोमेनून, 54, 55
अल मौसुअतुल फ़िकहीया, 50, 53
अल मुल्क, 55
अलइमरान, 56
अल्लाह का विशिष्ट अम्सन, 55
अवाङ् प्राण मृत्यु है, 6, 71
अशना = भूख को मृत्यु कहा गया, 72
अशोक, 151
अशौच, 9, 115
अश्वत्थामा, 98
असंगत विचार का खण्डन, 57
अस्तित्ववाद/वादी, 13, 176
अस्थि संघय, 116
अस्सजह, 55
अहयाउल उलूम, 52, 54, 57,
अहोरात्रे मृत्यु, 72
आगम, 132
आगमशास्त्र, 68
आत्मघात और सल्लेखना में अन्तर, 29, 32
आत्मघात से आत्मा का भटकना, 29
आत्मतत्त्व, 7, 85, 141
आत्मतत्त्व का दूसरा नाम पुरुष, 7, 85
आत्महत्या, 5, 12, 32, 97, 174
आत्महत्या मानव विकास का प्रमृण, 139
आत्महत्यारा, 161

- आत्मा, 51, 129 -
 आत्मा (अंगुष्ठमान शरीर), 108
 आत्मा अपने आप में स्वतंत्र है, 129
 आत्मा अशरीरी है, 129
 आत्मा आदमी को व्यक्तित्व तथा मानवता प्रदान करती है, 129
 आत्मा और पुद्गल का संयोग ही जीवन, 40
 आत्मा का जन्म और मरण रहित होना, 11, 141
 आत्मा का मरणोपरान्त भी जीवित रहना, 53, 129
 आत्मा का रहस्य, 51
 आत्मा का रूप अस्पष्ट, 129
 आत्मा की अमरता, 138
 आत्मा देवता स्वरूप, 129
 आत्मा नष्ट नहीं होती, 52
 आत्मा नहीं है - केवल मन की कपोल-कल्पना, 130
 आत्मा शरीर का अभिन्न अंग, 129
 आत्मा ही अमृत, 11
 आत्मा ही शरीर की नियंत्रक, 129
 आत्मा ही "स्व" है, मन है, प्राण है, 129
 आदिग्रन्थ, 45, 48
 आदित्य भी मृत्यु है, 6
 आदिमजातीय संस्कृति, 2
आनापानस्मृति, 66
 आनुवांशिक विचार, 144
 आनुश्रविक (वेदविहित), 66
 आभयन्तर सल्लेखना, 36
 आयुष्य-समाप्ति का नाम मृत्यु है, 7
 आयुक्षय, 23
 आराधना, 35
 आराधना के दो भेद, 34
 आवरण पाँच हैं - अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, 131
 आश्वलायन, 116, 117
 ओझा आत्मा को पकड़ने के उपकरण बनाते हैं, 130
 ओझा आत्मा चुरा लेते हैं, 130
 औदुम्बर या गूलर की लकड़ी का प्रयोग अस्थि संघय के लिए, 116
 इकबाल, अल्लामा, 59
 इच्छामरण (युथेनेसिया), 38, 97
 इब्न नबी दुर्नीया, 54
 इमाम इब्न कय्यूम, 6, 53
 इमाम गजाली, 6, 50, 51, 52, 53
 इस्लाम, 2, 3, 6, 117
 इस्लाम के निर्देश जीवन एवं मृत्यु दोनों से सम्बन्धित, 51
 ईथीरियल सोल, 129
 ईमान बिल गैब (अदृश्य पर विश्वास), 53
 ईशदूत के लिए मृत्यु का स्पष्टीकरण, 56
ईशोपनिषद्, 73
 ईश्वर, 2
 ईसा मसीह, 2, 151
 ईसाई, 2, 117, 129
 ईसाई सम्प्रदाय, 129
 उपच्छेदक कर्म, 23
 उपनिषद् और पुराण, 9, 109
 उपनिषद् के ऋषि, 88
 उपनिषद् में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की पद्धति, 65
 उपसेचन, 7
 उभयक्षय, 23
 उमवी खलीफा उमर बिन अब्दुल अजी, 58
 उलूम, अहयाउल, 52, 54, 57, 58
 उसामा विन जैद, 55
ऋग्वेद, 66, 88, 111
ऋग्वेद संहिता, 8, 87
ऋजुविमर्शिनी टीका, 63
 एक कबीरा ना मरा जाको राम अधार, 188
 एकनाथ (सन्त), 45
 एकल अग्नि संस्कार, 114
 एकादशाह श्राद्धकर्म, 119
 एक्विना, थामस, 129
 एक्सटिंग्विशन, 3
 एम्मेदोक्लीज ने ज्वालामुखी के मुँह में छल्लाँ लगाकर मृत्यु प्राप्त की, 139

- ऐतरेयोपनिषद्, 7, 75
- कठोपनिषद्, 6, 7, 64, 65, 73, 74, 78, 79, 88, 106, 110, 111, 162, 176
- कबीर (संत / महात्मा), 8, 10, 11, 13, 45, 86, 131, 154, 156, 189, 192
- कबीर युगद्रष्टा थे, 195
- कब्र, 53, 54
- कयामत, 54
- कयामत (निर्णय) के दिन, 56
- करपात्री जी महाराज, 64
- कर्मकाण्ड, 112, 117
- कर्मकाण्डी, 193
- कर्मयोनि, 155
- कर्मवाद और जन्मान्तरवाद एक-दूसरे के परिपूरक, 144
- कर्मक्षय, 23
- कल्पवृक्ष, 4
- कविराज गोपीनाथ, 167
- कशेरुका, 133
- कषाय चार प्रकार के, 26
- "का" (श्वांस, प्राणवायु) मरती नहीं, 129
- कॉरपोरल सोल, 129
- कार्टेस, रेने डे, 129
- कार्डिअक ऐरेस्ट्स, 39
- कार्डिनर, 172
- काल (मृत्यु), 7, 77
- काल, मृत्यु, यम और व्याधि, सब एक ही, 63
- कालमरण, 23
- कालवंचन, 67
- काल = समय की गणना, 72
- कालिदास, 67
- किरत-कर्म, 45
- किरत धर्म, 5
- कीर्तिलता, 12, 1
- कुमारिल भट्ट का आत्घाती प्रायश्चित्त विधान, 140
- कुरआन, 6, 50, 51, 53, 54, 55, 56
- कुरआन व हदीस, 52
- कूर्म पुराण की ईश्वरगीता, 81
- कृष्ण, 19, 84, 110, 127, 151
- कृष्ण ने स्वयं को यम, काल और मृत्यु कहा, 7, 77
- कृष्णमूर्ति, 13
- केतु, 100
- कैलाश, 131
- कैवल्य (मोक्ष), 86
- कैवल्योपनिषद्, 161
- कोशिका, 146
- कोशिकाओं के केन्द्रक, 143
- क्लोनिंग, 146
- खन्ना, सुषमा, 176, 13
- गणित, 100
- गया श्राद्धकर्म, 121
- गरुड़ पुराण, 9, 107, 109
- गरुड़ पुराण मृत्यु के कर्मकाण्ड का एक आवश्यक अंग, 9
- गाढ़ी नींद, 11
- गांधी, महात्मा, 13, 188
- गिरि, कुसुम, 12, 171
- गिरि, रघुनाथ, 8, 87
- गीता, 7, 8, 11, 19, 45, 47, 60, 67, 85, 86, 89, 111, 127, 129, 132, 159, 160, 162, 163, 175
- गीता का प्रथम श्रोता अर्जुन, 84
- गीता स्वयं उपनिषद्, 7
- गीताकार, 84
- गीतायें चाहे महाभारत के अन्तर्गत की हों या पुराणों के, 80
- गीतोपनिषद्, 106
- ग्रीक परम्परा में मृत्यु, 97
- गुणसूत्र, 143
- गृह्य-सूत्र, 116
- गेरे, 139
- गोर्की ने अपनी ही पिस्तौल से अपने को मारा, 139
- गोलोक, 131
- गौतमी की कथा, 127

- चन्द्रमा भी मृत्यु है, 7^०
 चार्ल्स डारविन का विकासवाद का सिद्धांत, 134
 चार्वाक, 89, 129
 चिरनिद्रा, 9, 95
 चीन की आत्मा के बारे में मान्यता, 129
 चैटरटन ने विषपान करके मृत्यु को गले लगाया, 139
 चौरासी लाख योनियाँ, 4, 19
 छान्दोग्योपनिषद्, 6, 17, 19, 70
 जन्म और मरण का चक्र, 7, 18, 44, 127
 जन्म और मृत्यु परस्पर विरोधी नहीं, 10, 137
 जन्म भी सार्वभौमिक, 1
 जन्मदिवस बनाम मृत्युदिवस, 137
 जन्म-मरण रूपी संसार, 17
 जन्म-मृत्यु के अनादि बन्धन, 160
 जन्मान्तर-वाद, 10, 145
 जल-समाधि, 114
 जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः ध्रुव जन्म मृत्युश्च, 39
 जिनागम, 5
 जीन (जीवाणु कोशतत्त्व), 3, 142, 143
 जीवन और मृत्यु की सातत्यता, 13
 जीवन एवं मरण का स्वामी अल्लाह, 54
 जीवन का कारण अन्न, 75
 जीवन का परिष्कार, 131
 जीवन मृत्यु की सहेली, 13
 जीवनद्रव (प्रोटोप्लाज्म), 135
 जीवनमुक्त, 20
 जीवात्मा, 20
 जीवित कोश, 135
 जीवेम शरदः शतम्, 70
 जेम्स, विलियम, 130
 जैन, अनेकान्त कुमार, 4, 30
 जैन आगमों में मरण के प्रमुख भेद, 27
 जैन धर्म, 2, 3
 जैन धर्म के अनुसार छः पर्याप्तियाँ 41
 जैन धर्म में मृत्यु महोत्सव, 4
 जैन धर्म में संथारा लेना भी मृत्यु प्राप्ति का एक साधन, 180
 जैन परम्परा में मृत्यु का स्वरूप, 97
 जैन मान्यता के अनुसार मृत्यु का वास्तविक अर्थ, 42
 जैन, मुन्नी पुष्पा, 4, 26
 जैमिनीय ब्राह्मण, 72
 जैविकी, 3
 जैविकीय दृष्टि से जीवित, 172
 जोर्जोइ, जेन्ट (सर) 39
 ज्योतिष काल के भोगों को मृत्यु मानता है, 111
 ज्योतिष के अनुसार मृत्यु के कई प्रसंग और पक्ष, 100
 ज्योतिष के विभाग, 100
 ज्योतिष भी कर्मकाण्ड का अंग, 9, 109
 ज्योतिष विद्या के अठारह प्रवर्तक, 100
 ज्योतिष-शास्त्र में मृत्यु की अवधारणा दैहिक स्तर तक, 9
 ज्ञा, हेतुकर, 12, 166
 झुनझुनवाला, दीनानाथ, 13, 183
 डी.एन.ए., 39
 डिम्ब, 143
 डेकार्ट, 13
 डेथ, ब्रेनस्टेम, 133
 डोयोजनीज, 139
 तन्त्रालोक, 63
 तर्क द्वारा आत्मा को सिद्ध नहीं किया जा सकता, 130
 तांत्रिक (श्याने), 181
 तीर्थ श्राद्ध, 121
 तुकाराम (सन्त), 45
 तुलसी का वृक्ष, 164
 तुलसीदास, (गोस्वामी) 7, 86, 175, 186
 तैत्तिरीय संहिता, 116
 तैत्तिरीयोपनिषद्, 75
 दण्डनीति (मिथिला के कवि), 168
 दयानन्द (स्वामी), 66
 दर्शन, 132

- दशगात्र श्राद्धकर्म, 118
 दादू (सन्त), 45
 दाह-संस्कार, 114
 दिन और रात्रि भी मृत्यु है, 6
 द्विवेदी, प्रमुनाथ, 6, 69
 द्विवेदी, रेणु, 5, 44
 द्विवेदी, ब्रजबल्लभ, 6, 63
 दुर्खीम, 12, 173
 देवता भी अमर नहीं, 87
 देवताओं की आयु, 92
 देवपथ, 133
 देवयान, 133
 देवलोक, 108
 देवीगीता, 81, 82
 देहदैहिक (फिजियोलॉजिकल), 3
 दैहिक (फिजियोलॉजिकल), 3
 द्रोणाचार्य, 98
 द्वादशाह श्राद्धकर्म, 120
- धन्ना (सन्त), 45
 धन्वन्तरि, 134
 धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ, 66
 धर्मसूत्र, 116
- नचिकेता, 6, 65, 71, 106, 131, 176
 नचिकेता के पिता द्वारा उसे "मृत्यु" को देना, 73
 नन्दीमुख श्राद्ध, 122
 नये कोश की रचना, 135
 नरक, 131
 नानकदेव, (गुरु) 5, 45, 47
 नामदेव (सन्त), 45
 नारायण बलि, 108, 119
 नारायण, रमेश, 13, 192
 नारायण, वशिष्ठ, 3, 89
 नाश कार्य का ही नाम मृत्यु है, 79
 नासदीय सूक्त, 88
 नित्यवादी, 8, 90
 नित्याषोडशिकार्णव, 6, 63
 निर्वाण, 8, 86, 186
 निर्वाणपण, (एक्सटिंग्विशन), 3
- निसा, 56
 निःश्रेयस्, 8
 नीरज, 187
 निद्रा, मृत्यु का लघु संस्करण, 190
 निद्रावस्था में आत्मा शरीर से निकलकर सैर करने
 चली जाती है, 130
- पद्म पुराण, 163
 पंच प्राण, 19
 पंचकर्मेन्द्रिय युक्त शरीर से प्राण का संयोग न
 होना, 111
 पंच-तत्त्व, 130
 पंच-तत्त्व में भौतिक शरीर का विलीन हो जाना ही
 मृत्यु है, 133
 पंचनख अथवा क्षौरकर्म, 119
 पंचभौतिक शरीर, 5, 12, 39
 पंचमहाभूत, 111
 पंचज्ञानेन्द्रिय, 111, 167
 परब्रह्म, 92
 परमेश्वर के तीन कार्य सृष्टि, पालन एवं नाश, 79
 परमेश्वर पंचकृत्यकारी है, 68
 परमेश्वर सबकी मृत्यु है, 79
 परलोक, 65, 131
 परशिव ब्रह्मा, 4
 परात्पर विष्णु, 92
 पर्णनर दाह, 115
 पाइथागोरस ने आत्मा का दिव्य उद्भव माना, 132
 पाण्डे, कपिलदेव, 7, 78
 पाण्डे, सियाशरण, 5, 38
 पांडवों का स्वर्गारोहण, 139
 पापग्रह, 100
 पारमेश्वरागम, 4, 20
 पाराशर-स्मृति, 116
 पार्वण श्राद्ध, 122
 पार्सन्स, 12, 174
 पालि त्रिपिटक में निर्वाण को अमृतपद कहा गया,
 186
 पिण्डदान, 108
 पितर पूजन, 129
 पितरलोक, 2, 108

पितरों से सम्बन्धित पर्व, 122

पितृपथ, 133

पितृपक्ष श्राद्ध, 108, 121

पितृमेध, 117

पितृयान, 133

"पीर" प्रेत, 186

पुद्गल, 5

पुद्गल-द्रव्य, 41

पुनर्जन्म, 4, 5, 20, 129, 131, 184, 189

पुनर्जन्म का सिद्धान्त, 143

पुनर्जन्म के नये स्थान, 43

पुनर्जन्मवादी, 10

पुराण, 67, 132

पुराणों में नरकों का विशद वर्णन, 131

पुरुष परीक्षा, 168

पुरुषार्थ, 7

पुरुषार्थ चार प्रकार के, 66

पूराचरन (मेलान), 182

पृथ्वी के ऊपर सात लोक, 131

पृथ्वी के नीचे सात लोक, 131

पौद्गलिक शक्ति, 40, 41

प्रकृति आत्मतत्त्व से भिन्न सत्ता है, 7, 85

प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से ही जन्म प्रक्रिया का होना, 85

प्रकृति का त्रिगुणात्मिका होना, 85

प्रकट मरण, 22

प्रजनन ही अमरत्व, 135

प्रजापति, 70

प्रजापति की प्रेरणा से प्राण (पंचक) ने शरीर त्याग किया, 71

प्रजापति ही मृत्यु है, 6, 72

प्रस्थानत्रयी में गीता का स्थान, 83

प्राण, पाँच प्रकार के, 167

प्राण का अभाव ही शरीर की मृत्यु, 75

प्राण के दस भेद, 9, 94

प्राण तत्त्व, 41

प्राणमृत्यु है, 71

प्राणानाम तनुनिष्क्रांतिर मरण, 19

प्राणान्त, 94

प्राणी के तीन शरीर, 5, 42

प्रायोपगमन मरण, 36

पूर्वा क्रिया, 112

पूर्वजन्मवादी और आधुनिक विकासवादी का एक मत, 145

प्रेत को वैतरणी पार करनी होती है, 131

प्रेतयोनि, 108

फलित ज्योतिष, 100

फ्रॉयड, 141

"बरजख" जिन्दगी की परिभाषा, 53

ब्रह्मपथ, 133

ब्रह्मलोक, 86

ब्रह्मसूत्र, 84

ब्रह्मा का वर्ष, 92

ब्रह्माण्ड, 1

"बा" जो अशरीरी है मरण के बाद पितरों के लोक में चली जाती है, 129

बादरायण व्यास, 83

बाह्य सल्लेखना, 36

बिना आत्मा को समझे मृत्यु को समझना कठिन, 129

बीजक, साखी, 157

बुखारी मुस्लिम, 55

बुद्ध, (महात्मा) 183

"बुद्धत्व", 154

बुभुक्षा मृत्यु है, 6, 72

बृहदारण्यक उपनिषद्, 44, 65

बौधायन, 117

बौद्ध, 2, 3

बौद्ध दृष्टि में मृत्यु, 4

बौद्ध क्षणिकवादी, 21

ब्यूबर, मार्टिन, 12, 169

ब्राह्मण, 83, 117

ब्रेनस्टेम, 10

भक्तप्रत्याख्यान, 36

भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद, 36

- भगवती आराधना, 5, 27, 34, 35, 36
 भट्ट कुमारिल, 64
 भारतीय प्रज्ञा के अनुसार मृत्यु परलोक और पुनर्जन्म के बीच का द्वार, 132
 भास्करराय, 63, 64, 65
 भीष्म पितामह, 127
 भूमियोग, 112
 भू-समाधि, 115
 "भोगयोनि", 155
 भोगवादी (एपीक्यूरियन्स), 129
 भ्रूणकोश, 134
 भ्रूण-हत्या, 38
- मकर संक्रान्ति, पितरों का पर्व 122
 मर्त्यलोक, 160
 मध्यमा क्रिया, 119
 मन ही आत्मा है, 129
 मनुष्य का मृत्यु को भूल जाना और कुर्म करना, 60
 मनुष्य आत्मा और शरीर का संयोग है, 129
 मनुष्यत्व, 155
 मनुस्मृति, 64
 मंगल, 100
 मंसूर को सूली चढ़ते हुए लगा कि उसकी शादी हो रही है, 130
 मरण और यम, 7, 78
 मरण के चार प्रकार, 9, 24
 मरण के दो भेद, 22
 मरण के सत्रह प्रकार, 35
 मरण, पाँच प्रकार के, 35
 मरणानुस्मृति, 24
 मरणोपरान्त जीवन, 2
 मरना-मारना, 9, 96
 मरने की कला, 156
 मरने के बाद की स्थिति के तीन प्रकार, 184
 मर्टन, 12, 174
 मृतक शरीर को कृत्रिम रूप से "जीवित" रखने की व्यवस्था, 3
 मस्तिष्क के कोश, 10
- मस्तिष्क मूल (ब्रेनस्टेम - जिसमें मध्य मस्तिष्क, पास और मेंडुला), 10, 133
 महाकाल अपनी "तीसरी आंख" से सृष्टि का अन्त करते हैं, 3
 महाकाल-शंकर, 3, 134
 महानिद्रा, 10
 महाप्रयाण, 9, 95
 महाब्राह्मण, 124
 महाभारत, 98, 106, 127, 136
 महामरण, 40
 महामुक्ति पाने में समर्थ कौन, 153
 महारपदे, 47
 महास्वामी, चन्द्रशेखर 4, 17
 महेश के वर्ष, 92
 माँ बनने एवं माँ नहीं बनने के अधिकार की माँग, 38
 मानव का एक वर्ष देवताओं के लिए एक दिन-रात के बराबर, 92
 मानव की आयु सौ वर्ष, 92
 मानव मृत्यु का हरण, 2
 मानव रूपी शरीर की दशम द्वार रूपी गुफा, 48
 मानव सभ्यता और संस्कृति टिकी है केवल मृत्यु के भय पर, 137
 मानस, 7, 86
 मामून की सल्तनत, 58
 मॉलर डेथ, 134
 मॉलिक्यूलर डेथ, 1340
 मिथिला में मृत्यु के समय भूमियोग का विशेष माहात्म्य, 113
 मिनती, 11, 148
 मिश्र, संतोष कुमार, 9, 110
 मिश्र, त्रिलोकनाथ, 9, 100
 मिश्र में "द्विआत्मा" का सिद्धांत, 129
 मीमांसा, 1
 मीराबाई, 45
 मुक्ति, 8
 मुनि, शिवानन्द, 63
 मुमुक्षुजन, 64
 मुसलमान और ईसाई न्याय दिवस, 145
 मृच्छकटिक, 139

मृत शरीर पुनः जीवित हो सकता है, 130
 मृत्यु, 1, 7, 11, 77, 131
 मृत्यु अटल सत्य, 26
 मृत्यु अवश्यममावी, 4
 मृत्यु और कवि, 59
 मृत्यु और पुनर्जन्म, 2
 मृत्यु और यम शब्द पर्यायवाची, 65
 मृत्यु एक अवस्था परिवर्तन मात्र, 52
 मृत्यु एक कर्मनीय और रमणीय युवती, 127
 मृत्यु एक दृश्य-प्रपंच है जिससे समस्त विश्व में
 नैसर्गिक एकत्वंता का बने रहना, 2
 मृत्यु एक रहस्य, 128
 मृत्यु का अशौच, 116
 मृत्यु का आदेश ईश्वर के द्वारा, 54
 मृत्यु का आनन्दमयी उत्तम स्वरूप, 13
 मृत्यु का चक्र, 1
 मृत्यु का प्रभाव केवल शरीर पर, 53
 मृत्यु का भय मृत्यु से भी ज्यादा भयकारक, 131
 मृत्यु का रहस्योदघाटन, 2
 मृत्यु का वरण करना, 2
 मृत्यु का शोक क्यों?, 152
 मृत्यु किसी पाप का परिणाम नहीं है, 1
 मृत्यु की अनादिनिधनता, सार्वभौमिकता,
 असांप्रदायिकता स्वतः सिद्ध है, 30
 मृत्यु की. छाँव तले ही जीवन को विराम मिलता है,
 137
 मृत्यु की वास्तविकता अप्रत्यक्ष, 51
 मृत्यु की सहेली है जीवन, 13
 मृत्यु की सार्वभौमिकता, 1, 9
 मृत्यु के कर्मकाण्ड, 9
 मृत्यु के कारणों की अधिकता, 25
 मृत्यु के चार कारण, 22
 मृत्यु के देवता यम, 7, 130
 मृत्यु के दो पर्याय, 7, 78
 मृत्यु के पश्चात् और कयामत से पहले आत्मा का
 निवास, 53
 मृत्यु के प्रकार, 96
 मृत्यु के बाद मृत शरीर की स्थिति समानधर्मा
 होती है, 184
 मृत्यु के लिए प्रयुक्त प्रमुख शब्द, 9, 94

मृत्यु के लिये शोक करने की जरूरत नहीं, 127
 मृत्यु के समय की अनिश्चितता, 24
 मृत्यु के स्मरण का लाभ, 57
 मृत्यु को परमेश्वर कहना, 7
 मृत्यु को मृत्यु की "लम्बी नींद" कहना, 11
 मृत्यु-चिन्ता महामुक्ति का मार्ग, 153, 154
 मृत्यु चिरंतन निद्रा, 130
 मृत्यु जब निकट हो, 57
 मृत्यु जीवन का अन्त नहीं मात्र शरीर का परिवर्तन,
 40
 मृत्यु जीवन का अभिन्न अंग, 21
 मृत्यु जीवन का आधार, 11
 मृत्यु जीवन का शाश्वत् सत्य, 44
 मृत्यु जीवन से अधिक व्यापक, 3, 9
 मृत्यु जीवन है, 3
 मृत्यु धीरता से भी प्राप्त होती है और कायरता से,
 27
 मृत्यु नहीं तो जीवन कहाँ, 11
 मृत्यु पर विजय, 2
 मृत्यु पहेली नहीं अनंत यात्रा का समाधान, 131
 मृत्यु-भय, 11, 138, 143, 145, 159
 मृत्यु-भय क्यों?, 149
 मृत्यु-महोत्सव, 26, 27, 29
 मृत्यु मात्र सपना, 140
 मृत्यु शब्द का कुरआन में वर्णन, 50
 मृत्यु से कभी भी छूट न सकना, 25
 मृत्यु से कहीं भी, कभी भी छूट न सकना, 25
 मृत्यु से ही जीव अमरत्व प्राप्त करता है, 1
 मृत्यु-संस्कार, 112
 मृत्यु संस्कार - पूर्वा, मध्यमा तथा उत्तरा - तीन
 चरण, 9
 मृत्यु सर्वव्यापी, 56
 मृत्युकर्म-संस्कार, 42
 मृत्युदण्ड, 132
 मृत्युरहित कौन, 7
 मृत्युलोक, 108
 मृत्योर्मांमृतमगमय, 70, 131
 मेलान, 13, 181
 मेलान नामक लोक अवधारणा में व्यक्ति मृत्यु का
 अनुभव, 180

मेष संक्रान्ति, पितरों का पर्व 123
 मेहता, भानुशंकर, 10, 127
 मैकाइवर, 12, 174
 मैथिल परम्परा में मृत्यु, 12
 मैत्रायणी शाखा, 71
 मैत्रेयी, 44, 65
 मोक्ष (मुक्ति), 7, 8, 9, 40, 86, 131
 मोक्ष की अवस्था, 40
 मोक्ष, जन्म-मरण दोनों से मुक्ति, 9
 मौत अरबी भाषा का शब्द, 50
 मौत दो प्रकार की, 188

 यम और नचिकेता का संवाद, 64
 यम को ही वैवस्वत देव, अर्थात् विवस्वान् = सूर्य
 देवता माना गया है, 64
 यमगीता, 7, 79, 80, 81, 82
 यमदूत, 108
 यमदूतों के स्वरूप की कल्पना, 130
 यमपथ, 133
 यममार्ग, 107
 यमराज, 6, 7, 65, 71, 107
 यमराज के दो श्वानों की व्याख्या, 67
 यमलोक, 107, 131
 यहूदी, 2
 यक्ष, 106
 यक्ष द्वारा पूछा गया प्रश्न, 151
 याज्ञवल्क्य, 112
 युधिष्ठिर, (धर्मराज) 106, 136
 यूनान, 129
 यूनान के अफलातून वर्ग, 129
 योग एवं आगम तन्त्रशास्त्र, 67
 योगवासिष्ठ, 11, 166, 168
 योगशास्त्र, 6, 7, 65
 योगसूत्र, 145
 योगी के प्राण कपाल से निकलते हैं, 132

 रघुवंश, 67
 रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 27
 रवीन्द्रनाथ टैगोर, (गुरुदेव) 11, 131, 150

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, 11, 155
 रॉबर्ट क्लाइव ने अपने को तीन बार मारने का
 प्रयास किया, 139
 राम, 110, 151,
 रामतीर्थ की जलसमाधि, 139
 राय, विजय कुमार, 10, 136
 राय, सुधीर कुमार, 5, 34
 राहु, 100
 रूह का जन्म, 129
 रोग और व्याधि, 63
 रोग और व्याधि में अन्तर नहीं, 63
 रैदास (सन्त), 45

 लाडत्रे ने भी अपने को अपनी ही गोली से मार
 डाला, 139
 लिंग पहचानकर भ्रूण-हत्या के प्रयास, 38
 लुकम, 56
 लोकाचार पद्धति द्वारा अन्तिम संस्कार, 112

 वरजख का घर, 53
 वराह पुराण की रुद्रगीता, 81
 वलीउल्लाह शाह, 50
 वशिष्ठ, 110
 वाजश्रवस का पुत्र नचिकेता, 88
 वामकेश्वरीमत, 63
 वायु मृत्यु है, 7
 वार्षिक श्राद्धकर्म, 121
 वासनामय विषय, पाँच प्रकार के, 167
 विकासवादी, 11
 विकासवादी सिद्धांत, 3
 विदेह-मुक्ति, 9, 95
 विद्यानन्द, 63
 विद्यापति, 12, 169
 विद्यापति कवि, 12
 विनोबा भावे (सन्त), 13, 190
 विलियम जेम्स, 130
 विवरण, 63
 विवेकानन्द (स्वामी), 156
 विष्णु, 131

विष्णु और महेश के काल से छोटा है ब्रह्मा का काल, 3
 विष्णु का वर्ष, 92
 विष्णु पुराण, 7, 80, 112
 विष्णु पुराण की यमगीता, 81
 विष्णु-रूप, 164
 विष्णुलोक, 131
 विज्ञानभैरव, 66
 वीरशैव धर्म (लिंगायत सम्प्रदाय), 3, 4
 वीरशैव धर्म में मृत्यु का विचार, 17
 वृषोत्सर्ग श्राद्धकर्म, 119
 वेजिटेटीव लाइफ, 10
 वेद अंशतः पौरुषेय है, 83
 वेद के चार भाग, 83
 वेदांत आत्मा की अमरता को स्वीकार करता है, 111
 वेदार्थपारिजात, 64
 वेबर, मैक्स, 170
 वैतरणी, 9
 वैतरणीदान, 112
 वैदिक कर्मकाण्ड संसार-सागर की यात्रा में सहायक नहीं हो सकता, 66
 वैदिक परम्परा के अनुसार मृत्यु, 97
 वैवस्वत देव, अर्थात् धर्मराज, 7, 64, 67
 व्यासभाष्य, 145
 शतपथ ब्राह्मण, 71, 72, 117
 शनि, 100
 शमी वृक्ष, 117
 शरीर और आत्मा एक ही सिक्के के दो पहलू, 129
 शरीर को त्यागना है मृत्यु, 98
 शरीर को धारण करना है जन्म, 98
 शरीर को मरणधर्मा कहा गया, 75
 शरीर त्याग के तीन भेद, 26
 शरीर से अलग आत्मा का अस्तित्व नहीं है, 129
 शरीर से अलग किसी चैतन्य आत्मा का प्रमाण कहीं, 130
 शरीर से आत्मा का वियोग ही मृत्यु, 75
 शरीर से आत्मा का संयोग ही जन्म, 75
 शरीर से आत्मा भिन्न, 129

शव, 128
 शव-यात्रा, 113
 शवों का ममीकरण, 130
 शांति-पर्व, 127
 शारदा तिलक, 168
 शास्त्री, रामप्रवेश, 13, 187
 शाहवलीउल्लाह, 6
 शुक्राणु के प्रकार, 144
 शुद्ध जीव का पुनर्जन्म नहीं होता, 186
 शुभ और अशुभ ग्रह, 9
 शेखफरीद, 45
 शैव, 193
 श्वेताश्वतरोपनिषद्, 76
 श्मशान, 117
 षोड्स संस्कार, 111
 सकयत् (मरणासन्न), 6
 सकरात (मरणासन्न) की अवस्था, 50, 57
 सकलकीर्ति, (आचार्य) 27
 सदाशिव, 92
 सदासुखदास, 27
 सनातन और पुरातन, 12
 सनातन धर्म, 111, 116
 सनातन (हिन्दू), धर्मशास्त्र 111
 संत शांत भाव से मृत्यु का वरण करते हैं, 130
 संथारा, 26
 संथारा अथवा सल्लेखना, 4
 संवत्सरो मृत्यु, 6, 71
 संसार अनादि प्रवाह रूप, 17
 संहिता, 83
 सपिण्डीकरण, 9
 समाधिमरण, 4, 26, 27, 29
 समाधिमरण का नियम दो प्रकार से, 82
 सल्लेखना आत्महत्या नहीं है, 32
 सल्लेखना का अर्थ, 31
 सल्लेखना का काल, 31
 सल्लेखना के दो भेद, 36
 सल्लेखना के लिए, छः प्रकार के तप, 36

- सल्लेखना या मृत्यु-महोत्सव, 4, 26, 27, 28, 29
 सल्लेखनापूर्वक मरण, 4
 सहज मृत्यु, 132
 साखी ग्रन्थ, 157
 सांख्य दर्शन, 66
 सामाजिक दृष्टि से जीवित, 172
 सामाजिक मृत्यु, 13, 173, 175
 सामाजिक मृत्यु तीन प्रकार की, 173
 सामान्य मृत्यु, 96
 सामान्योत्सर्ग अथवा वस्तुदान, 119
 सावित्री, 11, 128, 155
 सार्त्र, 8, 13, 131, 178
 सिकन्दर, 151
 सिख धर्म, 3, 45
 सिख धर्म में मृत्यु, 5
 सिख धर्म में मृत्यु के पश्चात् पितरलोक की कोई व्यवस्था नहीं, 49
 सिन्हा, वशिष्ठ नारायण, 8, 93
 सिंह, राघवेन्द्र प्रताप, 13, 180
 सुकरात, 11, 131, 157, 189
 सुरह निसा, 56
 सुश्रुत, 43
 सूर्य, 100
 सूर्य, चन्द्रमा, अहोरात्र और संवत्सर को भी मृत्यु कहते हैं, 72
 सूर्य भी मृत्यु है, 7
 सूर्य सिद्धान्त ज्योतिष का आर्ष ग्रन्थ, 9, 100
 सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान-करणों में लौट जाते हैं, पाँच प्रकार के, 167
 सूक्ष्म शरीर, 167
 सूक्ष्म शरीर में पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, 7, 91
 सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का काल, 3
 सृष्टि के आरंभ में मृत्यु या अमरता नहीं, 132
 सेमाइटी धर्म, 2, 3
 स्कंद पुराण, 4, 18, 19
 स्कन्ध, पाँच प्रकार के, 21, 22
 स्थूल शरीर, 167
 स्वचालित तंत्रिका (सिम्पैथेटिक), 10, 133
 स्वर्ग का स्थान मोक्ष को दिया गया, 66
 स्वर्गलोक, 131, 160
 स्वर्गलोक का मधुर स्वरूप, 131
 स्वर्गवास, 9, 95
 स्वेच्छा वरण से भी मृत्यु स्वीकार, 5, 139
 स्पिनोजा, 129
 हदीस, 6, 50, 53, 54, 55
 हनुमान, 98
 हंसगायत्री, 66
 हम न मरे मरिहै संसारा, हमकूँ मिल्या जियावनहारा, 10, 195
 हयात अर्थात् जीवन का विलोम, 50
 ह्यूम जैसे शून्यवादी, 141
 हाइडेगर, मार्टिन, 13, 177
 हाज़ारानी का स्वयं से शिरोच्छेदन, 140
 हादिविद्या, 64
 हार्ट लंग मशीन, 10
 हिन्दू धर्मशास्त्र, 1, 2, 3
 हिब्रू, 129
 हीन, आत्मा का मृत्यु के बाद विलीन होना, 129
 हुज्जतुल्लहिलवाहिंगह, 52, 53
 हून, आत्मा का मृत्यु के बाद जीवित रहना, 129
 क्षुधा और तृषा प्राण के धर्म, 19
 त्रिपाठी, बंशीधर, 7, 83
 त्रिपाठी, रामशंकर, 4, 21
 त्रिपिण्डी श्राद्ध, 121
 ज्ञानदेव, (सन्त), 45
 ज्ञानेश्वर की जीवित समाधि, 139
 श्रम मृत्यु, 6, 72
 श्राद्धकर्म, 123
 श्रावकाचार, 27
 श्री सिद्धान्तशिखामणि, 4, 18
 श्रीमद्भगवद्गीता, 6, 8, 73, 76, 77, 83, 89, 110, 127, 148, 160, 176
 श्रीवास्तव, अजय कुमार, 11, 159
 श्रौत प्रस्थान के अन्तर्गत, एकीदश उपनिषदों की गणना, 83

प्रो. बैद्यनाथ सरस्वती चार दशकों से एक माने हुए मानव-विज्ञान-शास्त्री हैं जिन्होंने पारम्परिक विचारधारा और आधुनिक विज्ञान के सम्पर्क पर चिन्तन-मनन करके आधुनिक युग में हिन्दू विचारधारा की समीक्षा की है। हिन्दू धर्म के मिश्रित सूत्रों से एक संयोजित सूत्र को निकालने के उनके इस प्रयास से बहुत लोग परिचित हैं। उनकी रची हुई पुस्तकें — ब्राह्मणिक रिचुअल ट्रेडिंशन्स्; काशी — मिथ एण्ड रियलिटी; स्पेक्ट्रम ऑफ द सेक्रेड; द इटर्नल हिन्दुइज्म, एवं कल्चर्स एण्ड कॉस्मोस् — विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्री. रामलखन मौर्य एक समाजशास्त्री हैं जिन्होंने काशी की विधवाओं तथा हरिजनों का तथा इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र एवं यूनेस्को की ग्रामीण भारत के अध्ययन की परियोजना के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के कई गांवों का अध्ययन किया। आपने कई निबन्ध भी लिखे हैं। आप निर्मल कुमार बोस स्मारक प्रतिष्ठान, वाराणसी के मंत्री, तथा सेक्रेड साईंस रिव्यू के प्रबन्ध सम्पादक हैं।

2005, vii, 208 p.; Index; 23 cm.

ISBN 81-246-0314-6 (Hardbound)

Rs. 300

US\$ 15.00



D.K. Printworld (P) Ltd.

'Sri Kunj', F-52 Bali Nagar, Ramesh Nagar Metro Stn., NEW DELHI - 15
Phs.: (+91-11) 2545 3975, 2546 6019; Fax: (+91-11) 2546 5926
E-mail: dkprintworld@vsnl.net Web: www.dkprintworld.com

ISBN 812460314-6



9 788124 603147